हिन्दुस्तानी एकेडेमी के
दर्शन पुरस्कार के लिए

पुस्तक का नाम	भारतीय दर्शन का परिचय
पुस्तक का विषय	दर्शन (भारतीय)
लेखक का पता	डा० रामानन्द तिवारी अध्यक्ष दर्शन विभाग श्री जया कालिज भरतपुर (राजस्थान)
पुस्तक के प्रथमवार प्रकाशन की तिथि	सम्वत् २००९ विक्रमी सन् १९५२-५३ ईसवी

ारतीय दर्शन का परिचय

डा० रामानन्द तिवारी शास्त्री

एम० ए०; डी० फ़िल्० (प्रयाग)

अध्यापक, महाराजा कालिज, जयपुर ।

भारती मन्दिर, प्रयाग

प्रकाशक—
भारती मन्दिर,
प्रयाग।

प्रथम संस्करण सम्वत् २००६ वि०

मूल्य तीन रुपया आठ आना

मुद्रक—
दीक्षित प्रेस प्रयाग

पूज्यपाद गुरुवर्य

आचार्य श्री रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे

के

कर कमलों में

श्रद्धा, विनय और आदर पूर्वक

समर्पित

येषां पुण्य-पदारविन्द-रजसा मे चेतसो दर्पणः
ज्ञानालोक-लवांशु-दीप्ति-ग्रहणे नैर्मल्यमाप्तवां-
स्तेषां दिव्य-करारविन्द-युगले श्रीसद्गुरूणां मया
ज्ञानाम्बोधि-गभीर-कूल-शिशुना तुच्छं किमप्यर्प्यते,

चरणानुचरेण—
रामानन्द शास्त्रिणा

निवेदन

धर्म और दर्शन भारतीय संस्कृति और परम्परा की अनमोल निधि हैं। धर्म भारतीय जीवन का आधार और दर्शन हमारे साधना-पथ का मार्ग-दर्शक दीप है। भारतीय जीवन की सजीव परम्परा बन कर ही धर्म और दर्शन आज तक सुरक्षित रह सके हैं। धर्म का सार और दर्शन का तत्व मानव आत्मा को अनुप्राणित कर जीवन को सार्थकता प्रदान करता रहा है। आज अशान्ति और अनिश्चय, संशय और आशंका, क्षुधा और क्षोभ के वातावरण में जीवन की गति को उचित दिशा प्रदान करने के लिये हमें अपनी धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक परम्परा से अवगत होना आवश्यक है। उसमें जो सत्य है उसे ग्रहण करना है, जो विकृत है उसका विवेक करना है, जो अपूर्ण है उसे पूर्ण करना है। जीवन और संस्कृति की इस प्रगति के लिये प्राचीन का परिचय अपेक्षित है

इस लघुकाय ग्रन्थ का प्रयोजन भारतीय दार्शनिक परम्परा का सरल और सुगम, संक्षिप्त किन्तु यथासम्भव पूर्ण और क्रमिक परिचय प्रस्तुत करना है। इसमें भिन्न भिन्न भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का शुष्क विवेचन मात्र नहीं है। भारतीय विचार-धाराओं का एक नवीन विधि से वर्गीकरण करके समस्त दार्शनिक विकास की एक संश्लिष्ट, क्रमिक किन्तु विवेक-पूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। वैदिक विचार-धारा के बाद सभी विचार-परम्पराओं का उदय एक साथ भगवान बुद्ध के आविर्भाव से उत्पन्न क्रान्ति के समान युग में हुआ तथा उन सबका विकास परस्पर सहयोग और संघर्ष के क्रम से समानान्तर गति से होता रहा। अतः भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों में ऐतिहासिक दृष्टि से युग-भेद सम्भव नहीं है। इसी विश्वास के

आधार पर प्रमुख विचार धाराओं के रूप में भारतीय-चिन्तन का विभाजन किया गया है।

इस लघुकाय ग्रन्थ में प्रत्येक विचार-धारा के स्वरूप, प्रेरणा, प्रयोजन, साहित्य, परम्परा और सिद्धान्तों का स्पष्ट निरूपण करने की चेष्टा की गई है; साथ ही विभिन्न विचार-धाराओं के पारस्परिक सम्बन्ध और भेद पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। प्रत्येक धारा के अन्तर्गत दार्शनिक सम्प्रदायों का सामान्य परिचय, उनके साहित्य और परम्परा का विवरण सिद्धान्तों के निरूपण के पूर्व एक आरम्भिक प्रस्तावना म दे दिया गया है। खेद की बात है कि भारतीय परीक्षाओं के दार्शनिक पाठ्य-क्रम में दर्शन के साहित्य और परम्परा का कोई स्थान नहीं है। विचारकों, आचार्यों और ग्रन्थों का नाम तक बिना जाने तथा विचार-धाराओं, दर्शन-सम्प्रदायों, विश्वास परम्पराओं और साधना-सरणियों के इतिहास और विकास के विषय में कुछ भी परिचय प्राप्त किये बिना विद्यार्थी दर्शन की उच्चतम परीक्षायें उत्तीर्ण कर जाते हैं। सिद्धान्त-तत्व ही दर्शन का सार है, यह असन्दिग्ध है। किन्तु जीवन की प्रेरणाओं और अपेक्षाओं के अन्तर्गत ही सिद्धान्तों का उदय होता है तथा जीवन में समन्वय और साधना रूप से ही दर्शन का विकास होता है। भारतीय दर्शन के विषय में यह और भी अधिक सत्य है। एक जीवित परम रा के रूप में ही भारतीय दर्शन का विकास हुआ है और तद्रूप से ही उसका अध्ययन रुचिकर हो सकता है। केवल सिद्धान्तों का विवेचन दर्शन का शुष्क और निर्जीव अध्ययन है। विचार-धाराओं के ऐतिहासिक विकास-क्रम-निरूपण तथा साहित्य और परम्परा के परिचय के संयोग से दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन अधिक सजीव, सुग्राह्य और पूर्ण हो सकेगा, ऐसी धारणा से ही यह किया गया है। किसी दार्शनिक सम्प्रदाय का सामान्य स्वरूप क्या है, उसकी प्रेरणायें क्या रही हैं, उसके मुख्य ग्रन्थ कौन कौन हैं, तथा उन ग्रन्थों के प्रणेता कौन थे और उस सम्प्रदाय की परम्परा क्या रही है, इन सब विषयों का

परिचय शुद्ध सैद्धान्तिक अध्ययन के लिये आवश्यक न हो, किन्तु दर्शन-सम्प्रदायों की सजीव परम्परा के परिचय और ग्रहण की पूर्णता के लिये उपयोगी तथा दार्शनिक अध्ययन की शुष्कता में सुरुचि का साधक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सामान्य पाठकों तथा विद्यार्थियों के लिये समान रूप से उपयोगी हो इस उद्देश्य से इसे सुगम और सुरुचि पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु रुचि दर्शन की देहली मात्र है, उसका प्रांगण सैद्धान्तिक विवेचन ही है। अतः यह परिचय, साहित्य और परम्परा का वर्णन प्रत्येक सम्प्रदाय के सिद्धान्त-निरूपण की भूमिका मात्र है, और उसे 'प्रस्तावना' के रूप में ही दिया गया है। 'प्रस्तावना' के बाद तीन खण्डों में प्रत्येक दर्शन-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। दर्शन तत्व-निरूपण और जीवन के परमार्थ-साधन की प्रणाली है। तत्व-ज्ञान का स्वरूप ज्ञान-सिद्धान्त पर आश्रित होता है तथा परमार्थ-साधना तत्व-ज्ञान पर अवलम्बित होती है। अतः 'प्रस्तावना' के बाद पहले प्रत्येक दर्शन की 'ज्ञान-मीमांसा' में ज्ञान-विषयक सिद्धान्तों का विवेचन कर फिर 'तत्व-मीमांसा' में उसके तत्व-विषयक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। अन्त में प्रत्येक दर्शन के परमार्थ अथवा मोक्ष-विषयक विचार तथा साधना-प्रणाली का परिचय दिया गया है। परमार्थ अथवा मोक्ष के साधन-रूप से प्रत्येक दर्शन की नैतिक-चर्या का वर्णन भी किया गया है। मोक्ष अथवा परमार्थ भारतीय दर्शनों का लक्ष्य रहा है। मोक्ष की आध्यात्मिक साधना में ही दर्शन की जिज्ञासा का अन्तिम समाधान और तत्वानुसन्धान का पर्यवसान होता है।

भारतीय दर्शन का प्रथम दिग्दर्शन मुझे अपने पूज्य गुरुवर्य आचार्य श्रीयुत रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे से प्राप्त हुआ था। उनके पदारविन्द की रज से ही मेरा मनोदर्पण ज्ञानालोक के किंचित् ग्रहण के योग्य बन सका है। अतः यह 'भारतीय दर्शन का परिचय' उनके ही कर–

कमलों में समर्पित है। उनके अन्य योग्य शिष्यों की भांति ज्ञानाम्बोधि का गम्भीर अवगाहन कर रत्न-मुक्तादि की योग्य भेंट अर्पित करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। आशा है कि इस अकिंचन कूल-शिशु की यह शंख-सीप की तुच्छ भेंट भी उन्हें सहर्ष स्वीकृत होगी। राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग के अध्यक्ष आदरणीय डॉ० पी० टी० राजू के सहृदय प्रोत्साहन तथा कृपापूर्ण अनुग्रह से ही यह 'परिचय' पूर्ण और प्रकाशित हो सका है; इसके लिये मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ। इस पुस्तक के प्रकाशन के लिये राजस्थान विश्वविद्यालय के प्रकाशन-विभाग की ओर से जो आर्थिक सहायता मिली है, उसके लिये मैं उक्त विश्वविद्यालय के अधिकारियों का कृतज्ञ हूँ। पुस्तक की पाण्डुलिपि के लेखन के सौजन्य और श्रम के लिये सुहृद्वर श्री शुकदेव मुनि शर्मा मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

—रामानन्द तिवारी शास्त्री

विभाजन

विवरण

भाग १

भूमिका

(भारतीय दर्शन का स्वरूप और विकास)

भाग २

विचार और विश्वास के मूलाधार

(वैदिक साहित्य, धर्म और दर्शन)

अध्याय १

वैदिक साहित्य और परम्परा

अध्याय २
वैदिक धर्म और दर्शन

भाग ३
विचार और विश्वास में क्रान्ति
(चार्वाक मत, जैन और बौद्ध धर्म तथा दर्शन)

अध्याय १

अध्याय २
चार्वाक दर्शन

अध्याय ३
जैन धर्म और दर्शन

अध्याय ४

बौद्ध धर्म और दर्शन

भाग ४

विश्वास का समाधान

(स्मृति, पुराण, इतिहास, गीता आदि का लोकधर्म)

भाग ५

विचार का समाधान

(*न्याय और वैशेषिक दर्शन*)

अध्याय १

न्याय-वैशेषिक

अध्याय २

न्याय-दर्शन

अध्याय ३

वैशेषिक-दर्शन

भाग ६
विचार और विश्वास का समाधान
(सांख्य और योग-दर्शन)

अध्याय १
सांख्य-योग

अध्याय २
सांख्य-दर्शन

अध्याय ३
योग-दर्शन

भाग ७

विचार और विश्वास का पुनर्विधान

(पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा अथवा वेदान्त)

अध्याय १

अध्याय २

पूर्व-मीमांसा-दर्शन

अध्याय ३

उत्तर-मीमांसा अथवा वेदान्त

भाग १

भूमिका

(भारतीय दर्शन का स्वरूप और विकास)

१—भारतीय दर्शन का स्वरूप

धर्म और दर्शन भारतीय जीवन-गगन के सूर्य और चन्द्र हैं। सूर्य अपनी अनन्त शक्ति से अखिल विश्व-मण्डल के नक्षत्र-लोक को धारण करता है; धर्म भी अपने अपार आध्यात्मिक प्रभाव से हमारे लोक-जीवन को धारण करता रहा है। चन्द्रमा अपने अमृत आलोक से लोक का आह्लादन और नयन-प्रसादन करता है; दर्शन का पुण्य प्रकाश सदा हमारी जिज्ञासा का परितोष और जीवन का पथ-प्रदर्शन करता रहा है। दर्शन-कलाधर की दिव्य आलोक-रश्मियों से हमारी जीवन-यामिनी का अन्धकार दूर होता रहा है, और धर्म का दिव्य प्रभाकर अपनी सहस्रमुखी ज्योतिर्धाराओं से हमारे जीवन की प्राण-प्रेरणा बन कर हमारी लौकिक और आध्यात्मिक सत्ता का सम्पोषण करता रहा है। वस्तुतः धर्म भारतीय संस्कृति की आत्मा और दर्शन उसकी अन्तर्दृष्टि है। दर्शन की दृष्टि आत्मा के दिव्य आलोक से ही अनुप्राणित है। दर्शन के उज्ज्वल कलाधर के अमृत आलोक में धर्म के ही पुण्य प्रभाकर की ऊष्म कान्ति की प्रशान्त छाया है। धर्म का पुण्य प्रभाकर हमारे देश की अखिल आत्मा के अनुराग से अञ्चित है। दर्शन का उज्ज्वल कलाधर हमारे देश के महामनीषियों की शेमुषी के अमृत आलोक से प्रकाशित है। धर्म का भाव-दिवाकर प्रति युग के नूतन प्रभात में हमारे मानस-कमल को प्रफुल्लित करता रहा है। दर्शन की चिन्तन-कौमुदी हमारे मनः-कुमुदों को ज्ञानामोद से पूर्ण और प्रबोधित करती रही है। प्रति युग में भारतीय जनता ने धर्म के नवोदित बाल-सूर्य का अपने मानस की अमल वीचियों से अर्चन किया है। युग-युग में दर्शन की दिव्य पूर्णिमाओं के पुण्य-पर्व में ज्ञानानुरागियों का मानस-महोदधि तीव्र चेतना के ज्वार से उद्वेलित

हो उठा है। धर्म का स्वर्णिम सहस्रार्चि सूर्य हमारे मानस-मधुकर का स्वर्गिक शतदल कमल रहा है। दर्शन का दिव्य कलाधर देश के चिन्तक-चकोरों का अनिमेष आकर्षण रहा है।

भारतीय जीवन की प्रतीची के क्षितिज पर उदय हो कर धर्म ने जाति को जागरण का प्रथम सन्देश दिया। विश्व-संस्कृति की ब्रह्म-वेला में प्रबुद्ध होकर प्राचीन भारतीयों ने स्वस्ति-वाचन से धर्म के बाल-सूर्य का वन्दन और साम-गान से उसका अभिनन्दन किया। ऋषियों ने मनोहर ऋचाओं से विश्व में व्याप्त दिव्य शक्ति के रमणीय रूपों की अभ्यर्थना की। चिर-नव्यसी उषा के मधुर सौन्दर्य, अग्नि के दिव्य तेज, पर्जन्य के प्रचुर मेघासार, सोम की अमृत स्फूर्ति, इन्द्र के अखण्ड प्रताप, प्रजापति के विपुल सृष्टि-वैभव और वरुण के कठोर-उदार धर्म-शासन के रूप में दिव्य शक्ति के विविध रूप हमारी उपासना के आश्रय बने। जैन और बौद्ध धर्मों के उदय और विकास काल में नवीन जागरण तथा प्राचीन वैदिक धर्म के नूतन और लोक-सुलभ संस्करण के द्विगुण प्रवेग से उद्दीप्त धर्म का सूर्य अपने तेज और गति के शीर्ष-बिन्दु पर पहुंच गया। अवरोहण के उत्तर काल में भी धर्म के सूर्य का तेज अमन्द रहा। वैदिक विचार और विश्वास के पुनर्विधान की परिणाम-संध्या में धर्म का सूर्य एक बार फिर अपनी पूर्वच्छवि से आभासित हुआ। सूत्रकाल की संध्या-वेला में उदय होकर दर्शन का बाल-कलाधर वेगपूर्ण गति से पूर्णता का भागी हुआ। एक बार भाष्यों के पूर्णालोक से मनीषियों के ज्ञान-नयन का प्रसाद कर वह सदा अपने गति-क्रम से उनकी जिज्ञासा का परितोष और मन का अनुरञ्जन करता रहा है।

अस्तु, भारतीय जीवन के आत्मा और प्राण रूप धर्म और दर्शन दो अखण्ड कूलों की भांति देश की जीवन-धारा के निरन्तर अवलम्ब रहे हैं। धर्म हमारे विश्वास का आधार और दर्शन हमारे विचार की प्रगति रहा है। एक ने हमारी भावना को सार्थकता दी और दूसरे ने

हमारी जिज्ञासा का परितोष किया। आत्मा और प्राण के अभेद सम्बन्ध की भांति दोनों हमारे व्यवहार की सरणि का संकेत करते रहे हैं। भावना जीवन की प्रेरणा है और आस्था भी। जिज्ञासा मनुष्यत्व का लक्षण है और विचार जीवन की दिशा का निर्देश है। व्यवहार और कर्म तो जीवन का स्वरूप तथा धर्म ही है। भारतीय चिन्तन में व्यवहार दृष्टि की प्रधानता रहने के कारण भावना और विचार का एक अद्भुत समन्वय रहा है। जीवन में अभिन्न होने के कारण भारतीय संस्कृति की परम्परा में धर्म और दर्शन प्रायः समन्वित रहे हैं। इस समन्वय की भावना के कारण नीति, धर्म और दर्शन के व्यापक अर्थ में भारतीय दर्शन मुख्यतः आध्यात्मिक और व्यावहारिक रहा है। धर्म और दर्शन का समन्वय भारतीय विचार-संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता है। उस समन्वय में संस्कृति की दो सरणियों का संकर नहीं वरन् उनका समीकरण है। धार्मिक उपासना और दार्शनिक चिन्तन की विधियाँ भिन्न होते हुये भी जीवन-सम्बन्ध में उनका प्रयोजन समान है। सत्य की खोज चिन्तन का उद्देश्य है। किन्तु सत्य जीवन से निरपेक्ष तत्व मात्र नहीं है, वह जीवन की साधना का लक्ष्य भी है। सत्य के उद्घाटन में हमारी जिज्ञासा का परितोष होता है; आदर्श रूप में उसकी साधना जीवन की गति को सार्थकता प्रदान करती है। शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से सत्य की तन्मय खोज भारतीय विचारकों की विशेषता रही है, साथ ही जीवन में उस सत्य की साधना भारतीय दर्शन और संस्कृति की एक मूल निष्ठा है।

किन्तु यह सत्य-साधना तत्वानुसन्धान अथवा नैतिक चर्या मात्र नहीं, वह एक आध्यात्मिक साधना है जिसमें तार्किक जिज्ञासा और नैतिक कर्म दोनों का समाहार है। भारतीय दर्शन का आरम्भ ज्ञान के कौतूहल अथवा मन के विस्मय में नहीं हुआ। उसकी प्रेरणा जीवन तथा उसमें व्याप्त दुःख की भावना में है।'मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा-वृत्ति के समाधान के लिये इस दुःख के निदान और उपचार

की तात्विक मीमांसा भी पर्य्याप्त हुई है। तत्व-मीमांसा में तर्क का प्रसंग अनिवार्य है। किन्तु भारतीय दर्शन की समस्या व्यावहारिक होने के कारण उसका उद्देश्य विश्व और जीवन के तत्व का अनुसन्धान मात्र नहीं वरन् मुक्ति के मार्ग की खोज है। भारतीय दर्शन केवल एक विचार-प्रणाली, चिन्ता-पद्धति अथवा जीवन का दृष्टिकोण मात्र नहीं; वरन् वह जीवन का एक मार्ग और मुक्ति का पथ है। वह तत्व-निर्णय के साथ-साथ मुक्ति की साधना भी है। किन्तु वह साधना एक नैतिक चर्या मात्र नहीं, वरन् वह एक आध्यात्मिक साधना है जिसमें तर्क और कर्म दोनों का समाहार है। तार्किक-मीमांसा तत्व का उद्‌घाटन मात्र कर सकती है। जीवन में तत्व का साक्षात्कार एक आध्यात्मिक अनुभव में ही हो सकता है। आध्यात्मिक अनुभव आध्यात्मिक साधना का ही फल है, नैतिक चर्या का पर्यवसान नहीं। कर्म की कालावच्छिन्न प्रक्रिया नित्य तत्व की साधक नहीं हो सकती। जीवन का साध्य-भूत तत्व नैतिक श्रेय मात्र नहीं वरन् परम निःश्रेयस है। अतः भारतीय दर्शन की व्यवहार-मुखी वृत्ति का परिणाम एक आध्यात्मिक साधना में हुआ। तार्किक जिज्ञासा दर्शन-मन्दिर का द्वार और नैतिक चर्या उसकी देहली है; उसका मुख्य प्रांगण आध्यात्मिक साधना ही है। तर्क-मीमांसा के दिव्य-द्वार और नैतिक-आचार के पुण्य-पथ से एक नित्य-आदर्श-मुखी आध्यात्मिक साधना सभी भारतीय दर्शनों का समान प्रयोजन है। तर्क और नीति दोनों से परे एक आध्यात्मिक साधना ही भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य है। उस साधना में ही जीवन की सार्थकता और उस लक्ष्य की सिद्धि में ही जीवन की अखिल आकांक्षाओं का पूर्ण समाधान है।

भारतीय दर्शन का समस्त इतिहास उसकी इस आध्यात्मिक और व्यावहारिक वृत्ति का प्रमाण तथा धर्म और दर्शन के इस समन्वय का साक्षी है। वैदिक काल में तो धर्म और दर्शन एक रूप ही थे। वैदिक परम्परा में तत्व-चिन्तन और नैतिक आचार दोनों का पर्य्याप्त महत्व

है। यद्यपि वेदों के पूर्व-भाग में वहिर्मुख व्यवहार की प्रधानता है, आगे चलकर अध्यात्म-मुखी वृत्ति का उत्तरोत्तर विकास होता गया है। वेदों के अन्तिम-भाग-भूत उपनिषद् तो पूर्णतः आध्यात्मिक है। अस्तु, आध्यात्मिक साधना ही वैदिक विचार-परम्परा का पर्यवसान है। वैदिक साहित्य समान रूप से हमारे विचार और विश्वास का मूलाधार है। संक्रान्ति और संघर्ष के युग में विचार-मुखी वृत्ति के प्रधानता ग्रहण कर लेने पर भी उसका पर्यवसान केवल चिन्तन में नहीं हुआ। संक्रान्ति-काल के चिन्तन से प्रसूत प्रत्येक दर्शन-सम्प्रदाय का एक धार्मिक पक्ष और आध्यात्मिक उद्देश्य है। सत्य और परमार्थ के स्वरूप-निरूपण के साथ साथ उस सत्य का साक्षात्कार और उस परमार्थ की साधना भी प्रत्येक दर्शन का विशेष प्रयोजन है। वैदिक परम्परा के पुनरुत्थान के युग में तो वैदिक विचार और विश्वास का पुनर्विधान आदि की ही भाँति धर्म और दर्शन के एक समन्वित रूप में हुआ है। उपक्रम और उपसंहार की संगति को दृष्टि में रखते हुये धर्म और दर्शन का समन्वय और आध्यात्मिक आस्थाओं की व्यवहार-मुखी वृत्ति भारतीय विचार और संस्कृति की प्रधान विशेषता है।

भारतीय दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। मानव जाति की जागरण-वेला में ज्ञान सूर्य का उदय भारतीय पूर्वाचल के क्षितिज पर ही हुआ था। ऋग्वेद की ऋचायें मानव-भारती का प्रथम विलास हैं। आज हमारा जो प्राचीनतम साहित्य अवशिष्ट और उपलब्ध है उसका संकलन आज से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व हुआ था। उसके सृजन-काल के विषय में सभी अनुमान संदिग्ध और अनिश्चित हैं। इतने प्राचीन साहित्य के विकास-क्रम के विषय में सभी कल्पनायें वर्तमान विचार-गति के परिणाम पर आश्रित होने के कारण अनुपादेय हैं। अस्तु, हमारे प्राचीनतम साहित्य का स्वरूप ईसा के जन्म और ग्रीक दर्शन के उदय के लगभग दो हजार वर्ष पूर्व निश्चित हो चुका था। उससे कितनी शताब्दियों पूर्व उस साहित्य का आरम्भ तथा कितनी

शताब्दियों में उसका विकास हुआ होगा यह अनुमान करना कठिन है। इतने प्राचीन काल में, जब लेखन के कोई साधन उपलब्ध नहीं थे, इतने विशाल और महान साहित्य का सृजन और संरक्षण मनुष्य के मानसिक इतिहास में एक अद्‌भुत घटना है। आज जो साहित्य अवशिष्ट और उपलब्ध है उसके परिमाण के आधार पर कुछ कल्पना की जा सकती है कि हमारा सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य कितना अधिक रहा होगा। काल की गति से कितने ताम्रपत्र गलित हो गये तथा कितने ताड़-पत्र और भोज-पत्र जर्जरित होकर नष्ट हो गये। इस विनाश-क्रम में कितने अनमोल विचार-रत्न और कितनी महर्घ भाव-मणियाँ अन्धकार के विवर में विलीन हो गईं। इसके अतिरिक्त विदेशी शासकों की असहिष्णुता के परिणाम-स्वरूप भी उत्तर काल में न जाने कितना अनमोल साहित्य नष्ट हो गया।

किन्तु आज पाँच हजार वर्ष से अधिक काल की अनेक ऐतिहासिक विषमताओं के बाद भी जितना साहित्य उपलब्ध है वह किसी भी जाति के लिये गौरव की वस्तु हो सकती है। भारतीय साहित्य का अपार ग्रन्थ-सागर अनन्त अनमोल रत्नों का निधान है। मानस मेरु से प्रमन्थन द्वारा इसमें श्री, रम्भा, अमृत, वारुणी, हलाहल, कल्पतरु, कौस्तुभ आदि सभी उपलब्ध हो सकते हैं। सत्य-सौन्दर्य-स्वरूपा श्री मानव के विष्णु की पालन शक्ति रही है। लौकिक अभ्युदय की रमणीय-रूपवती रम्भा अपनी ललित लीलाओं से मानव के ऐश्वर्य-कामी इन्द्र का अनुरञ्जन करती रही है। ज्ञान के तत्वामृत के अमर वरदान से ही अनेक विषमताओं का हलाहल पान कर भी यह मृत्युञ्जय जाति जीवित रही है। उन्मुक्त और उदार कल्पना का कल्पतरु इसके मानस-नन्दन को आमोदित करता रहा है। भक्ति की कीर्तिमती कौस्तुभ मणि उसके भावना-विष्णु की हृदयालंकार रही है। योगिक विभूतियों और तन्त्र-सिद्धियों की ओजस्विनी वारुणी ऐश्वर्य-कामियों की साधना की स्फूर्ति रही हैं। लोक-धर्म की काम-धेनु युग-युग से

अपने अक्षय दुग्धामृत से जनता के धार्मिक जीवन का सम्पोषण करती रही है। अहिंसा और लोकसंग्रह के आदर्श का धन्वन्तरि युगों से मानव के आहत हृदय का उपचार करता आ रहा है। आध्यात्मिक साधना का ऐरावत कितनी बार स्वर्ग का सेतु बना कर मर्त्यों को अपवर्ग का अधिकार दिला चुका है। योग का तेजस्वी श्यामकर्ण कितने आत्मिक अश्वमेधों का अग्रदूत बन चुका है। तप और सेवा का उज्ज्वल कलाधर मानस के शाश्वत शिव का चूड़ालंकार रहा है। ज्ञान, कर्म, योग, भक्ति, श्रद्धा, चिन्तन और चर्या का सप्तरंग इन्द्र-धनु तत्व-साधना के करुण पावस में हमारे सिद्धि-लोक का मंगलमय बन्दनवार रहा है। निःश्रेयस-रूप परमार्थ समस्त दर्शनों के विचार पिनाकों का एक लक्ष्य रहा है। अपनी आत्मिक आराधना की पूर्णता के परिचय स्वरूप भारतीय जाति का अन्तर कम्बु-कण्ठ से अखिल लोक के दिङ्मण्डल को मन्द्र मंगल-निर्घोष से प्रतिगुंजित करता रहा है। यह अनन्त रत्नों से पूर्ण साहित्य-सागर हमारा सांस्कृतिक साम्राज्य है। यही हमारी मानसिक सम्पत्ति है; यही हमारे आत्मिक ऐश्वर्य और लौकिक वैभव का मूल आश्रय है।

प्रत्येक जाति का धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक साहित्य उसकी चेतना के विकास का दर्पण है। धार्मिक आस्थाओं, दार्शनिक अनुसंधानों और सांस्कृतिक आदर्शों के रूप में प्रत्येक जाति की समष्टि चेतना अपनी स्थिति के संरक्षण और विकास की प्रगति के परिपोषण का प्रयास करती है। उस जाति के जीवन और इतिहास के सम्यक् अवगमन के लिये उसकी चेतना की प्रगति के प्रतीक इस साहित्य का अवगाहन अपेक्षित है। हमारी जाति की यह साहित्यिक सम्पत्ति इतनी विशाल और महान है कि उसका सम्यक् समीक्षण अत्यन्त दुष्कर कार्य है। महान मर्म-पूर्ण मन्त्र-संहितायें, विविध-तत्वपूर्ण ब्राह्मण, विचित्र प्रतीकों से परिपूर्ण आरण्यक और अपूर्व रहस्यों से युक्त उपनिषद् आदि वैदिक साहित्य आकार में इतना विशाल और अर्थ

में इतना गम्भीर है कि हमारे धर्म और दर्शन, विश्वास और विचार के मूलाधारों के यथार्थ रूप को समझने के लिये राष्ट्रीय जिज्ञासा का सामूहिक प्रयास ही पर्याप्त हो सकता है। जैन और बौद्ध धर्मों की क्रान्ति-मुखी परम्पराओं का साहित्य भी वैदिक साहित्य के समान ही विशाल और गम्भीर है। वैदिक परम्परा को लोक-धर्म के रूप में सुरक्षित रखने के प्रयास का परिणाम-रूप स्मार्त-साहित्य तो आकार में वस्तुतः एक पारावार है। लगभग छः-सात लाख श्लोक संख्या की यह अद्भुत मानसिक सृष्टि विश्व-साहित्य का एक अपूर्व आश्चर्य है। संक्षिप्त होते हुये भी विविध दर्शनों का सूत्र-साहित्य परिमाण में पर्याप्त और अर्थ में अत्यन्त कूट है। उनके व्याख्या-रूप भाष्य और उपव्याख्या-रूप टीकाओं तथा उपटीकाओं की अनन्त परम्परा अन्तरिक्ष में लोकात्पर लोक के उद्घाटन के समान अनन्त आश्चर्यवती है। समस्त दर्शनों के सूत्र और भाष्यों के गम्भीर अर्थ का समीक्षण तथा व्याख्याओं की सूक्ष्म मीमांसाओं का विवेचन भाषा की उत्तरोत्तर जटिलता और विचार की बढ़ती हुई सूक्ष्मता के कारण बड़ा कठिन है। तात्पर्य यह है कि आज के भारतीय नागरिक के लिये अपनी साहित्यिक सम्पत्ति का परिमापण तथा अपनी जातीय चेतना के ऐतिहासिक विकास का समीक्षण कठिन है। किन्तु किसी भी जाति की वर्तमान चेतना एक ऐतिहासिक विकास-क्रम का परिणाम है। वह अतीत से प्रभावित और भविष्य के निर्माण की ओर अभिमुख रहती है। वर्तमान अतीत-क्रम का पर्यवसान और भावी का आरम्भ है। अतः दोनों के सम्मिलन-बिन्दु पर स्थित अनिश्चित-रूपवती वर्तमान चेतना को अपने स्वरूप निर्धारण के लिये अतीत का अवगमन आवश्यक है। अतीत के वैभव-उपादान से ही वह भविष्य की भव्य कल्पना को साकार रूप देकर आत्म-लाभ कर सकती है।

विद्वानों का कर्तव्य है कि वे अपने अध्ययन के निष्कर्षों का समन्वय कर प्रत्येक नागरिक की मानसिक जिज्ञासा का परितोष और

उसकी आध्यात्मिक आकांक्षा का समाधान कर उसके आत्म-लाभ में सहायक बनें। इस आत्म-लाभ-पूर्वक ही प्रत्येक नागरिक राष्ट्र-निर्माण के स्वप्नों को सफल बनाने में सहयोग दे सकता है। जिस प्रकार क्रान्ति-युग में वैदिक परम्परा के संरक्षण और प्रचार के लिये एक सुगम लोक साहित्य की अपेक्षा हुई थी उसी प्रकार आज की अपक्रान्ति के युग में भारत के प्रत्येक अल्प-शिक्षित नागरिक को अपने साहित्यिक उत्तराधिकार के प्रति सचेतन और सचेष्ट बनाने के लिये धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक लोक-साहित्य के निर्माण की आवश्यकता है। ऐसा लोक-साहित्य ही विद्वानों की एकाधिकार-भूत हमारी राष्ट्रीय मानसिक सम्पत्ति को लोक का वैभव बना सकता है। आर्थिक क्षेत्र से पूँजीवाद को मिटाकर साम्यवाद की स्थापना लौकिक अभ्युदय के लिये जितनी अपेक्षित है, बौद्धिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में सामान्य चेतना का संस्कार और विस्तार आध्यात्मिक विकास के लिये उतना ही आवश्यक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में एक आरम्भिक और अपूर्ण प्रयास है। एक सीमित आकार में देश की धार्मिक और दार्शनिक चेतना के विकास के दीर्घ इतिहास का संक्षिप्त वर्णन इसका अभीष्ट उद्देश्य है। हमारे साहित्य का अध्ययन अभी इतना अपूर्ण है और उसका आकार इतना विशाल है कि आज की स्थिति में ऐसा प्रयास किसी सार्थक प्रयास का अग्रदूत ही बन सकता है। प्राकृतिक और ऐतिहासिक कारणों से बहुत कुछ नष्ट हो जाने पर भी जो साहित्य आज अवशिष्ट और उपलब्ध है वह भी इतना अपार और अनवगाह्य है कि उन सबका व्यवस्थित वर्गीकरण करके आदि से आज तक के धार्मिक और दार्शनिक चेतना के विकास का परिचय प्रस्तुत करना कठिन है। अधिकांश साहित्य की प्राचीनता और प्राचीन भारतीय चिन्तकों की निरीहता तथा उत्तर-कालीन साहित्य की जटिलता उसकी एक उपादेय रूपरेखा अंकित करने में मुख्य बाधायें हैं। प्राचीन होने के कारण अधिकांश

ग्रन्थों के रचना-काल और प्रणेताओं का निर्धारण करना कठिन है। अपनी स्वाभाविक निरीहता और नम्रता के कारण प्राचीन चिन्तकों ने अपने विचारों और रचनाओं के साथ अनेक नाम और अपने जीवन-वृत्त को संयुक्त नहीं किया है। अनन्त और नित्य तत्व की खोज और साधना में लीन रहने के कारण उसकी तुलना में अगण्य अपने व्यक्तिगत जीवन-वृत्त तथा अन्य ऐतिहासिक उपाधियों के उल्लेख को तत्व-निदर्शन के साथ किंचित् भी महत्व नहीं दिया है। धार्मिक और दार्शनिक परम्परा में जो नाम प्रसिद्ध हैं वे ऐतिहासिक होते हुये भी हमारे अध्ययन के उद्देश्य से अनिश्चित और अपूर्ण हैं। वे नाम विविध साहित्य परम्पराओं के प्रवर्तकों अथवा प्रतिष्ठापकों के सूचक मात्र हैं। वेदमंत्रों के रचयिता जिन ऋषियों के नाम 'संहिताओं' में मिलते हैं उनके अतिरिक्त कितने कण्ठों का स्वर उन 'मंत्रों' में समाहित है यह निश्चय करना कठिन है। प्राचीन जैन और बौद्ध साहित्य के विषय में भी यही कहा जा सकता है। विशाल जैन 'सूत्रों' तथा बौद्ध 'पिटकों' में कितनी आत्माओं की चेतना मुखरित है आज इसके निश्चय का हमारे पास कोई साधन नहीं है। पुराण, महाभारत आदि विशाल स्मृति-साहित्य के विषय में यह पहेली और जटिल हो गई। पांच-छः लाख श्लोक-परिमाण के पुराणों और महाभारत के प्रणेता महर्षि वेद व्यास माने जाते हैं; किन्तु इतने विशाल और विविध साहित्य को ऐतिहासिक और मानवीय दृष्टि से एक काल और एक व्यक्ति की रचना प्रमाणित करना कठिन है। महर्षि वेद-व्यास लोक-साहित्य की परम्परा के प्रवर्तक रहे हों यह सम्भव है, किन्तु इस विशाल लोक-साहित्य के महासागर की सृष्टि सगर के साठ हजार पुत्रों की भांति कितने हजार साधकों ने अपनी आत्मा के अर्ध्य से की होगी यह निश्चित करना कठिन है। इसके अतिरिक्त जिन नामों का उल्लेख साहित्य में मिलता है तथा जिनकी प्रसिद्धि परम्पराओं में है उनके विषय में नाम के अतिरिक्त और कुछ भी ज्ञात नहीं। विक्रम संवत् के

लगभग आरम्भ होने वाले सूत्र-काल के विचार-वरों तक के विषय में नाम के अतिरिक्त कुछ ज्ञात नहीं। दर्शन-सूत्रों के प्रणेता कपिल, कणाद, पतञ्जलि, बादरायण आदि के विषय में आज कुछ भी परिचय उपलब्ध नहीं। जिन उत्तरकालीन चिन्तकों का समय और ग्रंथ-कर्तृत्व निश्चित भी है उनके जीवन-वृत्त के परिचय का एकान्त अभाव है। कुछ महान विचारकों के जो जीवन-वृत्त उपलब्ध होते हैं वे काल्पनिक काव्य हैं, ऐतिहासिक जीवनियाँ नहीं। उनमें जो कुछ अल्प ऐतिहासिक तत्व है उसे कल्पना से पृथक कर निश्चित करना कठिन है। श्री शंकराचार्य जैसे महान और अर्वाचीन विचारक तथा धर्म-संस्थापक के जीवन-वृत्त के विषय में भी आज जो उपलब्ध है वह परम्परा तथा किंवदन्ती मात्र है। शंकराचार्य के परवर्ती वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, विज्ञान भिक्षु आदि इतने अर्वाचीन विचारकों के विषय में भी अधिक परिचय प्राप्त नहीं।

अस्तु, ग्रन्थकारों के नाम, देश और काल का निश्चय कठिन होने के कारण ग्रन्थों का क्रम-निरूपण कठिन है। अधिकांश नाम केवल परम्परा के प्रतीक तथा नाम मात्र हैं। अधिकांश तिथियां अनिश्चित और काल्पनिक हैं। भारतीय चिन्तकों की निरीहता और सत्य-लीनता के कारण साहित्य का ऐतिहासिक क्रम-निरूपण तथा विचार-धाराओं का व्यवस्थित वर्गीकरण कठिन है। भारतीय दर्शन के इतिहास के नाम से अब तक जो कुछ लिखा गया है उसमें ऐतिहासिक तत्व बहुत कम है। विविध दार्शनिक सम्प्रदायों के विचार-सिद्धान्तों से अवगत कराने के प्रयास जितने हुए हैं उतनी दार्शनिक परम्पराओं और विचार-धाराओं के वर्गीकरण और विकास-निरूपण की चेष्टा नहीं की गई। किन्तु धार्मिक तत्वों और दार्शनिक सिद्धान्तों के स्वरूप से अवगत होना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक उन तत्वों और सिद्धान्तों के क्रमिक विकास का अनुशीलन भी है। विकास-क्रम के परिज्ञान के बिना उनके स्वरूप का परिचय भी एक प्रकार से अपूर्ण

ही है। अपेक्षित ऐतिहासिक आधारों के अभाव में विचारों के विकास का निरूपण कठिन है; फिर भी आवश्यक होने के कारण इस ओर प्रयास अपेक्षित है। इस प्रयास की चेष्टा ही प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय धर्म और दर्शन की परम्पराओं के स्वरूप और विकास की ओर ध्यान दिया गया है। सम्पूर्णता और क्रमिकता भारतीय दर्शन के इस संक्षिप्त परिचय की विशेषतायें हैं। भारतीय दर्शन के विषय में लिखित कई विशालकाय ग्रन्थों में भी धार्मिक और दार्शनिक साहित्य के जो अंग उपेक्षित रहे हैं उन्हें भी इस अल्प-काय ग्रन्थ में स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। सम्पूर्ण साहित्य का एक नवीन प्रणाली से वर्गीकरण करके प्रत्येक वर्ग के मुख्य अंगों पर प्रकाश डालना लेखक का अभीष्ट रहा है। उदाहरण के लिए वैदिक साहित्य में ऋग्वेद और उपनिषदों के अतिरिक्त शेष अंगों का सामान्य परिचय भी भारतीय दर्शन के प्रचलित ग्रन्थों से प्राप्त करना कठिन है। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के विचार और विषय का परिचय तथा ऋग्वेद से उनका विवेक वैदिक साहित्य के पूर्ण परिचय के लिए अत्यन्त अपेक्षित है, यद्यपि इन तीन वेदों का ऋग्वेद के समान महत्व नहीं है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों का दार्शनिक मूल्य अधिक नहीं है, किन्तु वैदिक साहित्य के विकास-क्रम को स्पष्ट करने के लिए उनका सामान्य परिचय देना आवश्यक है। पुराण, इतिहास आदि स्मृति साहित्य के विषय में तो प्रचलित ग्रन्थों की अपूर्णता एक प्रकार का दार्शनिक अन्याय-सा प्रतीत होती है। मुख्य विचार-धाराओं का सुन्दर समन्वय होने के कारण निःसन्देह भगवद्‌गीता स्मृति-साहित्य की चूड़ामणि है। किन्तु इस कारण शेष स्मृति-साहित्य उपेक्षणीय नहीं। लगभग छः-सात लाख श्लोक-परिमाण का यह विशाल स्मृति-साहित्य एक अनर्गल और अनर्थक सृष्टि नहीं है। इस स्मृति-साहित्य का विकास एक निश्चित और सार्थक

विचार-धारा का द्योतक है। यह विचार-धारा क्रान्ति-युग में वैदिक परम्परा के लोक-धर्म के रूप में संरक्षण के प्रयास की एक महत्त्वपूर्ण दिशा में भारतीय धर्म की प्रगति की सूचक है। उसके परिज्ञान के लिए उस समस्त विचार-धारा का पूर्ण परिचय आवश्यक है। दार्शनिक महत्व अधिक न होते हुए भी इस वर्ग के अन्तर्गत समस्त विशाल साहित्य का एक संक्षिप्त और सामान्य परिचय आज के नागरिक को उसके मानसिक उत्तराधिकार से अवगत कराने के लिए अपेक्षित ही नहीं आवश्यक है। लोक-धर्म के स्वरूप का वास्तविक परिचय हमें पुराण, महाभारत आदि स्मृति-साहित्य से ही मिल सकता है। अन्य धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायों के साहित्य और सिद्धांतों का परिचय प्रचलित दर्शन-ग्रन्थों में पर्याप्त मिलता है। किन्तु प्रायः इन सम्प्रदायों का पृथक् पृथक् अध्यायों में स्वतन्त्र रूप से निरूपण ही अधिकांश लेखकों का अभीष्ट रहा है। जैन और बौद्ध धर्मों तथा सांख्य, योग, न्याय, वेदान्त आदि दार्शनिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध और क्रम की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। ये विविध धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदाय किस विचार-धारा के प्रतीक हैं और उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है तथा उनके स्वरूपों में सिद्धांतों के अतिरिक्त अन्य क्या भेद है, इन विशेष तत्वों को इस लघुकाय ग्रन्थ में कुछ महत्व देने का प्रयास किया गया है। साहित्य के परिचय और सिद्धांतों के निरूपण को जितना आवश्यक समझा गया है उतना ही आवश्यक विविध विचार-धाराओं के वर्गीकरण और उनके विकास-क्रम के निरूपण को भी समझा गया है।

अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन का एक नवीन प्रणाली से परिचय देने की दुस्साध्य आकांक्षा प्रस्तुत ग्रंथ की मूल प्रेरणा रही है। इस प्रेरणा के पीछे एक निश्चित विश्वास का आधार भी है। वह विश्वास यह है कि विचार-धाराओं के वर्गीकरण और विकास-निरूपण की प्रणाली से ही सम्पूर्ण भारतीय धर्म और

दर्शन का परिचय कराया जा सकता है। प्राय: सभी दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय भगवान् बुद्ध के निर्वाण के बाद एक ही साथ हुआ है। सांख्य, योग, न्याय, वेदान्त, माध्यमिक, योगाचार आदि दार्शनिक सम्प्रदायों के उदय और विकास में कोई ऐतिहासिक पारम्पर्य नहीं हैं। प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय एक विशेष विचार-धारा का प्रतीक तथा उसके अन्तर्गत है। अतः विभिन्न दर्शनों का स्वतन्त्र और पृथक् निरूपण भारतीय 'दर्शन' का 'इतिहास' नहीं वरन् भारतीय 'दर्शनों' का 'परिचय' है। विभिन्न दर्शनों पर लिखित पृथक्-पृथक् अध्याय स्वतन्त्र और पृथक् ग्रन्थ हैं; एक ही सामान्य ग्रंथ के क्रमागत प्रकरण नहीं। इन ग्रन्थों के अंगभूत अध्यायों में समवाय सम्बन्ध नहीं वरन् संयोग सम्बन्ध मात्र है। इनसे निर्मित भारतीय दर्शन के परिचय-ग्रंथ पृथक्-पृथक् अध्ययनों के संकलन मात्र हैं, समवेत रचनाएं नहीं। ये रचनाएं विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायों के परिचय के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं, किन्तु सम्पूर्ण भारतीय दर्शन के सामान्य परिचय के लिए अनुपादेय है। उनमें सभी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का स्वतन्त्र और प्रामाणिक निरूपण मिल सकेगा, किन्तु उन सम्प्रदायों के परस्पर सम्बन्ध और समस्त भारतीय धर्म और दर्शन की परम्पराओं के विकास-क्रम का सामान्य परिचय मिलना कठिन होगा।

२—भारतीय दर्शन का विकास

समस्त भारतीय धर्म और दर्शन की परम्पराओं तथा विचार-धाराओं के उदय और विकास-क्रम का संश्लिष्ट और सामान्य परिचय ही इस अल्पकाय ग्रन्थ का प्रमुख प्रयोजन है। सम्पूर्ण भारतीय धर्म और दर्शन के विकास-क्रम का सामान्य परिचय विचार-धाराओं के वर्गीकरण के रूप में ही दिया जा सकता है। इस प्रणाली से भारतीय धर्म और दर्शन का समीक्षण ही प्रस्तुत ग्रन्थ की नवीनता और विशेषता है। सभी दार्शनिक सम्प्रदाय क्रान्ति और उसकी प्रतिक्रिया से समकाल में प्रसूत हुए हैं। पारस्परिक संघर्ष से उनका विकास भी समानान्तर होता रहा है। अतः काल-क्रमानुसार भारतीय चिन्तन का युग-विभाग न सम्भव है और न समीचीन। वे विविध सम्प्रदाय क्रान्ति और उसकी प्रतिक्रिया की विविध विचार-धाराओं और विश्वास-सरणियों के प्रतीक हैं। अतः उन विचार-धाराओं तथा विश्वास-सरणियों के व्यवस्थित वर्गी-करण और विकास-निरूपण द्वारा ही समस्त भारतीय धर्म और दर्शन का सामान्य परिचय प्राप्त हो सकता है। इस वर्गीकरण का संक्षिप्त निर्देश इस प्रकार है। भूमिका के भाग—१ को छोड़ कर शेष ६ भागों में जिन विचार-धाराओं का विश्लेषण और निरूपण किया गया है वे निम्नलिखित हैं—

भाग—२ : विचार और विश्वास के मूलाधार
(वैदिक धर्म और दर्शन)

भाग—३ : विचार और विश्वास में क्रान्ति
(चार्वाकमत, जैन और बौद्ध धर्म तथा दर्शन)

भाग—४ : विश्वास का समाधान
(स्मृति, पुराण, महाभारत, गीता और रामायण)

भाग—५ : विचार का समाधान
(न्याय और वैशेषिक दर्शन)

भाग—६ : विचार और विश्वास का समाधान
(सांख्य और योग दर्शन)

भाग—७ : विचार और विश्वास का पुनर्विधान
(पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त)

भारतीय जीवन और संस्कृति का मूल 'वेद' में है। वैदिक धर्म और दर्शन भारतीय विचार और विश्वास का मूलाधार है। बुद्ध के आविर्भाव के बाद वैदिक धर्म और संस्कृति के विरुद्ध एक महान् क्रान्ति हुई। जैन और बौद्ध धर्म तथा दर्शन की परम्परायें उस क्रान्ति की प्रमुख प्रतीक हैं। इस क्रान्ति से सजग और सचेष्ट होकर वैदिक परम्परा के कर्णधारों ने वैदिक धर्म और दर्शन के प्रति जनता के विश्वास और विचार की आस्था रखने के लिये उसके संस्कार और विकास की चेष्टायें कीं। लोक-विश्वास के समाधान के प्रयास-रूप जिस लोक-धर्म की सृष्टि हुई उसका आधार स्मृति, पुराण, महाभारत, गीता आदि स्मार्त साहित्य है। साथ ही क्रान्ति के पूर्व वैदिक वातावरण में ही अस्फुट रूप से आरम्भ होती हुई विविध चिन्ता-धाराओं को क्रान्ति के सजग वातावरण में वेग-पूर्वक विविध वैदिक दर्शनों के रूप में विकसित होने का अवसर मिला। न्याय-वैशेषिक दर्शन वैदिक परम्परा के अन्तर्गत विचार के समाधान के मुख्य प्रतीक हैं। सांख्य-योग-दर्शन में विचार और विश्वास के समन्वित समाधान का प्रयास अंकित है। वे तत्व-दर्शन होने के साथ साथ अध्यात्म-साधना से भी संवलित हैं। किन्तु वैदिक परम्परा का वास्तविक पुनरुद्धार वैदिक मीमांसाओं के विकास द्वारा ही हो सका। वैदिक परम्परा के पुनः संस्थापन के प्रयास का पूर्ण पर्यवसान वेदान्त-दर्शन की प्रतिष्ठा में ही हुआ। उक्त विधि से जिन विचार-धाराओं और विश्वास-सरणियों के रूप में भारतीय धर्म और दर्शन का वर्गीकरण किया गया है उनकी प्रेरक शक्तियों, और अभीष्ट उद्देश्यों का संकेत, उनके साहित्य, स्वरूप और सिद्धान्तों का सामान्य परिचय प्रत्येक भाग की 'प्रस्तावना' में दे दिया गया है।

प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत विविध अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके परस्पर विवेक का समावेश भी प्रस्तावना में किया गया है। उसके पश्चात् प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत अंगों के साहित्य और सिद्धान्तों का विशेष परिचय और विश्लेषण दिया गया है। वर्गों के सामान्य परिचय में उनकी विचार और साहित्य परम्परा के क्रम-विकास पर यथासम्भव प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है।

भाग—२

विचार और विश्वास के मूलाधार

(वैदिक धर्म और दर्शन)

भारतीय धर्म और दर्शन की विचार-धाराओं और विश्वास-सरणियों के प्रस्तुत ग्रन्थगत वर्गीकरण के विषय में कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। भारतीय जीवन और चिन्तन में धर्म और दर्शन का समन्वय इस वर्गीकरण का मुख्य आधार है। धर्म हमारे विश्वास की आस्था और दर्शन हमारे विचार की प्रगति है। भारतीय साहित्य और संस्कृति के आधार-भूत वेदों में धर्म और दर्शन का सुन्दर समन्वय है। चतुरंग वैदिक साहित्य हमारे विचार और विश्वास का मूलाधार है। भारतीय जीवन और संस्कृति पर सर्वत्र वेद का स्पष्ट प्रभाव है। ग्रन्थ के भाग २ में धर्म और दर्शन के समन्वय को भारतीय संस्कृति और विचार का मूल मन्त्र मान कर भारतीय **'विचार और विश्वास के मूलाधार'** रूप से वैदिक साहित्य और उसकी परम्परा का वर्णन तथा विविध वैदिक साहित्य के धार्मिक और दार्शनिक तत्वों का निरूपण किया गया है। उपनिषद् साहित्य और दर्शन को वैदिक परम्परा से पृथक् न करके उसी के अन्तर्गत सम्मिलित कर उपनिषदों में पर्यवसित होने वाली वैदिक परम्परा के एक समवेत समीक्षण का प्रयास किया गया है।

भाग–३

विचार और विश्वास में क्रान्ति

(चार्वाकमत, जैन और बौद्ध धर्म तथा दर्शन)

भगवान बुद्ध का आविर्भाव भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहास में एक क्रान्तिकारी घटना है। यद्यपि जैन धर्म का आरम्भ कई शताब्दियों पूर्व हो चुका था किन्तु उसका विशेष विकास बौद्ध धर्म के उदय के समकाल में ही हुआ। बुद्ध और महावीर दोनों ने एक ही साथ एक धार्मिक और दार्शनिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। उनकी यह क्रान्ति वैदिक विचार और व्यवहार परम्परा के विरोध की सूचक तथा एक नवीन दिशा की निर्देशक थी। वैदिक परम्परा अपने पूर्ण परिणाम को प्राप्त हो चुकी थी। उपनिषदों में उसकी पराकाष्ठा अंकित है। वैदिक परम्परा के अन्तर्गत ही वैदिक कर्म-काण्ड और भौतिकवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी उसका आभास आरण्यकों में मिलने लगता है और उपनिषदों में उसका रूप अधिक स्पष्ट हो जाता है। किन्तु यह प्रतिक्रिया वैदिक परम्परा के अन्तर्गत ही होने के कारण मुक्त क्रान्ति के रूप में नहीं थी। जैन और बौद्ध धर्मों का उदय वैदिक परम्परा के विरुद्ध स्पष्ट क्रान्ति का सूचक था। विक्रम के पूर्व छठी शताब्दी में आरम्भ हो कर यह क्रान्ति एक पृथक् धारा के रूप में निरन्तर चलती रही। वैदिक परम्परा के बाद यह क्रान्तिधारा एक स्पष्ट और स्वतन्त्र धारा है। अतः भाग—३ में '**विचार और विश्वास में क्रान्ति**' की इस धारा का निरूपण किया गया है। जैन और बौद्ध धर्म तथा दर्शन ही इसमें प्रधान हैं, किन्तु वैदिक परम्परा का खण्डन होने के कारण चार्वाक मत को भी इसी धारा के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है। यद्यपि जैन और बौद्ध सम्प्रदायों का आरम्भ नैतिक और धार्मिक आन्दोलनों के रूप में हुआ था किन्तु आगे चलकर विचार-संघर्ष के

कारण उनमें तर्क और दर्शन का भी विकास हुआ। अतः नैतिक जीवन और धार्मिक विश्वास में क्रान्ति उत्पन्न करने के साथ साथ उन्होंने विचार जगत में भी क्रान्ति उत्पन्न की। अस्तु इन सम्प्रदायों के धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक पक्षों का निरूपण एकत्र ही किया गया है। एक ही क्रान्ति धारा के अन्तर्गत होने के कारण माध्यमिक योगाचार आदि बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का विवेचन भी प्रसंगानुकूल जान कर इसी भाग के अन्तर्गत कर दिया गया है। इस प्रकार वैदिक परम्परा के विरुद्ध 'विचार और विश्वास में क्रान्ति' उत्पन्न करने वाली सम्पूर्ण चिन्ताधारा भाग—३ का विषय है।

भाग—४

विश्वास का समाधान

(स्मृति, पुराण, महाभारत, गीता आदि)

प्रत्येक क्रान्ति एक प्रतिक्रिया के रूप में होती है। जिस परम्परा के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में क्रान्ति का आरम्भ होता है वह परम्परा भी सचेत होकर अपने संरक्षण का प्रयास करती है। यदि यह पूर्ववर्ती परम्परा प्रबल और प्ररूढ़ होती है तो वह किसी न किसी रूप में क्रान्ति-धारा के समानान्तर ही चलती रहती है। वैदिक परम्परा हमारे देश की मौलिक और प्राचीनतम परम्परा है। इस क्रान्ति के पूर्व १००० से अधिक वर्ष के दीर्घ काल में प्रवर्धित होकर वह हमारी जाति के संस्कारों में रूढ़ हो चुकी थी। किसी भी क्रान्ति से उसका आमूल उच्छेद हो सकना असम्भव था। उपनिषदों में पर्यवसित और परिष्कृत होकर वह परम्परा अधिक संतोषजनक बन कर अपने स्थायित्व की भूमिका बना चुकी थी। अस्तु समय की अपेक्षाओं से सचेत होकर वैदिक परम्परा के परिपोषकों ने उसके संवर्धन और संरक्षण में अपनी शक्ति का सदुपयोग किया। जैन और बौद्ध धर्म एक प्रकार के नैतिक और धार्मिक जन-आन्दोलन के रूप में आरम्भ हुए थे। वेद से

बहिष्कृत स्त्रियों और शूद्रों के अतिरिक्त उच्च जातियों पर भी इनकी उदारता और आध्यात्मिकता का प्रभाव हुआ। वेग से ये लोक-धर्म के रूप में प्रसरित होने लगे। वैदिक धर्म से वहिर्मुख होकर देश के जन-समूह जैन और बौद्ध धर्मों के अनुयायी बनने लगे। ऐसी परिस्थिति में वैदिक परम्परा को लोक-धर्म का स्वरूप देकर जनता का उद्धार करना वैदिक परम्परा के पोषकों का पहला कर्त्तव्य था। वैदिक धर्म को एक लोकानुकूल रूप देकर जनता को उससे विमुख होने से रोकने के लिए वैदिक परम्परा के लौकिक संस्करण की अपेक्षा थी। 'स्मृति' के नाम से प्रसिद्ध सम्पूर्ण साहित्य इसी प्रयोजन का साधक है। स्मार्त धर्म वैदिक धर्म पर ही आश्रित है, क्योंकि स्मृति ग्रन्थ वैदिक परम्परा के ही संस्मरण हैं। स्मृति धर्म वैदिक धर्म का ही लौकिक संस्करण है। वेद से वहिष्कृत स्त्रियों और शूद्रों को सम्मिलित कर सर्वजन का समान अधिकार होने के कारण स्मृति धर्म वेद से विमुख होती हुई जनता को आकृष्ट कर सका। स्मृति-धर्म की उदारता और बहुरूपता वैदिक धर्म की अनुदारता तथा एक-रसता का परिशोध है। वैदिक धर्म के संरक्षण का श्रेय दर्शनों से भी अधिक स्मृति साहित्य को है। स्मृति साहित्य ने ही वैदिक धर्म परम्परा में लोक की अभिरुचि को आकृष्ट और आबद्ध कर जनता के 'विश्वास का समाधान' किया और वैदिक धर्म की लोक-धर्म के रूप में रक्षा की। क्रान्तिकाल में **'विश्वास के समाधान'** रूप इस विशाल स्मृति साहित्य के स्वरूप और तत्व का निरूपण ही भाग—४ का विषय है। स्मृति साहित्य के अन्तर्गत मनु, याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियाँ, १८ पुराण, रामायण, महाभारत और गीता है। इस समस्त साहित्य की श्लोक संख्या ६ लाख से अधिक है। यह साहित्य आकार में जितना विशाल से, अर्थ में उतना गम्भीर न होते हुए भी इसका धार्मिक और दार्शनिक महत्त्व कम नहीं है। भारतीय दर्शन के प्रचलित ग्रन्थों में इसकी उपेक्षा खेद और विस्मय की बात है। भारतीय लोक-धर्म के

स्वरूप का परिचय प्राप्त करने के लिए स्मृति साहित्य का अध्ययन अपेक्षित है। वैदिक धर्म और दर्शन के सुन्दर समन्वय का प्रतीक होने के कारण गीता समस्त स्मृति साहित्य की चूड़ामणि है। किन्तु इस लौकिक धर्म की धारा के विविध रूपों का विशेष और विस्तृत परिचय प्राप्त करने के लिए महाभारत और पुराणों के महासागर का अवगाहन करना आवश्यक है।

भाग—५

विचार का समाधान

(*न्याय-वैशेषिक दर्शन*)

स्मृति साहित्य के रूप में वैदिक परम्परा का एक लोकानुकूल संस्करण उपस्थित कर वैदिक धर्म के सम्पोषकों ने लोक-धर्म के रूप में उसकी रक्षा की; वेद से वहिर्मुख होती हुई सामान्य जनता को अपनी पुरातन परम्परा के प्रति आकृष्ट किया। किन्तु क्रान्ति और प्रति-क्रान्ति की इन दोनों धाराओं के समानान्तर विकास के कारण उनका संघर्ष अनिवार्य हो गया। मानसिक संघर्ष में बुद्धि-बल का उपयोग स्वाभाविक है। जैन और बौद्ध धर्मों के प्रचारक अपने धर्मों में शिक्षित और सम्भ्रान्त जनों के विश्वास को दृढ़ वनाने के लिए तथा विपक्षी धर्म का खण्डन करने के लिए तर्क और बुद्धि का उपयोग करने लगे। तर्क का उत्तर तर्क ही है। अस्तु जैन और बौद्ध तथा वैदिक परम्पराओं में न्याय और दर्शन का विकास आरम्भ हो गया। जैन न्याय तथा बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाओं का वर्णन भाग ३ में सामान्य क्रान्ति-धारा के अन्तर्गत किया जा चुका है। वैदिक परम्परा में इस बौद्धिक संघर्ष के परिणाम स्वरूप षड्दर्शनों का आविर्भाव हुआ। इन छः प्रसिद्ध वैदिक दर्शनों में न्याय और वैशेषिक विशेषतः तर्क और बुद्धि प्रधान हैं। न्याय दर्शन का मुख्य विषय न्याय ही है। वैशेषिक उसका समान-तन्त्र है और न्याय का एक प्रकार से

पूरक है। न्याय का तर्क और वैशेषिकों का तत्व-दर्शन एक समन्वित रूप में उस क्रान्ति के युग में 'विचार के समाधान' का प्रयास है। न्याय-वैशेषिक में भावना पक्ष का आरम्भ में अभाव होने के कारण यह मुख्यतः 'विचार का समाधान' ही है। आगे चल कर ईश्वर की कल्पना के समाविष्ट हो जाने पर भी न्याय-वैशेषिक में सामान्यतः विचार-पक्ष की ही प्रधानता है। **'विचार के समाधान'** के रूप में न्याय-वैशेषिक का निरूपण भाग ५ का विषय है।

भाग—६

विचार और विश्वास का समाधान

(सांख्य योग-दर्शन)

भारतीय परम्परा में धर्म और दर्शन का समन्वय आरम्भ से ही रहा है। वेद हमारे धार्मिक विश्वास के आधार और दार्शनिक विचार के मूल स्रोत हैं। जैन और बौद्ध धर्मों की क्रान्ति भी हमारे विचार-जगत और विश्वास-लोक दोनों में हलचल उत्पन्न करने वाली क्रान्ति थी। पुराण, महाभारत आदि स्मृति-साहित्य के रूप में वैदिक धर्म का एक लोकानुकूल संस्करण उपस्थित कर वैदिक परम्परा के प्रतिष्ठापकों ने लोक के 'विश्वास का समाधान' किया। मनीषी मुनियों ने न्याय और वैशेषिक का विकास कर 'विचार का समाधान' करने का भी प्रयत्न किया। स्मृति साहित्य ने लोक की धार्मिक रुचि का रञ्जन किया; न्याय-वैशेषिक ने मनीषियों की दार्शनिक जिज्ञासा का समाधान किया। किन्तु वैदिक परम्परा के वास्तविक रूप की रक्षा के लिए धर्म और दर्शन के एक समन्वित रूप में उसका संस्करण अपेक्षित था। इस समन्वय का स्पष्ट रूप तो पूर्व और उत्तर मीमांसाओं के आविर्भाव में ही दृष्टिगोचर होता है। किन्तु इसकी एक महत्वपूर्ण पीठिका हमें सांख्य-योग के रूप में मिलती है। सांख्य न तो स्मृति धर्म की भांति कोरे लोक-विश्वास का विषय है और न वह न्याय-वैशेषिक की

भांति केवल बौद्धिक विवेचन है। वह एक अध्यात्म-दर्शन है। योग उसका व्यावहारिक पूरक है। अस्तु सांख्ययोग में हमें प्राचीन विचार और विश्वास के समन्वित समाधान का पूर्व-रूप मिलता है। सांख्य-योग के रूप में **'विचार और विश्वास के समाधान'** के इस पूर्व प्रयास का निरूपण भाग ६ का विषय है। सांख्य-योग न्याय-वैशेषिक की भांति केवल बौद्धिक दर्शन नहीं है। तर्क और न्याय पर आश्रित होने पर भी उसके तत्त्व हमारी आस्था का अवलम्बन रहे हैं। सांख्य के निरीश्वर तथा योग में ईश्वर के गौण होने के कारण सांख्य-योग यद्यपि स्पष्टतः धर्म का रूप ग्रहण न कर सका, तो भी उसका आध्यात्मिक रूप भारतीय धर्मों को सदा प्रभावित करता रहा है। प्रकृति, पुरुष, त्रिगुण, सर्ग, आदि की सांख्य कल्पनाएं और योग की साधन प्रक्रियाएं सभी मुख्य सम्प्रदायों में स्वीकृत तथा अन्तर्भूत हुई हैं।

सांख्य अत्यन्त प्राचीन मत है। योग की क्रियाओं का संकेत भी उपनिषदों में मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से कदाचित् सांख्य-योग के रूप में प्राचीन 'विचार और विश्वास का समाधान' स्मृति साहित्य के 'विश्वास-समाधान' और न्याय-वैशेषिक के 'विचार-समाधान' से पूर्ववर्ती प्रयास है। यह सम्भव है कि वैदिक परम्परा में धर्म और दर्शन का समन्वय होने के कारण विचार और विश्वास के समन्वित समाधान के रूप में ही वैदिक परम्परा के संरक्षण का प्रयास पहले आरम्भ हुआ हो। किन्तु क्रान्ति-काल की अव्यवस्था के कारण इस समन्वित प्रयास के स्वरूप और सफलता तत्काल में स्पष्ट लक्षित न हो सके हों यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। महाभारत और पुराणों में सांख्य-योग के उल्लेख से उनकी पूर्ववर्तिता प्रमाणित होती है। वेदान्त सूत्र में भी सांख्य-योग का खण्डन है। किन्तु लोक जीवन में विश्वास का अधिक महत्व होने के कारण लोक-धर्म के रूप में वैदिक परम्परा के संरक्षण का प्रयास स्मार्त साहित्य की विशाल सृष्टि कर

प्राथमिकता के महत्व का भागी हुआ। मनीषियों को अधिक प्रभावित करने के कारण न्याय-वैशेषिक की परम्परा भी बौद्धिक समाज में प्रतिष्ठित हुई। सांख्य-योग न स्पष्टतः बौद्धिक था और न पूर्णतः लौकिक, यद्यपि उसमें दोनों के तत्वों का पर्याप्त समन्वय था। अतः वह न लोक के विश्वास का भाजन बन सका और न मनीषियों के विचार का विषय। सांख्य की परम्परा के विच्छिन्न और विलुप्त होने का कदाचित यही कारण ह। सांख्य की निरीश्वरवादिता भी उसके लोक-प्रिय होने में बाधक रही हो, यह सम्भव है। योग के ईश्वर की कल्पना अधूरी रहने के कारण सांख्य-योग का समन्वित सम्प्रदाय भी अधिक प्रचलित न हो सका। सांख्य के उपयोगी तत्व तथा योग की साधना-विधियाँ अनेक दर्शनों में अन्तर्भूत करली गईं। व्यावहारिक उपयोग के कारण योग का महत्व सदा मान्य रहा है। अस्तु स्मृति-धर्म के 'विश्वास-समाधान' और न्याय वैशेषिक दर्शन के 'विचार-समाधान' के पश्चात ही सांख्य योग के रूप में 'विचार और विश्वास के समन्वित समाधान' का स्वरूप स्पष्ट हो सका। किन्तु जहां सांख्य-योग में विचार और विश्वास के तत्वों का समन्वय है वहाँ उन तत्वों की अपूर्णता और अपर्याप्ति के कारण यह प्रयास अधूरा ही रहा। उपयोगी होने के कारण अन्य सम्प्रदायों ने इन तत्वों का अन्तर्भाव कर लिया, किन्तु सांख्य-योग वैदिक परम्परा के संरक्षण की सीमा और उसके प्रतिष्ठापन का पर्यवसान न बन सका। जैन और बौद्ध धर्मों के उदय से उत्पन्न क्रान्ति के विरुद्ध वैदिक परम्परा के रक्षण के क्रमिक प्रयास का वास्तविक पर्यवसान पूर्व और उत्तर मीमांसाओं के आविर्भाव में हुआ।

भाग—७

विचार और विश्वास का पुनर्विधान

(पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा अथवा वेदान्त)

पूर्व और उत्तर मीमांसाएँ वास्तविक अर्थ में वैदिक सम्प्रदाय हैं। उनमें स्पष्ट रूप से वेद के पूर्व और उत्तर-भाग-भूत ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के धर्म और दर्शन की व्यवस्थित मीमांसा की गई है। यद्यपि न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य-योग के सम्प्रदाय भी वैदिक माने जाते हैं किन्तु वैदिक साहित्य में उनका आधार अल्प ही है। किन्तु समस्त भारतीय परम्परा का उनकी वेद-मूलकता का विश्वास निर्मूल भी नहीं हो सकता। भारतवर्ष एक विशाल देश है; वैदिक साहित्य बड़ा विशाल है और उसके विचार-तत्त्व विविध हैं। क्रान्ति के अव्यवस्थित काल में इन विविध बिचार-तत्त्वों के आधार पर इस विशाल देश में अनेक विभिन्न दृष्टि-कोणों से विचार और विश्वास के समाधान का प्रयास स्वाभाविक था। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, इन्हीं विविध तत्वों के अधार पर प्राचीन परम्परा के संरक्षण और विकास तथा विचार और विश्वास के समाधान के प्रयास हैं। यद्यपि उपनिषदों में जिस प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में वैदिक चिन्तन का पर्यवसान हुआ है उस सिद्धान्त से इन सम्प्रदायों के परिस्फुट रूप का सिद्धान्त-तत्त्व भिन्न है (सांख्य योग का द्वैत और न्याय-वैशेषिक का अनेकत्व-वाद उपनिषदों के अद्वैत से नितान्त भिन्न है), फिर भी इन सिद्धान्तों का आधार और पूर्वाभास वैदिक चिन्तन में उपलब्ध होता है। दृष्टि-भेद के कारण एक भिन्न रूप से उन आधारों का संवर्द्धन एक स्वतन्त्र-चेता जाति के लिए स्वाभाविक था। उपनिषद्-काल वैदिक धर्म के अवसान किन्तु वैदिक दर्शन के आरम्भ का काल था। निर्माण-काल में विचार-तत्त्व और दर्शन-सिद्धान्त स्पष्ट नहीं हो पाते। उपनिषदों में विचार-तत्त्वों

की विविधता इसे प्रमाणित करती है और उपनिषदों के आधार पर उत्तर काल में अनेक सम्प्रदायों का संस्थापन भी इसका समर्थन करता है। निर्माण-काल के इस अस्पष्ट दार्शनिक वातावरण और क्रान्ति-काल की अव्यवस्थित परिस्थिति में इस विशाल देश के भिन्न भिन्न भागों में विभिन्न विचारकों का विभिन्न रूप में प्राचीन परम्परा का प्रतिष्ठापन स्वाभाविक था। अस्पष्ट और अनिश्चित दार्शनिक तत्त्वों के आधार पर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रवर्तन चिन्तन के विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया है। यही वैदिक दर्शनों के रूप में स्वीकृत षड्दर्शनों के सिद्धान्त-विरोध का समाधान है।

अस्तु, समान परम्परा के अन्तर्गत विविध तत्त्वों के आधार पर लोक-धर्म का साधक स्मार्त-साहित्य जनता के विश्वास का समाधान करने में सफल हुआ। तर्क और बुद्धि प्रधान न्याय-वैशेषिक दर्शन मनीषियों के विचार का समाधान कर सका। सांख्य-योग के आध्यात्मिक और व्यावहारिक दर्शन में विचार और विश्वास के समाधान का पूर्व रूप स्फुटित हुआ। किन्तु वैदिक परम्परा के पुनः संस्थापन की प्रक्रिया का पूर्ण पर्यवसान पूर्व और उत्तर मीमांसाओं के उदय में हुआ। पूर्व और उत्तर मीमांसायें वास्तविक अर्थ में वैदिक सम्प्रदाय हैं। उनका आधार पूर्णतः वैदिक है। पूर्व मीमांसा वेदों के पूर्व-भाग-भूत ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड-धर्म का व्यवस्थापन है। उत्तर-मीमांसा वेदों के उत्तर-भाग-भूत उपनिषदों के अध्यात्म-दर्शन का निरूपण है। यद्यपि इन दो मीमांसाओं में वैदिक धर्म और दर्शन की ही दो भिन्न रूपों में व्याख्या की गई है, किन्तु दोनों में ही समान रूप से धर्म और दर्शन का समन्वय है। पूर्व-मीमांसा का कर्म-काण्ड एक तत्व-दर्शन पर आश्रित है तथा एक न्याय प्रक्रिया से पोषित है। कर्म-काण्ड के धर्म का भी एक दार्शनिक आधार है। उत्तर-मीमांसा स्पष्ट रूप से दार्शनिक है। उत्तर-मीमांसा अथवा वेदान्त बौद्ध धर्म का प्रमुख प्रतिरोधी होने के कारण तीव्रतम न्याय का आविष्कर्ता हुआ। विचार

की प्रचुरता होने पर भी वेदान्त में अनुभव की ही प्रधानता है। वेदान्त का अध्यात्म-धर्म भारतीय विश्वास का उत्कृष्टतम आधार है। इस प्रकार दोनों मीमांसाएं वैदिक 'विचार और विश्वास के पुनर्विधान' प्रक्रिया के परिणाम की प्रतीक हैं। जिस प्रकार वैदिक परम्परा का पर्यवसान उपनिषदों में हुआ उसी प्रकार इस पुनर्विधान की प्रक्रिया का पर्यवसान उपनिषदों पर आश्रित वेदान्त में हुआ। यद्यपि इन मीमांसाओं की परम्परा का आरम्भ सामान्य सूत्र-काल में हुआ था, किन्तु इनका प्रमुख उत्थान विक्रम की छठी शताब्दी के बाद कुमारिल और शंकराचार्य के आविर्भाव के साथ हुआ। कुमारिल और शंकराचार्य ने उसी पूर्वोत्तर-क्रम में दोनों मीमांसाओं का पुनरुत्थान कर वैदिक धर्म का प्रतिष्ठापन किया शंकराचार्य के परवर्ती विशिष्टाद्वैत आदि मतों में धर्म और दर्शन का समन्वय अधिक अनुकूल रूप में होने के कारण वे मत प्रियतर-लोक-धर्मों के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

अस्तु, इस विश्वास के आधार पर कि भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध में युग-भेद सम्भव नहीं है तथा विचार धाराओं के रूप में ही भारतीय चिन्तन का विभाजन सम्भव और समीचीन है, प्रस्तुत ग्रन्थ में उक्त विचार-धाराओं के रूप में भारतीय दर्शन के विकास और सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। काल-दृष्टि से भारतीय दर्शन के इतिहास में दो ही युग स्पष्ट हैं—एक वैदिक युग और दूसरा क्रान्ति तथा उसकी प्रतिक्रिया का युग। बुद्ध के जन्म के साथ एक का अन्त और दूसरे का आरम्भ होता है। वैदिक युग के बाद की सभी विचार-धारायें समकालिक हैं और उनका विकास समानान्तर हुआ है। जैन और बौद्ध धर्म; पुराण, महाभारत, गीता आदि का स्मार्त-धर्म; सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त, माध्यमिक-योगाचार आदि सभी विचार-परम्परायें बुद्ध और ईसा के जन्म के बीच के क्रान्ति-युग की किन्हीं शताब्दियों में उदय होकर समानान्तर रूप से आज तक विकसित होती रही हैं। उनमें कोई ऐसा

पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है जिसके आधार पर भारतीय दर्शनों का ऐतिहासिक काल-विभाजन किया जा सके। अतः विचारधाराओं के रूप में ही भारतीय चिन्तन का निरूपण अधिक युक्त तथा उपयोगी है। विविध विचार-धाराओं के स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा भेद के ग्रहण-पूर्वक ही सम्पूर्ण भारतीय दर्शन के समग्र और संश्लिष्ट रूप का अवगम सम्भव है।

इस लघुकाय ग्रन्थ में प्रत्येक विचार-धारा के स्वरूप, प्रेरणा, प्रयोजन और सिद्धान्तों का स्पष्ट निरूपण करने की चेष्टा की गई है; साथ ही विभिन्न विचार-धाराओं के पारस्परिक सम्बन्ध और भेद पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। प्रत्येक धारा के अन्तर्गत दार्शनिक सम्प्रदायों का सामान्य परिचय, उनके साहित्य का निर्देश और परम्परा का वर्णन सिद्धान्तों के निरूपण के पूर्व एक आरम्भिक 'प्रस्तावना' में दे दिया गया है। साहित्य और परम्परा के संयोग से दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण अधिक सजीव, सुग्राह्य और पूर्ण हो सकेगा ऐसी धारणा से यह किया गया है। केवल सिद्धान्तों का विवेचन दर्शन का शुष्क और निर्जीव अध्ययन है। किसी दार्शनिक सम्प्रदाय का सामान्य स्वरूप क्या है, उसकी प्रेरणायें क्या रही हैं, उसके मुख्य ग्रन्थ कौन-कौन हैं, तथा उन ग्रन्थों के प्रेरणा कौन थे और उस सम्प्रदाय की परम्परा क्या रही है, इन सब विषयों का परिचय दर्शन के सैद्धान्तिक अवगम के लिए आवश्यक न हो, किन्तु दार्शनिक सम्प्रदायों की सजीव परम्परा के परिचय और ग्रहण की पूर्णता के लिए उपयोगी तथा दार्शनिक अध्ययन की शुष्कता में सुरुचि का साधक है।

किन्तु यह परिचय, साहित्य और परम्परा का वर्णन प्रत्येक दर्शन सम्प्रदाय के सिद्धान्त निरूपण की भूमिका मात्र है। 'प्रस्तावना के बाद तीन खण्डों में प्रत्येक दर्शन-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। दर्शन तत्व-निरूपण और जीवन के

परमार्थ-साधन की प्रणाली है। तत्व-ज्ञान का स्वरूप ज्ञान-सिद्धान्त पर आश्रित होता है तथा परमार्थ-कल्पना तत्व-ज्ञान पर अवलम्बित होती है। अतः 'प्रस्तावना' के बाद पहले प्रत्येक दर्शन की 'ज्ञान-मीमांसा' में ज्ञान-विषयक सिद्धान्तों का विवेचन कर, फिर 'तत्व-मीमांसा' में उसके तत्व-विषयक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। अन्त में प्रत्येक दर्शन के परमार्थ अथवा मोक्ष-विषयक विचार तथा साधना-प्रणाली का परिचय दिया गया है। परमार्थ अथवा मोक्ष के साधन रूप से प्रत्येक दर्शन की नैतिक-चर्या का वर्णन भी किया गया है। मोक्ष अथवा परमार्थ भारतीय दर्शनों का चरम लक्ष्य रहा है। मोक्ष की आध्यात्मिक साधना में ही दर्शन की जिज्ञासा का अन्तिम समाधान और तत्वानुसन्धान का पर्यवसान होता है।

भाग २

विचार और विश्वास के मूलाधार

(वैदिक साहित्य, धर्म और दर्शन)

अध्याय १

वैदिक साहित्य और परम्परा

१—वेदों का स्वरूप और महत्व :—

भारतीय दर्शन का आरम्भ आज से चार हजार वर्ष से भी अधिक पूर्व प्राचीन आर्यावर्त के निवासियों के जीवन और चिन्तन में हुआ था। भारतवर्ष प्रकृति-सुन्दरी का लीलास्थल है। प्राचीन युग में जब वैज्ञानिक सभ्यता के विकास ने प्रकृति के सौन्दर्य को विकृत नहीं किया था तब यहाँ की प्रकृति आज से कहीं अधिक सुन्दर थी। प्राचीन भारत के निवासी सक्रिय और आनन्दमय जीवन के अभ्यासी थे। उनका स्वभाव सरल और कल्पना-शील था; उनकी भावना श्रद्धा और विश्वासमयी थी। उनका जीवन प्रकृति के उपहारों के प्राचुर्य के कारण शान्ति और समृद्धि का जीवन था। एक रमणीय और विस्मयपूर्ण विश्व में जन्म लेकर वे एक सहज आनन्द में विभोर थे। उस शान्ति और समृद्धि, आनन्द और विस्मय के वातावरण में भारतीय दर्शन का आरम्भ हुआ। प्रकृति के इस आवास में प्रकृति-काव्य के रूप में दर्शन का प्रारम्भ स्वाभाविक था। प्रकृति के वैभवों से सम्पन्न जगत की समृद्धि के आनन्द तथा कल्पना-शील मन के उल्लास से पूर्ण प्राचीन भारतवासी प्रकृति की प्रशस्ति के गीत गाते थे। ये गीत हमारे देश में जीवन और जगत् विषयक चिन्तन के प्राचीनतम प्रतीक हैं। इन गीतों को 'मन्त्र' कहते हैं; जिन ग्रन्थों में इन गीतों अथवा मन्त्रों का संग्रह है वे 'वेद' कहलाते हैं।

वेद हमारे विश्वास और विचार के, अतएव हमारे जीवन और संस्कृति के, मूलाधार हैं। सम्पूर्ण परवर्ती जीवन-प्रगति और विचार-परम्परा वेदों से प्रभावित है। अधिकांश उत्तर-कालीन दर्शन सम्प्र-

दायों का उद्गम आधार और प्रेरणा वेदों में ही है। इन दर्शनों के प्रवर्त्तक तथा प्रचारक आचार्यों ने अपने सम्प्रदायों को वेद-सम्मत सिद्ध करने का प्रयास किया है। वे दर्शन-सम्प्रदाय भी जिनका उदय वैदिक विचार परम्परा के विरुद्ध प्रतिक्रिया रूप में हुआ था वैदिक प्रभाव से अछूते नहीं हैं। प्रेरणा के अतिरिक्त उनके अनेक विचार-तत्त्वों का मूल वेदों में मिलेगा। वर्तमान भारतवासियों की सामाजिक प्रथाओं और संस्कृति का स्वरूप वेदों पर ही आश्रित है। प्रत्येक सामाजिक संस्कार, सांस्कृतिक समारोह और धार्मिक कृत्य के अवसर पर वेद-मन्त्रों का गायन होता है।

२—वेदों के चार भाग :—

किन्तु इन वेदों से किसी एक ग्रन्थ विशेष से अभिप्राय नहीं है। कुरान अथवा बाइबिल की भाँति वेद कोई 'एक पुस्तक' नहीं है; और न केवल गीत अथवा मन्त्र वेदों के एक मात्र विषय हैं। वेद का अभिधार्थ 'ज्ञान' अथवा 'अनुभव' है। पारिभाषिक अर्थ में वेदों से अभिप्राय एक 'सम्पूर्ण साहित्यिक परम्परा' से है जिसका प्रागैतिहासिक युग में अनेक शताब्दियों की मौखिक परम्परा के क्रम से सृजन हुआ और जो आदि काल से ही 'दिव्य श्रुति' तथा 'परम पवित्र ज्ञान' मानी जाती है। यह साहित्य केवल उन गीतों अथवा मन्त्रों से ही निर्मित नहीं हुआ है जिन्हें प्राचीन भारतवासी प्रकृति की प्रशस्ति में गाते थे। काव्य तथा संगीत किसी जाति की भावना और साहित्य का एक अंश ही हो सकता है। जब काव्य-भावना धार्मिक विश्वास और धर्मचर्या के रूप में रूढ़ हो गई तो काव्य-गीत प्रकृति की प्रशस्तियों के स्थान पर देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित प्राकृतिक शक्तियों की उपासना के मन्त्रों में परिणत हो गये। कवि लोग पुरोहित हो गए और उन्होंने देवताओं के स्वरूप और उनकी उपासना के महत्व के विषय में विवाद आरम्भ कर एक प्रकार के 'देव-शास्त्र' का सूत्रपात

किया। ये विवाद पुरोहितों के व्यापार थे, कवियों की भावनाएँ नहीं; अतः उनका गद्यमय होना स्वाभाविक था। किन्तु धर्म और देवोपासना के विषय में विवाद और विवेचन आरम्भ होने पर देव-शास्त्र मात्र में उसका पर्यवसान नहीं हो सकता। देवता विषयक विवाद की विचार-परम्परा प्रायः हमें दार्शनिक समस्याओं तक ले आती है। पुरोहित दार्शनिक बन जाते हैं और एक अतर्कित देव-शास्त्र गम्भीर तथा अन्वेषण-शील दर्शन में परिणत हो जाता है। वैदिक साहित्य का विकास उक्त क्रम के सभी पर्वों में से हुआ है। इस प्रकार वेदों से अभिप्रेत सम्पूर्ण साहित्य-परम्परा के अन्तर्गत कवियों, पुरोहितों और दार्शनिकों द्वारा रचित ग्रन्थों की एक दीर्घ परम्परा है। इस ग्रन्थ परम्परा में काव्य-गीत अथवा मन्त्र, पुरोहितों की देव-स्तुतियाँ, देव-शास्त्रीय विवाद-विमर्श तथा दार्शनिक जिज्ञासाएँ आदि विविध प्रकार की कृतियाँ सम्मिलित हैं। इस सम्पूर्ण सामग्री के विविध रूपों में बहुत अन्तर है। इसके अनेक रूपों की रचना भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न व्यक्तियों के द्वारा हुई होगी। फिर भी इस सम्पूर्ण साहित्य को एक समष्टि की दृष्टि से देखना होगा। समष्टि रूप से ही यह साहित्य परम्परा भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति का आधार मानी जाती है। अध्ययन और अवगम की सुविधा के लिए इस सम्पूर्ण साहित्य परम्परा को चार भिन्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थ हैं। ये वर्ग इस प्रकार हैं :—

१—**संहिता** अर्थात् मन्त्र, प्रार्थना, तन्त्र, विधि-वाक्य आदि के संग्रह-ग्रंथ।

२—**ब्राह्मण** अर्थात् यज्ञ, देवोपासना तथा उपासना के रहस्य-विषयक विवाद-युक्त कर्म-काण्ड ग्रंथ।

३—**आरण्यक** अर्थात् प्रतीकात्मक यज्ञों के ध्यान-विषयक रहस्य-विवेचन से युक्त आरण्यक (वनोपयोगी) ग्रन्थ।

४—उपनिषद् अर्थात् जीवन, जगत, आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर आदि की समस्याओं के विषय में ऋषिओं के चिन्तनों से पूर्ण दार्शनिक-ग्रंथ।

किन्तु वैदिक साहित्य-परम्परा का यह विभाजन व्यावहारिक विभाजन मात्र है। प्राय: एक वर्ग के ग्रन्थ के अन्तर्गत ऐसे अंश मिलेंगे जो इस विभाजन के अनुकूल दूसरे वर्ग के अन्तर्गत होने चाहिए। कई ब्राह्मणों का एक भाग आरण्यक भी है; कई आरण्यकों का ही अन्तिम अंश उपनिषद् कहलाता है। विषय-वस्तु के इस क्रम-संकर का कारण कोई विचार-भ्रान्ति नहीं है, किन्तु इससे वैदिक साहित्य की परम्परा के नैरन्तर्य और उसके विकास की एक-सूत्रता का संकेत मिलता है।

३—वेद की संहिताएँ :—

संहिता का अभिधार्थ 'संग्रह' अथवा 'संकलन' है। पारिभाषिक अर्थ में उन मन्त्रों, स्तोत्रों, तन्त्रों, याज्ञिक कर्म-विधियों आदि के संग्रह को 'संहिता' कहते हैं जिनकी रचना वैदिक कवियों और पुरोहितों ने भारतीय चिन्तन के आदि काल में की थी। इन ग्रन्थों के 'संहिता' नाम से यह संकेत मिलता है कि वर्तमान रूप में संग्रहण अथवा संकलन के पूर्व भी इनमें संग्रहीत मन्त्रों आदि का अस्तित्व था। उस प्राचीन युग में जिसकी भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्यत्र कोई रचना उपलब्ध नहीं होती, लेखन अथवा अंकन के साधनों का आविष्कार नहीं हुआ था। इन मन्त्रों और स्तोत्रों की रचना किसी प्रयोजन अथवा पूर्व-विधान के अनुकूल नहीं हुई थी। उत्तर-काल के लोक-गीतों की भांति एक भावुक और विश्वास-शील जाति की आत्मा के सहजोद्गार के रूप में ही इनका सृजन हुआ था। यह कल्पना करना कठिन है कि वर्तमान व्यवस्थित रूप में संग्रहीत होने के पूर्व कितनी शताब्दियों तक ये मन्त्र और स्तोत्र लोक-जीवन का अंग बन कर जीवित रहे। यह संग्रहीत संहिता-रूप भी ईसा के दो हज़ार वर्ष पूर्व

पूर्ण हो चुका था। उस समय तक भी लिखने के साधनों का आविष्कार नहीं हुआ था। इतने प्राचीन और इतने विशाल साहित्य का पाठ और स्वर की दृष्टि से इतने विशुद्ध और अविकृत रूप में शताब्दियों तक केवल मौखिक परम्परा के रूप में संरक्षण एक महान् साहित्यिक आश्चर्य है। किसी काल में एक बड़ी संख्या में ऐसी संहिताएँ वर्तमान रहीं होंगी किन्तु संरक्षण की कठिनाइयों के कारण बहुत सी लुप्त हो गईं। इस समय वेदों की केवल चार संहितायें उपलब्ध होती हैं। वे इस प्रकार हैं :

(१) **ऋग्वेद-संहिता** अर्थात् मन्त्रों (ऋच्) का संग्रह।

(२) **यजुर्वेद-संहिता** अर्थात् याज्ञिक-विधियों (यजुस्) का संग्रह।

(३) **सामवेद-संहिता** अर्थात् स्वर-गीतियों (सामन्) का संग्रह।

(४) **अथर्ववेद-संहिता** अर्थात् तन्त्रों (अथर्वन्) का संग्रह।

(१) ऋग्वेद संहिता

वेदों की उक्त चार संहिताओं में से प्रथम और अन्तिम अर्थात् ऋग्वेद और अथर्व वेद शेष दो संहिताओं की अपेक्षा प्राचीन हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद तथा अथर्ववेद मौलिक और साहित्यिक संहिताऐं हैं। यजुर्वेद और सामवेद की संहिताएँ मौलिक नहीं हैं। उनके अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद से ही लिए गये हैं। उनका उद्देश्य साहित्यिक नहीं वरन् कर्म-काण्ड है। इन संहिताओं में ऋग्वेद सबसे अधिक प्राचीन तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। भारतीय साहित्य और धर्म का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में मिलता है। कदाचित् यह भारतवर्ष का ही नहीं विश्व का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है। ऋग्वेद की मौलिकता और प्राचीनता का सबसे स्पष्ट प्रमाण यह है कि उसमें किसी पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव लक्षित नहीं होता। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का सम्पूर्ण परवर्ती साहित्य और जीवन ऋग्वेद की पूर्ववर्तिता को स्वीकृत करता है और उससे प्रभावित है। ऋग्वेद

के पूर्व यदि किसी साहित्य की सत्ता की कल्पना की जा सकती है तो वह साहित्य केवल उन गीतों के रूप में था जिनका इस संहिता में संग्रह है और जो इस संग्रहण के पूर्व लोक-जीवन और लोक-भावना के सहजोद्गार के रूप में वर्तमान थे। ऋग्वेद हमारे प्राचीन ऋषियों के उन अनुभवों का भाण्डार है जो उन्हें मानव-जीवन के प्रभात में प्राप्त हुए थे। ये अनुभव सुन्दर गीतों में व्यक्त हैं। इन गीतों को 'मन्त्र' कहते हैं। अनेक मन्त्रों के समूह को 'सूक्त' कहते हैं। ऋग्वेद में ऐसे १०२८ सूक्त हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या लगभग १०,००० है। सम्पूर्ण ऋग्वेद दस भागों में विभाजित है जिन्हें 'मण्डल' कहते हैं। मौलिक रूप में इनमें से अधिकांश सूक्तों का यज्ञ, उपासना तथा कर्म काण्ड से कोई सम्बन्ध न था। वे स्वतन्त्र रूप से रचे हुये काव्य-गीत हैं जिनमें प्राचीन काव्य का स्वस्थ और सुन्दर स्वरूप सुरक्षित है। भारतीय धर्म और संस्कृति को समझने के लिए ये मन्त्र अमूल्य हैं। काव्य और कला की दृष्टि से भी ये विश्व-साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। प्राचीन भारतवासी बड़े भावुक और कल्पना शील व्यक्ति थे। एक उदार और सम्पन्न प्रकृति के शाश्वत सौन्दर्य-मय वातावरण में उनका जीवन उल्लसित आनन्द का एक मधुर गीत था। प्रकृति की प्रमुख शक्तियों की देवता रूप में कल्पना कर उनकी प्रशस्ति और उपासना में ये गीत उन्होंने रचे थे। उनके ये प्रकृति-गीत उदात्त-काव्य और गंभीर दर्शन के सुन्दर उदाहरण हैं। आधुनिक पद्य-निर्माण के अर्थ में तो इन्हें काव्य नहीं कहा जा सकता और न आधुनिक बौद्धिक तथा व्यवस्थित चिन्तन के अर्थ में इन्हें दर्शन कहा जा सकता है। किन्तु एक उदार प्रकृति के वैभव और सौन्दर्य से प्रेरित आत्मा के सहजोद्गार के अर्थ में ये सुन्दरतम काव्य हैं तथा विश्व के आश्चर्यों और जीवन के रहस्यों से प्रभावित एक प्राचीन जाति के जीवन और दर्शन को समझने के हार्दिक प्रयत्न

के अर्थ में ये गंभीरतम दर्शन हैं। इन्द्र और वरुण के सूक्त सुन्दर और गौरवमय काव्य के उदाहरण हैं। सूर्य, पर्जन्य, मरुत और उषा के सूक्त गीति काव्य के रत्न हैं तथा कला की कमनीयता और कल्पना की कोमलता के लिए सराहनीय है।

ये काव्य-गीत ऋग्वेद के मौलिक और मुख्य उपादान हैं; किन्तु इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में ऐसे भी बहुत से सूक्त हैं जिनकी रचना कर्मकाण्ड के ही उद्देश्य से हुई थी और जो ऋग्वेद का कर्म-काण्ड-संहिताओं (यजुर्वेद और सामवेद) और ब्राह्मण ग्रन्थों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। कुछ जादू, टोना, इन्द्रजाल, अभिचार आदि के मन्त्रों की ऋग्वेद में उपस्थिति इस बात की प्रमाण है कि अथर्ववेद, जिसमें इस प्रकार के मन्त्रों को बहुलता है, पूर्णतः ऋग्वेद की उत्तर कालीन रचना नहीं है। ऋग्वेद में विशेषतः उसके दशम मण्डल में कुछ दार्शनिक सूक्त भी पाये जाते हैं जिसमें विश्व की एकता की कल्पना का पूर्वाभास मिलता है और जिसमें उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन का आरम्भिक सूत्र मिलता है। कुछ संवाद-सूक्तों तथा आख्यान-सूक्तों को उत्तर कालीन इतिहास तथा पुराण काव्यों का बीज कहा जा सकता है। इस प्रकार प्रकृति की उपासना के मधुर काव्यमय सूक्तों का संग्रह होने के साथ साथ ऋग्वेद परवर्ती साहित्य के विविध रूपों का मूल स्रोत भी है।

(२-३) यजुर्वेद और सामवेद

यजुर्वेद और सामवेद में ऋग्वेद की प्रकृति-उपासना यज्ञ और कर्म-काण्ड का रूप ग्रहण कर लेती है। यहाँ हम काव्य के क्षेत्र से निकल कर कर्म के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। प्रकृति के प्रति स्वाभाविक आकर्षण विस्मय और भीति का स्थान यज्ञ और कर्म की एक सायास विधि ले लेती है। आन्तरिक प्रेरणा के स्थान पर यज्ञ और कर्म की सूक्ष्म और कठिन प्रक्रियाएं मिलती हैं। यजुर्वेद

और सामवेद का दृष्टिकोण और प्रयोजन ऋग्वेद से भिन्न है। ऋग्वेद मुख्यतः एक साहित्यिक सृष्टि है। उसके सूक्त मूलतः कवियों के सहजोद्गार हैं और उनमें प्रकृति के सौन्दर्य और आश्चर्यों से प्रेरित आत्मा के संगीत की ध्वनि है; यद्यपि उनमें से अधिकांश का प्रयोग यज्ञ-कर्म के प्रसंग में सम्भव है और वस्तुतः हुआ है। ऋग्वेद-संहिता के रूप में इन सूक्तों का संग्रहण भी एक साहित्यिक घटना थी। काव्य की दृष्टि से ही इन सूक्तों की रचना हुई और साहित्य की दृष्टि से इनका संग्रह हुआ। किन्तु यजुर्वेद और सामवेद की संहिताओं का संकलन साहित्यिक उद्देश्य से नहीं वरन् कर्म-काण्ड के प्रयोजन से हुआ था। इन दोनो संहिताओं में मन्त्रों का संग्रह व्यावहारिक प्रयोजन के कारण उसी क्रम में किया गया है जिस क्रम में उन मन्त्रों का प्रयोग यज्ञ, कर्म आदि में होता है। ये दोनों ही संहिताएँ कवियों की नहीं पुरोहितों की कृतियाँ हैं। वस्तुतः ये यज्ञ कराने वालों अध्वर्युओं तथा उद्गाताओं के उपयोग के लिए निर्मित स्तोत्र-ग्रन्थ तथा संगीत-ग्रन्थ हैं। विविध यज्ञादि कर्मों की प्रक्रिया-विधि उनका मुख्य विषय है। ऋग्वेद की भांति ये संहिताएं पूर्णतः मौलिक नहीं है। ऋग्वेद की पूर्व-वर्तिता इनमें स्वीकृत है और इनमें के अधिकांश मन्त्र भी ऋग्वेद से लिए गये हैं, यद्यपि स्वर और क्रम की एक नूतन विधि के अनुरूप उनकी व्यवस्था की गई है।

(२) यजुर्वेद

यजुर्वेद में मन्त्रों और स्तोत्रों के अतिरिक्त कुछ गद्यमय कर्म-विधियाँ हैं जिनके अनुसार यज्ञ-प्रक्रिया का संचालन होता था। मन्त्रों और स्तोत्रों के साथ साथ यज्ञ-प्रक्रिया में इन कर्म-विधियों का उच्चारण होता था। यजुर्वेद में मन्त्रों, स्तोत्रों और कर्म-विधियों का संकलन ठीक उसी क्रम में किया गया है जिस क्रम में यज्ञ-प्रक्रिया के प्रसंग में इनकी अपेक्षा होती है। इनके अतिरिक्त यजुर्वेद में कुछ

धार्मिक तथा देवता-विषयक पहेलियाँ हैं जिन्हें 'ब्रह्मोद्य' कहा जाता है और जो ब्राह्मणों के याज्ञिक रहस्यवाद तथा उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन से उसका सम्बन्ध स्थापित करती हैं।

(३) सामवेद

जिस प्रकार यजुर्वेद अध्वर्युओं का स्तोत्र-ग्रन्थ है उसी प्रकार सामवेद उद्गाता का संगीत-ग्रन्थ है, जो अध्वर्यु का यज्ञ में सहायक होता था। सामवेद भारतीय संगीत का मूल स्रोत है और उसमें साम-गीतियों का संग्रह है। इसका विशेष प्रयोजन यज्ञ के अवसर पर गाये जाने वाले मन्त्रों की संगीत-प्रक्रिया से है। वेद मन्त्रों के उच्चारण में स्वर आदि का ध्यान अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा दोषापात से फल-नाश की आशंका रहती है। साम-गीतों की ध्वनियों का संकेत हाथों और अंगुलियों की मुद्राओं के द्वारा किया जाता है। संगीत और स्वर सामवेद का मुख्य विषय है। अतः काव्य रचना का उसमें अधिक महत्व नहीं। इसके १८१० मन्त्रों में केवल ६५ मन्त्रों को छोड़ कर शेष सब मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं। इन ७५ मन्त्रों में भी सब पूर्णतया मौलिक नहीं है।

(४) अथर्व वेद

अथर्ववेद संहिता में उन मन्त्रों का संग्रह है जिन्हें काव्य-गीत अथवा उपासना के 'मन्त्र' न कह कर जादू, टौना इन्द्रजाल आदि के 'तन्त्र' कहना अधिक उपयुक्त होगा। 'अथर्वन्' शब्द का अर्थ 'इन्द्रजाल-मन्त्र' ही है। इन्द्रजाल संसार के आदि-वासियों की प्राचीन कला है और प्राचीन धर्मों के साथ प्रायः उसका सम्मिश्रण पाया जाता है। किसी अति-प्राकृतिक शक्ति में विश्वास धर्म और इन्द्रजाल दोनों का ही सामान्य आधार है; अन्तर केवल इतना ही है कि धर्म में वह शक्ति मानवीय आत्मा और जीवन के विकास की प्रेरणा बनती है तथा इन्द्रजाल में वह दोनों की अधोगति का

कारण बनती है। अथर्ववेद में एक निम्नलोक की भावना का प्राधान्य है। अथर्ववेद में हम काव्य और उपासना के लोक से जादू, टौना और इन्द्रजाल के जगत में आ जाते हैं; काव्य, उपासना और यज्ञ के क्षेत्र से हम अभिचार, उच्चाटन, अन्ध-विश्वास आदि के वातावरण में आ जाते हैं। ऋग्वेद का सुन्दर और श्रेयस् देवताओं का ज्योतिर्मय जगत निशाचरों की तामसी लीला के अन्धकार से घिर जाता है। उदात्त वरुण, ओजस्वी इन्द्र, तेजस्वी अग्नि और सुषमामयी उषा के मनोहर लोक से हम भूत, प्रेत, पिचाश और राक्षसों के भयङ्कर लोक में आ जाते हैं। इस निम्न लोक की भावना के कारण ही वैदिक आचार्यों को अथर्ववेद को वेदों की श्रेणी में स्थान देने में आपत्ति रही है। बहुत काल तक वे तीन ही वेदों को मानते रहे; ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की (वेदत्रयी) संज्ञा आज भी अप्रचलित नहीं है। किन्तु निम्न कोटि की भावना तथा इन्द्रजाल अभिचार आदि के मन्त्रों की उपस्थिति से यह प्रमाणित नहीं होता कि अथर्ववेद ऋग्वेद की परवर्ती रचना है। इसके विपरीत यह अथर्ववेद की प्रचीनता तथा मौलिकता का प्रमाण माना जा सकता है। इन्द्रजाल, अभिचार आदि का प्रचार प्रायः आदिम और असभ्य जातियों में पाया जाता है। अथर्ववेद में उनकी प्रमुखता से ऋग्वेद के शिष्ट और सभ्य अनुयायियों का भारतवर्ष के वन्य प्रदेशों में निवास करने वाली आदिम और असभ्य जातियों के साथ सम्पर्क का संकेत अवश्य मिलता है। वस्तुः अथर्ववेद ऋग्वेद के समान ही मौलिक और प्राचीन रचना है, यद्यपि यह सम्भव है कि इसके मन्त्रों का संग्रह ऋग्वेद के बाद हुआ हो। और यह भी सम्भव है कि इसके बहुत से मन्त्रों की रचना भी बाद में हुई हो। किन्तु यह असन्दिग्ध है कि इसका बहुत कुछ भाग ऋग्वेद के इतना ही प्राचीन है। ऋग्वेद में कुछ इन्द्रजाल और और अभिचार के मन्त्रों की उपस्थिति इस बात की प्रमाण है कि इन्द्रजाल और अभिचार तन्त्र उतना ही प्राचीन है जितना कि ऋग्वेद

की प्रकृति-उपासना, तथा ऐन्द्रजालिक उतना ही प्राचीन प्राणी है जितने कि कवि और पुरोहित। अस्तु, ऋग्वेद के समान ही अथर्ववेद एक मौलिक और साहित्यक रचना तथा मन्त्र-संग्रह (संहिता) है। यजुर्वेद और सामवेद की भाँति इसके प्रयोजन यज्ञ तथा कर्म काण्ड नहीं और न उक्त दोनों संहिताओं के मन्त्रों की भाँति इसकी मन्त्र-सामग्री ऋग्वेद से ली गई है। इसके भावना, प्रयोजन और वातावरण की भाँति इसकी मन्त्र सामग्री भी ऋग्वेद से पूर्णतया स्वतन्त्र तथा भिन्न है। इसमें ७३१ सूक्त है जिनमें लगभग ६००० मन्त्र हैं। सम्पूर्ण अथर्ववेद बीस भागों में विभाजित है जो 'काण्ड' कहलाते हैं। इस ६,००० मन्त्रों के विशाल संग्रह का इन्द्रजाल, अभिचार आदि ही सर्वस्व नहीं है। इन्द्रजाल और कूट-रहस्य के इसत मोलोक में श्रेयस् विचार और सुन्दर कल्पना की कुछ प्रकाश रेखाएँ भी हैं। स्वास्थ्य और दीर्घ-जीवन के लिए प्रार्थनाएँ, रोगोपचार के मन्त्र, ऋग्वेद के समकक्ष लाने के लिये कुछ यज्ञ और उपासना के मन्त्र भी पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। अन्तिम काण्डों में प्राप्त होने वाले कुछ देवता-शास्त्र तथा सृष्टि-शास्त्र विषयक मन्त्र और कुछ दार्शनिक चिन्तन अथर्ववेद के महत्व को और भी बढ़ा देते हैं। इसके जादू, टौना इन्द्रजाल आदि से परिपूर्ण भाग प्राचीन जाति-शास्त्र के अध्ययन और आदिम निवासियों के धार्मिक तथा समाजिक विश्वासों का परिचय प्राप्त करने के लिए अत्यन्त महत्व पूर्ण हैं। यज्ञ-कर्म, देवता-शास्त्र और दार्शनिक चिन्तन से सम्बन्ध रखने वाले अंशों के विशिष्ट महत्व के कारण ही अथर्ववेद को अन्ततः 'श्रुति' की श्रेणी में स्थान प्राप्त करने में सफलता मिली।

४—ब्राह्मण

'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ यज्ञ कर्म की विधि के विषय में यज्ञ-शास्त्र के अधिकारी आचार्य अथवा पुरोहित का व्याख्यान अथवा निर्णय-

वचन है। ब्राह्मणों के नाम से विख्यात ग्रन्थ ऐसे ही विधानों, व्याख्यानों, विवादों और निर्णयों के संग्रह हैं। यजुर्वेद के युग में प्रकृति की सहज उपासना का स्थान देवताओं की स्वार्थमय अभ्यर्थना ने ले लिया था। यज्ञ से सम्बन्धित होकर यह देवोपासना एक पुरोहितों द्वारा निर्धारित प्रणाली के रूप में रूढ़ हो गई थी। ऋग्वेद की काव्योपासना की भाँति यह यज्ञ-कर्म स्वाभाविक और स्वतन्त्र नहीं थे। इनकी प्रक्रिया और प्रणाली के विविध अंग इतने जटिल और दुरूह हो गये थे कि उनको भली-भांति समझ कर यज्ञ कर्म संचालन करने वाले अधिकारियों का एक स्वतन्त्र वर्ग बन गया था। ब्राह्मण ग्रन्थ इसी पुरोहित वर्ग की रचना तथा कर्म काण्ड के शास्त्र हैं। उन विविध यज्ञ कर्म और संस्कारों के सम्पादन की प्रक्रिया, प्रणाली और विधि-नियम इनके मुख्य विषय हैं, जिन्होंने काव्य, स्तोत्र और उपासना का स्थान ले लिया था। इनमें मुख्यतः याज्ञिक कर्मों और संस्कारों के संचालन की विधियों और नियमों का निर्देश है। इसके साथ साथ इन यज्ञ कर्मों की व्यावहारिक उपयोगिता तथा रहस्य के विषय में भी कुछ विवाद और विचार हैं। प्रधानतः यजुर्वेद में जिन महायज्ञों का उल्लेख है उनसे सम्बन्ध रखने वाले संस्कार तथा कर्मों के सम्पादन की प्रणाली के विषय में विस्तृत विधान ब्राह्मण-ग्रन्थों का मुख्य प्रयोजन है। साथ ही उन विविध कर्म-संस्कारों का पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनका मन्त्र और तन्त्रों से सम्बन्ध-निर्देश भी प्रायः उनमें किया गया है। इसके अतिरिक्त इन यज्ञकर्मों और संस्कारों की प्रतीकात्मक व्याख्या तथा उनके विधान के रहस्यात्मक कारणों और मन्त्रों से उनके सम्बन्ध का निर्देश ब्राह्मण ग्रन्थों की मौलिक विशेषता है। अस्तु, कर्म-विधान और याज्ञिक रहस्यवाद ब्राह्मणों का मुख्य विषय और प्रयोजन है। किन्तु इन मुख्य विषयों के अतिरिक्त ब्राह्मणों में और भी बहुत सी ऐसी सामग्री है जिसका यज्ञ-कर्म से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। अनेक प्राचीन इतिहास और पुराण तथा विविध

सृष्टि विषयक **आख्यान** ब्राह्मणों की निरंतर नीरसता में प्रायः विक्षेप कर पाठक का मनोरंजन कर देते हैं। यद्यपि इन इतिहास, पुराण और आख्यानों का उल्लेख भी किसी कर्म विधि के कारण की व्याख्या अथवा उसके महत्व का समर्थन करने के लिए किया गया है और इस प्रकार इनका भी ब्राह्मणों के प्रधान विषय (यज्ञकर्म) से दूर का सम्बन्ध अवश्य है, फिर भी वे अपने स्वरूप में स्वतः मनोरम और महत्वपूर्ण हैं। ब्राह्मणों के कर्म-विधान के विस्तृत मरुस्थल में ये काव्य-कल्पना और कथा से सुशोभित रमणीय उद्यानों के समान है। इन इतिहास, पुराण और आख्यानों में हम परवर्ती महाकाव्यों (रामायण और महाभारत) तथा पुराणों का आरम्भ खोज सकते हैं। पुरोहितों की रचना होने के कारण तथा कर्म विधान विषयक विचार और विवाद से सम्बद्ध होने के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना गद्य में होना स्वाभाविक है। गद्य में होने के कारण ब्राह्मण ग्रन्थ नितान्त नीरस हैं। उनमें मन्त्र संहिताओं का संगीतमय सौन्दर्य अलभ्य है। किन्तु यज्ञ शास्त्र और कर्म काण्ड के स्वरूप और सिद्धान्तों को समझने के लिए वे अत्यन्त उपयोगी हैं।

प्रत्येक वेद से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण पृथक-पृथक हैं। **ऐतरेय** और **कौषीतकि ब्राह्मण** का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। **तैत्तिरीय ब्राह्मण** तथा **शतपथ ब्राह्मण** यजुर्वेद के ब्राह्मण हैं। **शतपथ ब्राह्मण** सौ अध्यायों का एक बहुत विशाल और महत्वपूर्ण ब्राह्मण हैं। **ताण्ड्य महाब्राह्मण,** जो २५ अध्यायों में होने के कारण **पञ्चविंश** भी कहलाता है सामवेद का महत्वपूर्ण ब्राह्मण है। **षड्विंश ब्राह्मण** जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है **ताण्ड्य महाब्राह्मण** का अन्तिम और पूरक अंग है। सामवेद का दूसरा ब्राह्मण **जैमिनीय ब्राह्मण** है जो कदाचित **ताण्ड्य महा ब्राह्मण** से भी प्राचीन है और धर्म और कर्म के प्राचीन स्वरूप को जानने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। अथर्ववेद से सम्बन्ध रखने वाला कोई मूल और प्राचीन ब्राह्मण नहीं है, किन्तु

वेद के पूरक ब्राह्मण का होना आवश्यक होने के कारण तथा ब्राह्मण-हीन वेद की कल्पना असंगत हो जाने के कारण किसी उत्तर काल में (जो वैदिक युग के अन्त की ओर रहा होगा) अथर्ववेद को श्रुति का स्थान सम्भव बनाने के लिए ब्राह्मण की रचना हुई। **गोपथ ब्राह्मण** के नाम से उपलब्ध होने वाला ब्राह्मण अथर्व वेद का एक ऐसा ही विलम्बित ब्राह्मण है।

(५) आरण्यक

'आरण्यक' जैसा कि उनके नाम से ही स्पष्ट है वे वैदिक ग्रन्थ हैं जो सम्भवतः अरण्यवासी वानप्रस्थ मुनियों की रचनाएँ हैं तथा वन्य आश्रमों के निवासियों द्वारा उपयोग में लाये जाते थे। अरण्य में वास करने वाले तथा वृद्धावस्था समीप आने पर वानप्रस्थ ग्रहण कर लेने वाले लोगों के लिए वन में अनेक वस्तुओं के दुर्लभ होने के कारण सम्पूर्ण व्यावहारिक विधियों तथा विविध भौतिक उपकरणों के सहित यज्ञ, कर्म, संस्कार आदि का सम्पादन सम्भव न था। वैदिक यज्ञ कर्म आदि बड़े जटिल कृत्य हैं और उनके विधिवत् सम्पन्न होने के लिए बहुत व्यवस्था और अनेक उपकरणों के आवश्यकता होती हैं। अतएव अरण्यवासियों की सुविधा के लिए एक प्रतीकात्मक विधि के द्वारा वे यज्ञादि सुगम बना दिये गये हैं। उनका यज्ञ कर्म बहुत सीमित और संक्षिप्त है। उनकी अधिकांश चर्या यज्ञ के प्रतीकात्मक रहस्य का ध्यान है। आरण्यकों का मुख्य विषय यज्ञादि सम्बन्धी यह प्रतीकात्मक रहस्यवाद ही है। स्थूल कर्म से सूक्ष्म चिन्तन की ओर विकास हो रहा था। यज्ञ के प्रतीकात्मक रहस्य का ध्यान यज्ञ करने के समान ही महत्व और प्रभावशीलता ग्रहण कर रहा था। आरण्यकों का मुख्य विषय ब्राह्मणों की भांति यज्ञ-विधान के नियम तथा कर्मों और संस्कारों की व्याख्या नहीं है, वरन् यज्ञ सम्बन्धी प्रतीकवाद और रहस्यवाद है। आरण्यक स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं; उनमें

बहुत से विविध वैदिक संहिताओं और शाखाओं से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मणों के परिशिष्ट-से हैं। विषय की दृष्टि से भी वे ब्राह्मणों में यत्र तत्र प्राप्त होने वाले यज्ञ सम्बन्धी प्रतीकवाद और रहस्यवाद के विकास से जान पड़ते हैं। भारतीय चिन्तन-धारा के विकास में वे ब्राह्मणों और उपनिषदों के मध्यवर्ती हैं। उनका यज्ञ सम्बन्धी प्रतीकात्मक रहस्यवाद भी ब्राह्मणों की कर्मकाण्ड-प्रधान प्रवृत्ति और उपनिषदों के आध्यात्मिक चिन्तन-प्रधान स्वरूप की अन्तर्वर्ती विचारावस्था प्रतीत होता है। उनमें ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड की छाया है; किन्तु उसके साथ ही उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन का संकेत और सम्भावना भी है। भारतीय विचार-धारा के विकास-पथ में इस मध्यवर्ती स्थिति में होने के कारण ही बहुत से आरण्यक ब्राह्मणों के ही एक भाग हैं और बहुत से आरण्यकों के अन्तिम भाग उपनिषद् कहलाते हैं। इस प्रकार **ऐतरेय आरण्यक** ऋग्वेद के **ऐतरेय ब्राह्मण** का ही एक भाग है और उसका अन्त **ऐतरेय उपनिषद्** में होता है। **कौषीतकि आरण्यक** ऋग्वेद के **कौषीतकि ब्राह्मण** का एक भाग है और उसी का अन्तिम अंश **कौषीतकि उपनिषद्** कहलाता है। **तैत्तिरीय आरण्यक** कृष्ण यजुर्वेद के **तैत्तिरीय ब्राह्मण** का एक भाग है और उसका पर्यवसान **तैत्तिरीय उपनिषद्** में होता है। **बृहदारण्यक उपनिषद्** के नाम से ही स्पष्ट है कि वह एक आरण्यक का उपनिषद् है। शुक्ल यजुर्वेद के प्रसिद्ध **शतपथ ब्राह्मण** के अंग-भूत एक अनाम आरण्यक का अन्तिम भाग ही **बृहदारण्यक उपनिषद्** है। **छान्दोग्य उपनिषद्** का प्रथम अध्याय वस्तुतः एक आरण्यक ही है और सम्भवतः सामवेद के **ताण्ड्य महा ब्राह्मण** का अंग है। **जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण** वस्तुतः सामवेद का एक आरण्यक है और **केन उपनिषद्** उसका एक भाग है। अथर्ववेद से सम्बन्धित कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं। अथर्ववेद में यज्ञ-कर्म की प्रमुखता नहीं है, अतः उसमें आरण्यकों के विषय-भूत

यज्ञ-कर्म के प्रतीकात्मक रहस्यवाद के विकास की अधिक सम्भावना नहीं थी।

६—उपनिषद्

उपनिषद् वैदिक साहित्य के दार्शनिक अंग हैं। उपनिषद् शब्द का अभिधार्थ श्रद्धापूर्वक (नि) समीप (उप) बैठना (सद्) है। प्राचीन भारत में विद्यार्थी जीवन और जगत के रहस्य के उपदेश के लिए श्रद्धा-पूर्वक गुरु के समीप जा कर बैठते थे। प्राचीन युग के शिक्षा-तत्व और शिक्षा-शैली दोनों में ही कुछ रहस्यात्मकता थी। उपनिषदों के नाम से विख्यात ग्रन्थों में निहित ज्ञान कुछ रहस्यमय-सा ही है। उस ज्ञान का सम्बन्ध जीवन और चिन्तन के गूढ़ रहस्यों से है। उस ज्ञान को गुरुजन अत्यन्त गोपनीय मानते थे और बड़े रहस्यात्मक भाव से योग्य शिष्यों को प्रदान करते थे। अस्तु, उस युग की शिक्षा-शैली की अंगभूत गुप्त गोष्ठियों में गुरुओं द्वारा व्यक्त रहस्य-सिद्धान्त उप-निषदों में निहित हैं। स्वयं उपनिषद् ग्रन्थों में कई स्थानों पर उपनिषद् शब्द का रहस्य अथवा रहस्य-विद्या के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

उपनिषदों को प्रायः 'वेदान्त' भी कहा जाता है। इसका ऐतिहा-सिक कारण तो यह है कि विचार-विकास के क्रम में उपनिषद् वेदों के अन्तिम भाग हैं। आगे चल कर उपनिषदों में निहित दार्शनिक तत्वों को वैदिक साहित्य के विचार-विकास की पराकाष्ठा माना जाने लगा और वेद के चरम लक्ष्य के अर्थ में भी उपनिषद् 'वेदान्त' कहलाने लगीं। उपनिषदों में आकर प्राचीन भारतवासियों के विचार और दृष्टिकोण में एक पूर्ण परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है। यज्ञ, कर्म और संस्कारों का स्थान ध्यान और चिन्तन ले लेते हैं। यों कहना होगा कि ऋग्वेद के संगीतमय उद्‌गारों का अन्त उपनिषदों के चिन्तन-मय विचारों में हुआ; वेद का पर्यवसान वेदान्त में हुआ। अथर्ववेद के अन्धकारमय मेघों के अन्तर्गत यत्र तत्र उदय होने वाली विद्युल्लेखा

के समान प्रकट होने वाली चिन्ता-प्रवृत्ति का पूर्ण विकास उपनिषदों के निर्मल ज्ञान की राका-ज्योत्स्ना में हुआ। आरण्यकों में विकसित होने वाली ध्यान और चिन्तन की प्रवृत्ति उपनिषदों में पूर्णता को प्राप्त हुई। ब्राह्मणों के यज्ञ, कर्म और संस्कार तथा आरण्यकों के याज्ञिक रहस्यवाद के स्थान पर हम उपनिषदों में ईश्वर, सृष्टि और आत्मा विषयक समस्याओं के विषय में प्राचीन ऋषियों के गम्भीर चिन्तन की निधि पाते हैं।

मानव जाति के जीवन में चिन्तन का उदय और विकास धीरे धीरे अलक्षित रूप से होता है। मनुष्य एक दिन में ही दार्शनिक नहीं बन जाता। अस्तु, उपनिषद प्राचीन भारत में किसी आकस्मिक चिन्ताधारा की प्रतीक नहीं है। ऋग्वेद और अथर्ववेद के दार्शनिक मन्त्रों, ब्राह्मणों के देवता और यज्ञ विषयक विवादों तथा आरण्यकों के प्रतीकात्मक रहस्यवाद में हम दार्शनिक चिन्तन का आरम्भ देख चुके हैं। वैदिक विचारधारा के विकास क्रम में संगुम्फित होने के कारण उपनिषद कोई स्वतन्त्र और पृथक ग्रन्थ नहीं है। जिस प्रकार बहुत से आरण्यक ब्राह्मणों के भाग हैं, इसी प्रकार बहुत सी उपनिषद ब्राह्मणों अथवा आरण्यकों के ही अन्तिम अंश हैं। किन्तु यह क्रम-संकर किसी विचार-भ्रान्ति का लक्षण नहीं वरन् वैदिक विचारधारा के नैरन्तर्य और विकास-शीलता का प्रमाण है।

उपनिषदों की संख्या प्रायः १०८ और कभी २०० से भी अधिक बताई जाती है, किन्तु उनमें सब समान रूप से प्राचीन और मौलिक नहीं हैं। उनमें बहुत सी अर्वाचीन कृतियाँ हैं। सामान्यतः १४ उपनिषदों को प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है। उनमें **ऐतरेय** और **कौषीतकि** ऋग्वेद की उपनिषद हैं तथा इन्हीं नामों से प्रसिद्ध आरण्यकों के अन्तिम भाग हैं। **तैत्तिरीय** और **बृहदारण्यक उपनिषद्** का सम्बन्ध यजुर्वेद से है तथा वे क्रमशः **तैत्तिरीय आरण्यक** और **शतपथ ब्राह्मण** के अंग हैं। **महानारायण उपनिषद्** सम्भवतः

तैत्तिरीय आरण्यक का परिशिष्ट है जो पीछे से जोड़ा गया है। **कठ, श्वेताश्वतर** और **मैत्री** अथवा **मैत्रायणी** उपनिषद भी यजुर्वेद से सम्बन्धित हैं; किन्तु वे कुछ स्वतन्त्र कृतियाँ सी जान पड़ती हैं क्योंकि वे किसी ब्राह्मण अथवा आरण्यक की अंगभूत नहीं हैं। **छान्दोग्य उपनिषद्** सम्भवतः सामवेद के **ताण्ड्य महाब्राह्मण** का अंग है। **केन उपनिषद्** सामवेद के **जैमिनीय उपनिषद्-ब्राह्मण** का (जो वस्तुतः एक आरण्यक है) अंग है। **ईश उपनिषद्** स्वयं सामवेद संहिता का ही अन्तिम अध्याय है। **प्रश्न, मुण्डक** और **माण्डूक्य** उपनिषदों का सम्बन्ध अथर्ववेद से है। इन उपनिषदों में **बृहदारण्यक** और **छान्दोग्य** आकार में सबसे बड़ी और विषय में भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। सम्भवतः उपनिषदों में ये सबसे प्राचीन हैं। **कठ** और **मुण्डक** उपनिषद अपने सुन्दर काव्य और महत्वपूर्ण दार्शनिक तत्त्वों के कारण बड़ी लोक-प्रिय रही हैं। **ईश** और **माण्डूक्य उपनिषद्** आकार में जितनी सूक्ष्म हैं विषय में उतनी ही गंभीर और गौरवपूर्ण हैं। **केन** और **प्रश्न उपनिषद्** जीवन और जगत के तत्व की सूक्ष्म जिज्ञासा के लिए उल्लेखनीय है। **ऐतरेय, तैत्तिरीय** और **कौषीतकि उपनिषद्** भी प्राचीन और महत्वपूर्ण हैं। ये ११ उपनिषद निश्चित रूप से ही बुद्ध के जन्म से पूर्व की कृतियाँ हैं और इनकी रचना ईसा से १००० वर्ष पूर्व से लेकर ६०० वर्ष पूर्व के बीच में हुई होगी। **कौषीतकि** को छोड़ कर शेष १० उपनिषदों पर शंकराचार्य का भाष्य उपलब्ध होता है। **श्वेताश्वतर, मैत्री** अथवा **मैत्रायणी** और **महानारायण** प्राचीन उपनिषदों में अन्तिम और शेष की अपेक्षा अर्वाचीन हैं। सम्भवतः वे बुद्ध के उत्तर काल की कृतियाँ हैं।

७—वेदों के चार अंग और जीवन के चार आश्रम

आगे चल कर, विशेषकर ब्राह्मणों के बाद, जब भारतीय जीवन की व्यवस्था वर्णाश्रमधर्म के अनुकूल स्थिर हो गई थी, वैदिक

साहित्य के उक्त चार अंगों का जीवन के चार आश्रमों से एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित हो गया था। इस प्रकार वैदिक संहिताएँ ब्रह्मचर्य आश्रम में स्थित विद्यार्थियों अथवा ब्रह्मचारियों के निमित्त पाठ्य थीं। जीवन के प्रथम पर्व में द्विजों के प्रत्येक बालक को अपनी शाखा के अनुकूल वेद अथवा श्रुति का अध्ययन करना पड़ता था। इसी को 'स्वाध्याय' कहते थे, जिसका विधान वेदों में मिलता है। जीवन का द्वितीय आश्रम गृहस्थ कहलाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में गृहस्थों के लिए विहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, कर्म और संस्कारों के नियम-विधान हैं। गृहस्थाश्रम का धर्म पालन करने के बाद वृद्धावस्था निकट आने पर लोग नगर छोड़ कर वन में निवास करने चले जाते थे; इसीलिए उन्हें वानप्रस्थ कहते थे। आरण्यक ग्रन्थों का विषय उन वानप्रस्थियों के लिए निर्दिष्ट याज्ञिक प्रतीक और रहस्यात्मक कर्मकाण्ड है। इन प्रतीकों का ध्यान और उनके रहस्य का मनन मात्र वानप्रस्थों का कर्तव्य रह जाता था। उपनिषदों में ईश्वर, सृष्टि और आत्मा के चरम सिद्धान्तों का चिन्तन है जो सामान्य जीवन के उत्तरदायित्व से रहित चतुर्थ संन्यास आश्रम में ही सम्भव है।

अध्याय २

वैदिक धर्म और दर्शन

१—प्रस्तावना

दर्शन जीवन और जगत को समझने और उसकी व्याख्या करने का प्रयास है। दार्शनिक तत्वों की जिज्ञासा मनुष्य की प्रकृति का एक स्वाभाविक अंग है। किन्तु चिन्तन-वृत्ति के साथ-साथ मनुष्य की प्रवृत्ति में कल्पना और भावना का प्राधान्य होने के कारण मानवीय चिन्तन के विकास के आरम्भ में पुराण और काव्य प्रायः दर्शन और विज्ञान के पूर्वगामी होते हैं। प्राचीन भारतवासियों के लिए दर्शन एक व्यवस्थित चिन्ताधारा नहीं था वरन् वह उनके जीवन की आधारभूत आस्था था। उनके जीवन का दार्शनिक दृष्टि-कोण किसी बौद्धिक चिन्तन-प्रक्रिया का परिणाम नहीं था वरन् उनके जीवन की गति-विधि में ही सन्निहित दृष्टिकोण था। जीवन के आधारभूत इस दर्शन को 'धर्म' कहना अधिक उचित है। धर्म दार्शनिक आस्थाओं की जीवन में अभिव्यक्ति है। दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुकूल जीवन की गति धर्म का सार है, चाहे वे सिद्धान्त चिन्तन के परिणाम हों अथवा भावना की आस्थाएँ। सभ्यता और संस्कृति के विकास की एक अवस्था में चिन्तन के सिद्धान्तों पर आश्रित धर्म कदाचित जीवन का आधार बन सके, किन्तु मानवीय इतिहास के आरम्भिक युगों में धर्म चिन्तन से अधिक भावना की वस्तु रही है, यद्यपि चिन्तन के सिद्धान्त धर्म में समन्वित तथा अनुस्यूत अवश्य रहे हैं। जिस प्रकार जीवन चिन्तन का पूर्वगामी है, उसी प्रकार धर्म दर्शन का। जीवन के व्यवहार में सदा ही कुछ सिद्धान्त निहित रहते हैं जिनका उद्घाटन उत्तर-काल में विशिष्ट चिन्तन के द्वारा सम्भव है। वैदिक युग में दार्शनिक

जिज्ञासाओं की मूल प्रेरणा जीवन में थी विचार में नहीं, और उनका प्रयोजन साक्षात् व्यवहार में था। चिन्तन विश्वास और व्यवहार में मिश्रित था। दर्शन, धर्म और आचार शास्त्र से समन्वित था।

२—ऋग्वेद का धर्म

वैदिक धर्म का प्राचीनतम रूप हमें ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद का धर्म उपासना और आनन्द का धर्म है। सुन्दर और उदार प्रकृति के वैभवपूर्ण वातावरण में भारतवासियों का जीवन प्रसन्न और उल्लासमय था। इस उल्लास और आनन्द की प्रतिध्वनि ऋग्वेद के आरम्भिक सूक्तों में लक्षित होती है। यद्यपि प्रकृति के भीषण और विनाशक रूपों ने भी प्राचीनों की भावना को प्रभावित किया था, फिर भी ऋग्वेद के आरम्भ में प्रकृति के सुन्दर और शिव रूप का ही गान है। सामान्यतः प्रकृति के प्रति अनुराग, विस्मय और भीति की मिश्रित भावना ऋग्वेद में व्याप्त है। दुर्गम रहस्य और प्रबल शक्ति के कारण प्रकृति को प्रधान शक्तियों की दैवी शक्तियों के रूप में कल्पना की गई है। प्रकृति का यह दैवीकरण प्रकृति के इस लीलास्थल में स्वाभाविक था। प्राचीन भारतवासी प्रकृति के सौन्दर्य से अनुरक्त तथा विस्मय से विमोहित होकर प्राकृतिक शक्तियों की देवताओं के रूप में कल्पना कर उनकी उपासना के गीत गाते थे। ऋग्वेद के मन्त्र इन्हीं प्रकृति-देवताओं की प्रशस्तियाँ हैं। अधिकांश मन्त्र प्रकृति के विविध रूपों के प्रति श्रद्धा, भय और विस्मय की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं। जब मानवी कल्पना ने इन प्राकृतिक शक्तियों में देवताओं के रूपों की प्रतिष्ठा की तो ये सहज काव्य-गीत इन देवताओं की स्वार्थमय स्तुतियों में परिणत हो गये। अधिकांश स्तुतियाँ इन देवताओं से भौतिक पदार्थों की याचना मात्र हैं। इसके साथ-साथ प्रकृति के कोप में अभिव्यक्त देवताओं के कोप को शान्त करने के लिए भी बहुत सी स्तुतियाँ रची गईं। इस प्रकार काव्य-

कल्पना और प्रयोजन-प्रवृत्ति ने मिलकर मनुष्य के संसार को अनेक देवताओं से भर दिया। ऋग्वेद में इस अनेक-देववाद के रूप में ही धर्म का आरम्भ होता है।

इन वैदिक देवताओं की संख्या बहुत है किन्तु उनमें सभी समान रूप से प्रधान और महत्वपूर्ण नहीं हैं। उनमें से कुछ ही देवता प्रधान हैं और अधिकांश सूक्तों में उन्हीं की प्रशस्ति है। उन मुख्य देवताओं का, कदाचित भौगोलिक आधार पर, तीन समूहों में वर्गीकरण किया जाता है। यह वर्गीकरण इस प्रकार है :—

(१) आकाश के देवता—मित्र-वरुण

(२) अन्तरिक्ष के देवता—इन्द्र-मरुत्

(३) पृथ्वी के देवता—अग्नि-सोम

ऋग्वेद के आरम्भिक युग का सब से प्रमुख देवता वरुण है। मूलतः वरुण आकाश (द्यौः) का देवता है, किन्तु शीघ्र ही वह नैतिक नियन्ता का स्थान ग्रहण कर लेता है। मित्र जो प्रायः सूर्य का समानार्थक है उसका सदा सहयोगी है। मित्र और वरुण का यह सनातन सहयोग मित्रावरुण समास-पद के प्रयोग की बहुलता का आधार है। वरुण नियम का अधिष्ठाता है। इस नियम की ऋग्वेद में 'ऋत' संज्ञा है। वरुण 'ऋत का रक्षक' है। आरम्भ में 'ऋत' का अर्थ 'प्राकृतिक नियम' था, जिसका आधार प्राकृतिक प्रक्रियाओं की नियमितता थी। वरुण के आदेश और भय से सूर्य और चन्द्र नियमित गति से चलते हैं; दिन रात, ऋतुओं का क्रम, पवन की गति और नदी का प्रवाह सबका नियमन वरुण के आदेश से होता है। आगे चल कर 'नैतिक नियम' का भी समन्वय 'ऋत' के अर्थ में हो गया और वरुण प्राकृतिक व्यवस्था का अधिष्ठाता तथा नैतिक धर्म-नियम का नियन्ता हो गया। सूर्य और चन्द्र रूपी चक्षुओं से वह प्रत्येक काल में प्रत्येक मनुष्य के कर्म का निरीक्षण करता रहता है। वरुण न्याय-शील और दयालु देवता है; अतः वह सत्कर्म करने वालों

को अच्छा फल देता है, पापियों को दण्ड देता है और पाप का प्रायश्चित्त करने वालों को क्षमा करता है। ऋग्वेद के आरम्भिक युग में वरुण की प्रभुत्व-पूर्ण कल्पना उसे एकेश्वरवाद के ईश्वर के अत्यन्त निकट ले आती है। किन्तु आगे चल कर वरुण का प्रभुत्व कम हो जाता है। ऋग्वेद के उत्तर काल में जब प्राचीन आर्यों का भारत के पूर्व और दक्षिण भागों में विस्तार होने लगा तो उन प्रदेशों के आदिम और असभ्य निवासियों के साथ उनका संघर्ष आरम्भ हो गया। वरुण के समान शान्ति-प्रिय, न्याय-शील और नैतिक देवता इस संघर्ष के युग में उतना उपयोगी न रहा। अतः वरुण का स्थान उग्र, ओजस्वी और ऐश्वर्यवान देवता इन्द्र ने ले लिया जो आगे चल कर अपने पराक्रम और प्रभुत्व से देवताओं का सम्राट बन गया। इन्द्र के स्वरूप की कल्पना का मूल आधार अनिश्चित है। आरम्भ में इन्द्र कदाचित वर्षा का देवता था, किन्तु आगे चल कर भीषण वज्र और भयंकर तूफानों के सहयोग के कारण वह सहज ही युद्ध और संघर्ष काल के उपयुक्त एक उग्र और ओजस्वी देवता बन गया। इन्द्र वस्तुतः प्राचीन भारतवासियों का राष्ट्रीय देवता है। ऋग्वेद के सैकड़ों सूक्तों में उसके पराक्रमों का वर्णन और यशोगान है। मरुत् उसके निरन्तर साथी हैं। अग्नि प्राचीन भारतवासियों का एक महत्वपूर्ण देवता है। प्राचीन काल में अग्नि का मूल्य उसके उत्पादन और संरक्षण की कठिनता के कारण आज से अधिक था। वैदिक धर्म में यज्ञ की प्रधानता होने के कारण अग्नि का महत्व और भी बढ़ गया। अग्नि मुख्यतः गृह-देवता है। वह यज्ञ में हमारी आहुतियों को स्वर्गस्थित देवताओं तक ले जाता है और बच्चों की रोगादि आपत्तियों से रक्षा करता है। सोम अग्नि का साथी है। वह स्फूर्ति, ओज और अमरत्व का देवता है। आरम्भ में सोम एक उसी नाम की लता का रस था, जिसका यज्ञ के अवसर पर स्फूर्ति और ओज के लिए पान किया जाता था। आगे चल कर आत्मिक प्रेरणा और शारीरिक स्फूर्ति में भ्रांति होने के कारण

सोम को अमरत्व प्रदान करने वाले देवता का स्थान मिला। इनके अतिरिक्त यम का भी ऋग्वेद के देवताओं में विशेष स्थान है। वह आरम्भ में पितृयान से परलोक को गमन करने वाला प्रथम व्यक्ति था अतः वहाँ जाकर सम्राट बन गया। यमराज को सूर्य का पुत्र माना गया है। ब्राह्मणों में वह मनुष्य के कर्म-शासन का अधिष्ठाता बन गया। पुराणों में परलोक के भीषण नरक के रूप में परिणत हो जाने के कारण यम बड़ा भयंकर देवता माना जाने लगा। इसके अतिरिक्त सिन्धु आदि नदियाँ भी देवता मानी गयीं। सरस्वती आरम्भ में एक नदी थी; आगे चल कर वह विद्या की देवी भारती बन गयी। वाक् वाणी का देवता है। इसके अतिरिक्त मन्यु, श्रद्धा आदि मनोभावों की भी देवताओं के रूप में कल्पना हुई है जो वैदिक चिन्तन में सूक्ष्मता के विकास की द्योतक है।

३—यजुर्वेद और सामवेद का धर्म

ऋग्वेद की प्रकृति उपासना यजुर्वेद तथा सामवेद में आकर यज्ञ, कर्म और अनुष्ठान के धर्म में परिणत हो जाती है। ये दोनों ही वैदिक संहिताएँ याज्ञिक उद्देश्य से ही रची गई थीं। यजुर्वेद में संग्रहीत मन्त्रों और स्तोत्रों तथा कर्म-विधि के निर्देशक वाक्यों की व्यवस्था ठीक उसी क्रम में की गई है जिसमें यज्ञ के अवसर पर उनके उच्चारण की आवश्यकता होती है। सामवेद में उन मन्त्रों के स्वर और संगीत की व्यवस्था की गई है, साथ ही साथ स्वरों के सहगामी हाथ और अँगुलियों की मुद्राओं का भी निर्देश किया गया है। यजुर्वेद में दर्शपौर्णमास, दैनिक अग्निहोत्र, चातुर्मास्य यज्ञ, सोम यज्ञ, और अश्वमेध यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले नियमों, विधियों और मन्त्रों का संकलन है। स्तुति और उपासना का सरलतम रूप देवता के नाम का आवाहन कर आहुति देना है। अधिकांश स्तुतियों का उद्देश्य देवता की उपासना से अधिक उसको प्रभावित करना तथा यज्ञ-कर्ता की

कामना पूर्ण करने के लिए उसे विवश करना है। पुरोहित पृथ्वी के देवता बन रहे थे और स्तोत्र, जो गद्य के वाक्यों अथवा स्वाहा, स्वधा आदि निरर्थक किन्तु रहस्यमय निपातों के रूप में होते थे, स्वतंत्र और अनिवार्य शक्ति से सम्पन्न हो रहे थे। आगे चल कर ब्राह्मणों में इस प्रवृत्ति का विकास हुआ और मीमांसा-दर्शन में इसका पर्यवसान हुआ।

४—अथर्ववेद का धर्म

अथर्ववेद जादू, टौना, इन्द्रजाल आदि के मन्त्रों तथा तन्त्रों का संग्रह है। अथर्ववेद का प्राचीन नाम अथर्वाङ्गिरस् है। अथर्वन् का अर्थ पवित्र मन्त्र है जो सुख और आनन्द का दाता है; अङ्गिरस् से तात्पर्य विकृत और तामस तन्त्र से है जो अहितकर है। इससे प्रतीत होता है कि जादू, टौना, मन्त्र, तन्त्र का उपयोग अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के उद्देश्य से होता था। अथर्ववेद में यद्यपि अहित, अभिचार और अन्धकार की भावना का ही प्राधान्य है; फिर भी यत्र-तत्र प्राप्त होने वाले हितकर तन्त्रों और दार्शनिक विचारों की झलक से उसकी वीभत्स एकरसता भंग हो जाती है। शत्रु का अहित साधने वाले अभिचार तन्त्रों के साथ साथ रोगोपचार के मन्त्र (भैषज्याणि), स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन के मन्त्र (आयुष्याणि) भी अथर्ववेद में पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। पिछले प्रकार के मन्त्रों का उपयोग मुण्डन, उपनयन आदि गृह-कर्मों के अवसर पर होता था। कृषकों, गोपालों और व्यापारियों के लाभ और सफलता के मंगल-मन्त्र भी अथर्ववेद में बहुत हैं और वे उसके अन्यथा कूट और वीभत्स वातावरण में मानवीयता का पुट ला देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ प्रायश्चित्त के मन्त्र हैं। नैतिक पाप, सामाजिक अपराध और याज्ञिक दोष समान रूप से पाप माने गये हैं और उनके लिए प्रायश्चित्तों का विधान किया है। जीवन में साथी प्राप्त करने लिए तथा गृहस्थ जीवन

के सुख और स्नेह की अभिचार, षड़यन्त्र और उत्पातों से रक्षा करने वाले मन्त्रों का भी एक पृथक वर्ग है। सामाजिक महत्व के इन मन्त्रों के अतिरिक्त कुछ दार्शनिक चिन्तन के मन्त्र भी अथर्ववेद में पाये जाते हैं। इनसे उस युग के तात्विक चिन्तन के विकास का संकेत मिलता है। विश्व के सृष्टा और संरक्षक के रूप में तथा कहीं कहीं विश्व के सृजनात्मक सिद्धान्त के रूप में परमेश्वर की कल्पना तथा ब्रह्म, तपस्, असत्, प्राण, मनस् आदि दार्शनिक पदों के प्रयोग से यह प्रमाणित होता है कि कूट तन्त्र के साथ साथ वास्तविक दार्शनिक चिन्तन भी उस युग में विकसित हो रहा था। यद्यपि काव्य की दृष्टि से अथर्ववेद के मन्त्रों में ऋग्वेद की कला और कल्पना का सौन्दर्य नहीं है तथा उसकी अधिकांश दार्शनिक कल्पनाएँ केवल कूट तन्त्र हैं, फिर भी ६३ मन्त्रों का एक सम्पूर्ण सूक्त जो पृथ्वी सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है काव्य-सौन्दर्य तथा दार्शनिक गरिमा के लिए उल्लेखनीय है।

४—धर्म से दर्शन की ओर

भारतीय दर्शन का आरम्भ धर्म के रूप में होता है क्योंकि उसका उदय कुछ विचारकों के मस्तिष्क में नहीं वरन् एक जाति के जीवन और आत्मा में हुआ था। किन्तु धर्म में भी दर्शन का आधार होता है। विश्वास और व्यवहार अज्ञात रूप से कुछ सिद्धान्तों पर ही आश्रित होते हैं, यद्यपि उन सिद्धान्तों का उद्घाटन आगे चल कर विचार और चिन्तन द्वारा ही हो सकता है। इन सिद्धान्तों का अन्वेषण जीवन की स्वाभाविक प्रगति है। ऋग्वेद के युग की सरल प्रकृति-उपासना जीवन की प्रगति के साथ उदय होने वाले संशयों से भंग हो जाती है, और इन संशयों के समाधान में दार्शनिक चिन्तन का विकास होता है। वेदों का बहुदेववाद प्रकृति की शक्तियों के दैवी-करण का परिणाम था। प्रकृति की शक्तियाँ अनेक प्रतीत होती हैं अतः शीघ्र ही मनुष्य का जगत असंख्य देवताओं से भर गया। सभी

देवताओं को मनुष्य की भक्ति का अधिकार है। इसके अतिरिक्त देवता अनेक थे, किन्तु वह विश्व जिसके वे शासक थे एक ही था। अतएव देवताओं के अनेकत्व का परिणाम बुद्धि की भ्रान्ति और व्यवहार में विक्षेप हुआ। यदि अनेक देवता विश्व के शासक हैं तो प्रकृति के नियमों में संगति और एकता कैसे हो सकती है ! उपासक भ्रान्त होकर पूछते थे कि 'हम किस देवता की अर्चना करें ?' प्रकृति की व्यवस्था और उसकी संचालिका शक्ति की एकता 'ऋत' की कल्पना में पहले ही व्यञ्जित हो चुकी थी। देवताओं के रूप और गुण के साम्य से उत्पन्न होने वाली भ्रान्ति, के समाधान तथा मानसिक शान्ति और व्यावहारिक सुविधा के लिए सरलीकरण की अपेक्षा ने अनेक देवताओं के एक रूप में समाहार का पथ प्रशस्त किया। कभी कभी यज्ञ-प्रक्रिया की सरलता और अनुष्ठान की सुगमता के लिए सम्पूर्ण देवताओं को समष्टि-रूप में एक आहुति का उल्लेख मिलता है। 'विश्वेदेवाः' की कल्पना देवताओं की इस समष्टि-रूप एकता की ही प्रतीक है। देवताओं के लक्षणों के साम्य और अपने उपास्य देवता को सर्वोपरि मानने की स्वाभाविक मानवीय प्रवृत्ति के कारण कभी कभी उपासना के अवसर पर भिन्न-भिन्न देवताओं की परम-देवता के रूप में कल्पना हुई है। इस प्रवृत्ति को 'आवसरिक एकदेववाद' कहा जाता है और यह बहुदेववाद से एक देववाद की ओर विकास का एक महत्वपूर्ण चरण मानी जाती है। वरुण, इन्द्र तथा अन्य देवताओं को समय समय पर क्रम से परम-देवता का पद दिया गया है। इन्द्र की युद्ध के देवता के रूप में बड़ी प्रशंसा की गई है, फिर भी इन्द्र की कीर्त्ति नैतिक गुणों की अपेक्षा पराक्रम के लिए अधिक है। वरुण की कल्पना एकदेववाद के परमेश्वर की कल्पना के सबसे अधिक निकट है। वरुण सर्वद्रष्टा है, वह सूर्य चन्द्र के चक्षुओं से अहर्निश मनुष्यों के कर्मों का निरीक्षण करता है। वह सत्कर्मों का शुभ फल, पापियों को दण्ड और प्रायश्चित्त करने वालों को क्षमा प्रदान करता है। वरुण के नियम का नाम

'ऋत' है जिसका तात्पर्य प्राकृतिक व्यवस्था और नैतिक नियम दोनों ही है। नैतिक धर्म के संरक्षक और विश्व के नियन्ता के रूप में वरुण की यह कल्पना एकेश्वरवाद के न्यायशील और दयालु ईश्वर की कल्पना के समकक्ष है। विश्व के स्रष्टा के रूप में भी ईश्वर की कल्पना का पूर्व-रूप हमें 'विश्वकर्मा' और 'प्रजापति' की कल्पना में मिलता है। इस प्रकार वैदिक बहुदेववाद का विकास क्रमशः एकेश्वरवाद की ओर हो रहा था। ऋग्वेद और अथर्ववेद के अन्तिम अंशों में, जो वैदिक युग के उत्तर भाग की रचनाएँ हैं, हमें सृष्टि के सिद्धान्त और प्रक्रिया के विषय में कुछ गंभीर चिन्तन मिलता है। यहां हम स्रष्टा ईश्वर की कल्पना के अतिरिक्त सृजन के सूक्ष्म सिद्धान्त-तत्व की कल्पना भी पा सकते हैं जो वेदों में विकसित होते हुए एकेश्वरवाद के उपनिषदों के एकत्ववाद में विकास का सम्बन्ध-सूत्र है। अस्तु 'ऋत' की कल्पना में व्यक्त प्राकृतिक और नैतिक जगत् के नियम के एकत्व के उद्घाटन, लक्षणों के साम्य के कारण देवताओं के रूप-विषयक भ्रांति और उपासना काल में उनकी तात्कालिक परमेश्वरत्व प्राप्ति, वरुण और प्रजापति की एकेश्वरवाद के परमेश्वर के समकक्ष कल्पना आदि के क्रम से अखिल सत्ता के एकत्व में परम सत्ता की प्रतिष्ठा हुई। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' में अभिव्यक्ति भ्रान्ति की परिणति 'एकम् सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' के अनुभव में हुई।

६—ब्राह्मण धर्म

ब्राह्मण मुख्यतः कर्म-काण्ड के ग्रन्थ हैं। उनका प्रधान विषय विविध वैदिक यज्ञ, कर्म और अनुष्ठानों के नियमों का विधान है। इन नियमों को **'विधि'** कहते हैं। ब्राह्मणों के विषय का दूसरा पक्ष **'अर्थ-वाद'** कहलाता है। अर्थवाद का अर्थ 'तात्पर्य की व्याख्या' है। इन व्याख्याओं में विविध यज्ञ, कर्म और संस्कारों के अनुष्ठान का महत्व और प्रयोजन बतलाया गया है। ब्राह्मणों में प्रायः पहले यज्ञों से सम्बन्धित

संस्कारों और अनुष्ठानों के नियमों का पृथक पृथक विधान कर पीछे से उनके उद्देश्य और महत्व की व्याख्या की गई है। ब्राह्मण ग्रन्थों का कर्म-काण्ड-दर्शन पूर्णतः प्रयोजनवादी और भौतिक है। अधिकांश यज्ञों और कर्मों का लक्ष्य यज्ञकर्ता की कामना की पूर्ति है। ये कामनायें प्रायः भौतिक और इहलौकिक हैं। परलोक में सद्गति और सुख तथा स्वर्ग प्राप्ति की कामना भी कुछ यज्ञों का लक्ष्य है, किन्तु सामान्यतः इहलौकिक कामनाओं का ही प्राधान्य है। यज्ञ का महत्व ब्राह्मण ग्रन्थों की विशेषता है। यज्ञ-विधि की प्रत्येक सूक्ष्मतम प्रक्रिया का अनुशीलन आवश्यक था। इसकी प्रक्रियाओं के प्रत्येक पद के ज्ञान और पालन के ऊपर यज्ञ का फल और यज्ञ-कर्ता का भाग्य निर्भर था। इसकी क्रम-विधि के पालन में किसी प्रकार की भूल पाप समझी जाती थी और उसका परिणाम यज्ञ-कर्ता का अनिष्ट होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि पुरोहितों का महत्व बढ़ गया। वे पृथ्वी के देवता बन गये। उनकी इतनी शक्ति थी कि वे यज्ञ द्वारा देवताओं को अपने यजमानों की याचना पूर्ण करने के लिए बाध्य कर सकते थे। यज्ञ की महत्ता और शक्ति देवता से भी अधिक हो गई। पुरोहितों की दक्षिणा का महत्व ब्राह्मणों में पद पद पर बताया गया है। यज्ञ कर्ता का बहुत कुछ पुण्य दक्षिणा की मात्रा पर निर्भर करता था। इस प्रकार यज्ञ-विधि के ज्ञाता और याजन के अधिकारी पुरोहितों का एक उच्च वर्ग बन गया और चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था ने निश्चित रूप ग्रहण कर लिया। वर्णाश्रम की व्यवस्था ब्राह्मणों की विशेष देन है। ऋग्वेद के युग का व्यावहारिक वर्ण-विभाजन जो गुण पर आश्रित था जन्माधिकार के अनुकूल रूढ़ हो गया। पुनर्जन्म और जन्मचक्र का सिद्धान्त भी ब्राह्मणों में आकर ही वैदिक धर्म का निश्चित अंग बना।

ऋग्वेद के देवताओं की स्थिति में परिवर्तन भी ब्राह्मणों का एक उल्लेखनीय विकास है। वरुण अब विश्व के शासक नहीं रहे और न

इन्द्र युद्ध के पराक्रमी देवता रहे। एक समुद्र के देवता हो जाते हैं और दूसरे स्वर्ग के वैभवशाली सम्राट। उनके स्थान पर विष्णु, रुद्र, शिव और प्रजापति की प्रतिष्ठा होती है। उत्तर काल के महाकाव्यों और पुराणों तथा अर्वाचीन वैष्णव मतों का मूल हमें यहाँ मिलता है। वैदिक काल की खण्डित प्रतिमाओं से ही पौराणिक युग का धर्म-मन्दिर अलंकृत हुआ है। अनेक सृष्टि विषयक आख्यानों में, जिनमें **शतपथ ब्राह्मण** में प्राप्त प्रलय की कथा भी है, ब्राह्मणों का सृष्टि-शास्त्र विषयक चिन्तन पाया जाता है। इन विविध और विचित्र सृष्टि विषयक कल्पनाओं का एक विशेष लक्षण यह है कि इनमें ब्रह्म को सामान्यतः अखिल सत्ता का आधार माना गया है। इसके आगे उपनिषदों के ब्रह्मकारण-वाद के विकास के लिए एक ही चरण शेष था। इस ब्रह्मकारणवाद के सिद्धान्त का भी पूर्वाभास हमें शतपथ ब्राह्मण में मिलता है।

कर्म-काण्ड-प्रधान होते हुये भी ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक आचार और नैतिक-विचार का विकास दृष्टि गोचर होता है। तीन ऋण की कल्पना ब्राह्मणों के नैतिक आदर्श का मूल है। ऋण मनुष्य के कर्तव्य का बोधक है। ऋण तीन प्रकार के हैं—देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ-ऋण। यज्ञ द्वारा देवताओं का, वेदाध्ययन-पूर्वक संस्कृति और धर्म के संरक्षण द्वारा ऋषियों का तथा सन्तानोत्पादन-पूर्वक जाति संवर्द्धन द्वारा पूर्वजों का ऋण चुकाना मनुष्य का परम धर्म है। इन तीन ऋणों को हम क्रमशः मनुष्य के धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक कर्तव्य कह सकते हैं। इन कर्तव्यों के अतिरिक्त दया, दान, संयम आदि नैतिक गुणों का महत्त्व ब्राह्मण-नीति में माना गया है।

७—आरण्यक धर्म

आरण्यक ब्राह्मण और उपनिषदों के अन्तवर्ती ग्रन्थ हैं। उनमें हम ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड की उपनिषदों के अध्यात्मवाद में विकास

गति खोज सकते हैं। उनमें हम ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड का प्रभाव तथा उपनिषदों के अध्यात्मवाद की सम्भावना पाते हैं। यद्यपि आरण्यकों का विषय और धर्म ब्राह्मणों की भांति यज्ञ और कर्म ही है, फिर भी हम उनमें अन्तरीक्षण, चिन्तन और ध्यान की विकास-शील अभिव्यक्ति पाते हैं। विविध यज्ञ और कर्मों के बाह्य अनुष्ठान से उनके प्रतीकात्मक रूप और रहस्य के ध्यान की ओर विकास आरण्यकों की विशेषता है। यद्यपि इस याज्ञिक प्रतीकवाद और धार्मिक रहस्यवाद के चिन्ह ब्राह्मणों में भी यत्र-तत्र पाये जाते हैं, किन्तु आरण्यकों का यह मुख्य विषय और प्रधान विशेषता है। ओंकार की उपासना, जिससे छान्दोग्य उपनिषद् का आरम्भ होता है, इस प्रतीकात्मक रहस्यवाद का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। बृहदारण्यक उपनिषद के प्रथम ब्राह्मण में अश्व का विराट रूपक तथा अश्वमेध का विश्व-रूप अश्व के ध्यान में परिवर्तन याज्ञिक प्रतीकवाद का एक सुन्दर और महत्वपूर्ण उदाहरण है। आरण्यकों के इस याज्ञिक प्रतीकवाद और प्रतीकात्मक रहस्यवाद का क्रमशः उपनिषदों के वास्तविक दार्शनिक चिन्तन में विकास हुआ जो वैदिक विचार-प्रगति की पराकाष्ठा अंकित करता है।

८—उपनिषद् दर्शन

उपनिषद् वैदिक चिन्तन के विकास के उत्तरकाल में विचार-दृष्टि के एक महान परिवर्तन की प्रतीक हैं। उनमें हम वेदों के पूर्वभाग ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड की आस्था से विपरीत तथा कभी कभी उसके विरुद्ध भावना का प्राधान्य पाते हैं। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड की निन्दा की गई है। **मुण्डक उपनिषद्** में यज्ञ-कर्मों की अदृढ़ प्लवों से उपमा दी गई है तथा उन लोगों को जो उनके द्वारा भवसागर पार करने की आशा रखते हैं मूढ़ माना गया है। जो पुरोहितों में विश्वास रखते हैं तथा पुण्य और श्रेय के लिए यज्ञों पर आश्रित रहते हैं वे अन्धों के द्वारा नीयमान अन्धों के समान

हैं। उपनिषदों में कर्म के स्थान पर ज्ञान का प्राधान्य है। उनकी प्रगति उपासना से ध्यान की ओर, यज्ञ से चिन्तन की ओर बाह्य प्रकृति की आराधना से अन्तरात्मा की खोज की ओर है। प्रकृति के विस्मयपूर्ण अनुराग तथा बाह्य जीवन के कर्म और अनुष्ठानों से हट कर हमारा ध्यान आत्मा के ज्ञान की ओर आकृष्ट होता है। एक शब्द में याज्ञिक धर्म से हम आध्यात्मिक दर्शन की ओर बढ़ते हैं।

यद्यपि उपनिषदों की प्रकृति और उनकी भावना वेदों के पूर्व-भाग-भूत ब्राह्मणों से बहुत भिन्न हैं, फिर भी उपनिषद वैदिक चिन्तन का पर्यवसान मानी जाती हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद के बिखरे हुए चिन्तन तथा ब्राह्मणों और आरण्यकों के संक्रान्ति-कालीन प्रतीकवाद और रहस्यवाद का पर्यवसान उपनिषदों के तत्व चिन्तन में हुआ। उपनिषद वेद के अन्तिम भाग हैं तथा वैदिक चिन्तन का पर्यवसान अंकित करती हैं, अतः उनकी 'वेदान्त' संज्ञा सार्थक ही है। वस्तुतः कालक्रम और विचार प्रगति दोनों ही दृष्टियों से उपनिषद 'वेदों' का 'अन्त' हैं।

उपनिषदों की संख्या वैसे तो बहुत है किन्तु उनमें से १४ उपनिषद ही प्राचीन तथा प्रामाणिक हैं। उनका उल्लेख ऊपर किया गया है। ये १४ उपनिषद भी किसी एक युग की सृष्टि नहीं है और न वे किसी एक व्यक्ति की रचनाएँ हैं। उनमें अनेक प्रकार की शैलियां पाई जाती हैं, और उनकी विषय वस्तु भी विविधता से पूर्ण है। यद्यपि भारतीय आचार्यों का यह विश्वास रहा है कि उपनिषदों में एक समन्वित दर्शन सिद्धान्त पाया जाता है, यह एक धार्मिक आस्था मात्र है, तार्किक सत्य नहीं। ऐतिहासिक आलोचना की दृष्टि से उपनिषदों में दार्शनिक सिद्धान्तों की विविधता पाई जाती है। उपनिषदों के सिद्धांतों के समन्वय के सभी प्रयास अभी तक असफल रहे हैं। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में उपनिषदों के तत्वों के सामञ्जस्य तथा ब्रह्मसूत्र में उनके सिद्धान्तों के तार्किक समन्वय की चेष्टा की गई है, किन्तु इन दोनों ही

प्रयासों का प्रयोजन वस्तुतः सिद्ध न हो सका क्योंकि आगे चल कर इन्हीं के आधार पर भिन्न भिन्न वेदान्त और वैष्णव सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। ये सभी सम्प्रदाय परस्पर विरोधी होते हुए भी अपने को उपनिषदों का उत्तराधिकारी मानते हैं और उपनिषदों में अपने सिद्धान्तों का मूल खोजने की चेष्टा करते हैं। कुछ अंशों में सभी मतों का उपनिषदों में आधार मिल जाता है, यह उनमें विभिन्न विचार तत्वों की उपस्थिति का प्रबल प्रमाण है। अस्तु, उपनिषद् किसी एक निश्चित और सीमित युग की सृष्टि नहीं है तथा किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है; अतएव उनमें दर्शन का कोई एक समन्वित सिद्धांत नहीं पाया जाता, इस तत्त्व को स्वीकार करना ही होगा, यद्यपि इसे आवश्यकता से अधिक महत्व देना उचित नहीं। उपनिषद् एक दार्शनिक क्रान्ति के युग की सृष्टि हैं अतः उनके विचार की एक दिशा है और एक लक्ष्य है चाहे उनमें प्राप्त होने वाली विचारधाराओं के पथ भिन्न हों। विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों में मतभेद, कहीं कहीं विरोध होते हुए भी उपनिषदों में भावना और किसी सीमा तक, विषय की भी, सामान्य एकता है।

ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड के विपरीत दृष्टि-कोण और भावना सभी प्राचीन उपनिषदों का सामान्य लक्षण हैं। वे सामान्य रूप से आध्यात्मिक, आदर्शवादी और अद्वैतवादी हैं। वेदों में विकसित होते हुए एकेश्वरवाद का अद्वैतवाद में पर्यवसान हुआ है। उपनिषदों में प्राप्त जीवन के प्रति दृष्टिकोण में यह परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है। ब्राह्मणों का भौतिकवाद उपनिषदों के अध्यात्मवाद में परिणत हो जाता है। उपनिषदों के विचार की प्रेरणा कर्म से प्राप्त होने वाला इहलौकिक सुख अथवा पारलौकिक श्रेय नहीं है, वरन् जीवन के चरम तत्व की तीव्र जिज्ञासा है। उनके अनुसार आत्मा हमारी भौतिक सत्ता और शारीरिक जीवन में अन्तर्निहित गूढ़ सत्य है। आत्मा का महत्व और भौतिक तत्वों का तदाश्रयत्व उपनिषदों में आदर्शवाद का प्रतीक है।

यह आत्मा वास्तव में एक है, जो प्रकृति और मानव में समान रूप से व्याप्त है। यह आत्मा सम्पूर्ण सत्ता का उद्गम है, साथ ही हमारे जीवन का चरम लक्ष्य भी है। यह चरम सत्य भी है तथा मनुष्य का परम श्रेय भी है। इस आत्मा का अनुभव तथा परमश्रेय के रूप में इसकी सिद्धि हमारे जीवन की कृतार्थता है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। विश्व का ब्रह्म से तादात्म्य है अतः उपनिषदों का मूल सिद्धांत आत्मा, ब्रह्म और जगत का अद्वैत है।

वेदों के लौकिक बहुदेववाद तथा ब्राह्मणों के भौतिकवाद से उपनिषदों के आध्यात्मिक अद्वैतवाद के विकास का इतिहास बड़ा रोचक है। हम देख चुके हैं कि वैदिक उपासना में अनेक देवताओं की सत्ता व्यावहारिक दृष्टि से भ्रान्ति-जनक तथा बौद्धिक-दृष्टि से असन्तोष-जनक सिद्ध हुई। प्राकृतिक नियमों की व्यवस्था में वैदिक ऋषियों को विश्व की विविध सत्ता के मूल में निहित एकत्व का प्रथम आभास हुआ। प्राकृतिक व्यवस्था के साथ साथ नैतिक व्यवस्था का भी 'ऋत' के अर्थ में अन्तर्भाव जगत और जीवन दोनों के आधारभूत एक समान तत्व के अनुभव का सूचक है। विश्व के शासक और मानव-जीवन के नियन्ता के रूप में वरुण की कल्पना एकेश्वरवाद के ईश्वर के बहुत निकट है। विश्व के स्रष्टा के रूप में प्रजापति की कल्पना वरुण की कल्पना में स्रष्टाभाव के अभाव की पूरक होने के कारण ईश्वर की कल्पना के और भी निकट है। किन्तु एकत्व की खोज का पर्यवसान एक परमेश्वर की कल्पना में नहीं होता। एक ईश्वर की कल्पना में भी ईश्वर और मनुष्य का द्वैत शेष रह जाता है। साकार परमेश्वर की कल्पना मनुष्य के हृदय की स्वाभाविक भावना की माँग अवश्य है, किन्तु उस परमेश्वर की कल्पना में आत्मा की चरम एकत्व की आकांक्षा पूर्ण नहीं हो सकती। अतः उपनिषदों के विचार का विकास साकार परमेश्वर से भी आगे एक निराकार परम तत्व की ओर हुआ, जिसका नाम 'ब्रह्म' है और जो अखिल सत्ता के एकत्व का मूल

है। **केन उपनिषद्** स्पष्ट शब्दों में उपास्य ईश्वर का निराकरण करती है—'यह (सत्य) वह नहीं है जिसकी तुम उपासना करते हो'। **माण्डूक्य उपनिषद्** भेद-दर्शी को निरन्तर मृत्यु का अभिशाप देती है। इस प्रकार वेदों की एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति का पर्यवसान उपनिषदों के अद्वैतवाद में होता है। किन्तु अद्वैतवाद के आधार-भूत एकत्व का सिद्धान्त उपनिषदों का अन्वेषण नहीं है। प्राचीन भारतवासी स्वभाव से ही चिन्तन-शील थे, अतः सूक्ष्म विचार के विक्षेप के कारण वैदिक देवताओं की कल्पना पूर्ण रूप से मूर्त नहीं। प्राकृतिक शक्तियों का यह अपूर्ण मानवीकरण अथवा दैवीकरण एकेश्वरवाद के विकास और अद्वैतवाद के पर्यवसान में सहायक हुआ। परमेश्वर की कल्पना भी कुछ निराकार सी ही है। 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' में 'एक' की कल्पना साकार पुरुष के रूप में नहीं वरन् एक निराकार तत्व के रूप में की गई है। नारदीय सूक्त में भी जिस 'एक' को अखिल सत्ता का मूल माना गया है उसका उल्लेख नपुंसक लिङ्ग (तदेकम्) में किया गया है। पुरुष सूक्त में पुरुष के साथ विश्व के एकत्व का रूपक अद्वैतवाद के विकास का एक अन्तर्वर्ती चरण है। चरम सत्य की अनन्त प्रकृति के कारण उसको किन्हीं विशेषणों में व्यक्त करना सदा कठिन रहा है। व्यक्तित्व का विशेषण भी अन्ततः सन्तोषजनक नहीं है। अस्तु, अखिल सत्ता के एक मूल सिद्धान्त के रूप में जो एकत्व की खोज ऋग्वेद में आरम्भ हुई थी उसका पर्यवसान उपनिषदों के एक आध्यात्मिक तत्व के उद्घाटन में हुआ, जो सम्पूर्ण सत्ता का मूल उद्गम है और जीवन का चरम लक्ष्य भी है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस एकत्व की कल्पना का विकास और पर्यवसान दो स्वतन्त्र प्रतीत होने वाली विचारधाराओं के सम्मिश्रण और समन्वय से हुआ। पहली विचारधारा आरम्भिक वैदिक युग की विश्व के मूल तत्त्व की खोज में निहित बाह्य दृष्टि-कोण है। दूसरी विचारधारा उत्तर वैदिक काल की मनुष्य में अन्तर्निहित सत्य की

खोज का आन्तरिक दृष्टि-कोण है। पहली विचारधारा ने 'ब्रह्म' में विश्व का कारण पाया और दूसरी विचारधारा ने 'आत्मा' में मनुष्य की सत्ता का सार। 'ब्रह्म' का मूल अर्थ प्रार्थना, स्तुति अथवा स्तोत्र था। स्तोत्र का शब्द रूप में स्फोट होता है। आगे चल कर ब्रह्म का अर्थ विश्व का कारण हो गया जो सृष्टि के रूप में स्फुटित होता है। 'आत्मा' का मूल अर्थ प्राण है। प्राण मनुष्य की सत्ता का सार है। अस्तु, आत्मा का अर्थ सार अथवा स्वरूप, विशेषकर मनुष्य का वास्तविक स्वरूप हो गया। विचार के विकास-क्रम में ब्रह्म से अभिप्रेत विश्व के कारण और आत्मा से अभिप्रेत मनुष्य के सार स्वरूप का एकीकरण हो गया। ब्रह्म और आत्मा का, विश्व के कारण और मनुष्य के स्वरूप का, तादात्म्य हो गया। बाह्य सत्य का आन्तरिक तत्त्व से एकाकार हो गया और इस एकीकरण से दोनों के मूल एकत्व का उद्घाटन हुआ तथा इस एकत्व की कल्पना में मनुष्य की जिज्ञासा का पूर्ण पर्यवसान हुआ।

वैदिक विचारधारा के इस विकास-क्रम द्वारा ब्रह्म और आत्मा के अर्थ-संकर एवं प्रयोग-भ्रान्ति तथा उत्तर वेदान्त में उनके अर्थैकत्व का समाधान हो जाता है। वेदान्त के महावाक्यों में इसी चरम एकत्व की विविध प्रकार से अभिव्यक्ति हुई है। 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्वमसि' इसी चरम आध्यात्मिक तत्व ब्रह्म का मनुष्य की सत्ता के मूल सत्य के रूप में उत्तम और मध्यम पुरुष में निर्वचन करते हैं। 'अयमात्मा ब्रह्म' प्रथम पुरुष में उसी का निर्वचन है और बाह्य तथा आन्तरिक तत्त्वों—ब्रह्म और आत्मा—के एकत्व का निर्देश है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' उस चरम तत्त्व के चैतन्य स्वरूप का निर्देश करता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' जीवन और जगत के सामान्य सत्य के रूप में उस चरम तत्व का निर्वचन कर एकत्व की खोज का पर्यवसान अंकित करता है। एकत्व का यह आध्यात्मिक तत्व चरम सत्य है, साथ ही हमारे जीवन का परम लक्ष्य भी है। यह विश्व का मूल उद्गम है और साथ ही मनुष्य का परम साध्य भी।

ब्रह्म अथवा आत्मा के रूप से वर्णित जीवन और जगत के इस चरम एकत्व की कल्पना में उन दोनों ही विचारधाराओं की विशेषताओं का समन्वय हुआ है जिनके सम्मिश्रण से इसका उद्घाटन हुआ। ब्रह्म अखिल विश्व का कारण है। अतः विश्व के अनन्त होने के कारण ब्रह्म की अनन्त रूप से कल्पना स्वाभाविक थी। मनुष्य का अन्तरतम स्वरूप होने के कारण आत्म-चैतन्य की निश्चितता आत्मा का स्वाभाविक लक्षण है। इन दोनों विचारधाराओं के सम्मिश्रण का फल ब्रह्म और आत्मा का तादात्म्य हुआ और उस तादात्म्य में लक्षण-समन्वय के द्वारा चरम सत्य का एक अनन्त और आध्यात्मिक तत्व के रूप में उद्घाटन हुआ जो सम्पूर्ण जगत और जीवन का सार, आधार, उद्गम और लक्ष्य है। इस चरम तत्व में विश्व के कारण (ब्रह्म) की अनन्तता और मनुष्य की आत्मा की अव्यवहित चेतनता का समवाय था। उपनिषदों में सान्त को सदा विकार और दुःख से पूर्ण माना गया है। अनन्त में ही आनन्द है। इस प्रकार अनन्त और चैतन्य के साथ आनन्द के सम्मिश्रण से ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई। यह ब्रह्म-रूप चरम सत्य विश्व का कारण तथा जीवन का का परम लक्ष्य है। उपनिषदों में उसे 'तज्जलान्' कहा गया है जिसका अर्थ यह है कि ब्रह्म वह परम तत्व है जिससे समस्त भूतों का उदय होता है, जिसमें उनकी स्थिति है और जिसमें अन्त में उनका निलय होता है।

सत्, चित् और आनन्द के रूप में ब्रह्म का लक्षण तथा उसके जगत्कारणत्व की कल्पना का उपनिषदों तथा उत्तर वेदान्त में महत्वपूर्ण स्थान है। फिर भी ब्रह्म के सर्वातीत स्वरूप का संकेत भी उपनिषदों में मिलता है। उत्तर वेदान्त में ब्रह्म के इसी स्वरूप का प्राधान्य है। सत्य के साम्राज्य में प्रपञ्चात्मक जगत का कोई वास्तविक स्थान है अथवा नहीं यह वेदान्त का एक अत्यन्त विवादास्पद विषय है। उपनिषदों में निर्देशात्मक तथा निषेधात्मक दोनों प्रवृत्तियाँ पाई जाती

हैं। कहीं कहीं एक ही मन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण और उसका निषेध साथ ही साथ किया गया है। समस्त निरूपण के बाद भी उसे इन्द्रियों, वाणी, मन, आदि सबसे परे मान कर परात्पर कहा गया है। केवल 'नेति नेति' से ही उसका निर्वचन हो सकता है। ब्रह्म की इस सर्वातीत कल्पना के कारण ही ऐसी धारणा उत्पन्न हुई है कि ब्रह्म में प्रपञ्चात्मक जगत का निषेध ही वेदान्त का मूल मत है। यह स्पष्ट है कि उपनिषदों का ब्रह्म उत्तर वेदान्त के ब्रह्म की भाँति स्वरूप रहित एकत्व नहीं है। वह अनन्त होने के कारण सर्वातीत है और वस्तुतः बोध और सत्ता की सभी सामान्य कोटियों से परे है; किन्तु सर्वातीत होने के साथ साथ वह सर्वव्यापक भी है क्योंकि वह अखिल सत्ता का उद्गम और आधार है। उपनिषदों में जगत के मिथ्यात्व का संकेत मिलना कठिन है। जिस विस्तार के साथ उपनिषदों में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है उससे यही प्रमाणित होता है कि उत्तर वेदान्त की भाँति उपनिषदों में जगत को मिथ्या नहीं माना गया है। इससे विपरीत उपनिषदों में ब्रह्म के शाश्वत सत्य में विश्व का आधार खोजने की चेष्टा की गई है। उपनिषद काल के ऋषियों और मुनियों के जीवन और विचार में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि वे जगत के सत्य और जीवन के मूल्यों का निषेध करते थे। यह अवश्य है कि शाश्वत और अविकार्य ब्रह्म को सृष्टि-प्रक्रिया का आधार मानने में जो तात्विक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं उनकी स्पष्ट चेतना उपनिषद काल में जाग्रत नहीं हुई थी। आगे चल कर इन्हीं कठिनाइयों के कारण उत्तर वेदान्त में माया-वाद के सिद्धान्त का विकास हुआ जिसका अभिप्राय जगत का मिथ्यात्व और जीवन की निरर्थकता था।

ब्रह्म विश्व का मूल कारण और मनुष्य का चरम लक्ष्य है। ब्रह्म की प्राप्ति मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। ब्रह्म आत्मा भी है। अतः विश्व का चरम सत्य हमारी सत्ता का अन्तरतम सार भी है।

अतएव किन्हीं बाह्य साधनों के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव नहीं। अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए बाह्य साधनों को अपेक्षा नहीं होती। ब्रह्म समस्त भूतों की आत्मा है। आत्मा चैतन्य स्वरूप है, अतः वह हमारे समस्त ज्ञान का आधार है। हमें आत्मा के द्वारा ही सब ज्ञान प्राप्त होता है। इस सर्वज्ञाता का और अन्य ज्ञाता कौन होगा? जिसके द्वारा हम सब कुछ जानते हैं उसको जानने का और साधन क्या होगा? वस्तुतः आत्मा सामान्य ज्ञान की सभी कोटियों से परे है। ज्ञान के सामान्य विषयों की भांति आत्मा का अनुभव सम्भव नहीं। जो कोई यह कहता है कि मैं आत्मा को जानता हूँ उसे वस्तुतः आत्मा का ज्ञान नहीं है। जिसे आत्मा का ज्ञान है उसके लिए यह कहना कठिन है कि वह आत्मा को जानता है। **केन उपनिषद्** की इस पहेली का अभिप्राय यही है कि आत्मा ज्ञान का 'विषय' नहीं है वह अनुभव का सार तथा आधार है। हम ब्रह्म का 'ज्ञान' प्राप्त नहीं कर सकते यद्यपि हम ब्रह्म 'भाव' की प्राप्ति कर सकते हैं। वस्तुत: '**हम ब्रह्म** है।' हमें केवल अपने इस ब्रह्म भाव का साक्षात् अनुभव करना है। ब्रह्म भाव के तात्विक सत्य को साक्षात् अनुभव के तथ्य के रूप में परिणत करना है। इसीलिए कहा जाता है कि जो ब्रह्म को 'जानता है' वह ब्रह्म ही 'हो जाता है'। ब्रह्म का 'ज्ञाता' ब्रह्म 'भाव' को प्राप्त होता है। यह ब्रह्म भाव की प्राप्ति कोई काल-क्रम-गत प्रक्रिया नहीं है वरन् एक अकाल क्षण में एक शाश्वत सत्य का साक्षात् अनुभव है। कोई भी कालगत साधन इस शाश्वत सत्य की प्राप्ति के साक्षात् कारण नहीं हो सकते; वे केवल उसकी प्राप्ति में आरात् उपकारक हैं। उनका महत्व उन परिस्थितियों की सृष्टि में है जिनमें ब्रह्म का अनुभव सम्भव है। सामान्यतः श्रवण, मनन और निदिध्यासन आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के साधन माने गये हैं। श्रवण का अर्थ गुरुमुख से श्रुति-निहित सत्य की शिक्षा प्राप्त करना है। उपनिषदों में आचार्य का महत्व बहुत माना गया है। श्रुति में निहित रहस्य-तत्वों का उद्घाटन एक तत्व-

ज्ञानी गुरु ही कर सकता है। किन्तु आचार्य से तत्व का उपदेश प्राप्त करना आध्यात्मिक साधना का आरम्भ मात्र है। इस उपदेश से उस तत्व का आभास ही प्राप्त हो सकता है, साक्षात् अनुभव नहीं। अतः आचार्य के उपदेश से प्राप्त तत्व को मनन द्वारा बुद्धि-निष्ठ करना वेदान्त-चर्या का द्वितीय चरण है। ब्रह्म ज्ञान केवल बौद्धिकनिष्ठा नहीं है वरन् अनुभव में ब्रह्म का साक्षात्कार है। अतः निरन्तर ध्यान के द्वारा इस बौद्धिक निष्ठा को साक्षात् अनुभव में परिणत करना आवश्यक है। इस साक्षात् अनुभव में ही हमारी आध्यात्मिक साधना का पर्यवसान है।

यह साक्षात् अनुभव जीवन-काल में ही प्राप्य है और उसकी प्राप्ति की एक व्यावहारिक साधन प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के प्रसंग में नैतिक कर्म और आचार का महत्व उपनिषदों में माना गया है। यद्यपि मोक्ष का साक्षात् कारण ज्ञान है, फिर भी आत्मसंस्कार द्वारा नैतिक आचार, वैराग्य, तप आदि मोक्ष के उपकारक हैं। इस उपकारकता में ही कर्म और आचार का मूल्य है। मोक्ष परम और अक्षय शान्ति की अवस्था है। किन्तु यह जड़ता की निष्क्रिय शान्ति नहीं। सर्वात्मभावपूर्वक लोक-संग्रहार्थ कर्म मुक्त के लिये संभव ही नहीं वाञ्छनीय है। मोक्ष से कर्म का समन्वय उपनिषदों के विचार की महत्वपूर्ण देन है।

भाग ३

विचार और विश्वास में क्रान्ति

(चार्वाक दर्शन, जैन और बौद्ध धर्म तथा दर्शन)

अध्याय–१

प्रस्तावना

आरम्भिक वैदिक युग का धर्म मुख्यतः कर्म-काण्ड था। विविध यज्ञ, कर्म और अनुष्ठानों का सम्पादन ही इस धर्म का व्यावहारिक रूप था। इस धर्म का प्रयोजन प्रायः लौकिक तथा भौतिक श्रेय था। अधिकांश यज्ञ-कर्मों का उद्देश्य देवताओं से लौकिक और भौतिक वस्तुओं के लिए याचना करना था। स्वास्थ्य, सुख, सम्पत्ति, सन्तान, पशु आदि की प्राप्ति के लिए प्रायः देवताओं की अर्चना की जाती थी। किन्तु भौतिक और लौकिक श्रेय मात्र से मनुष्य की अन्तरात्मा का सन्तोष नहीं हो सकता। देवताओं के द्वारा लौकिक वस्तुओं के वर-दान से आत्मा की तत्वाकांक्षा का समाधान नहीं हो सकता। अतः वेदों के भौतिकवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। वैदिक परम्परा के अन्तर्गत ही उपनिषदों के नाम से प्रसिद्ध वेदों के अन्तिम भागों में यह प्रतिक्रिया स्पष्ट प्रतिलक्षित होती है। वेदों के पूर्व भागों (ब्राह्मणों) के विपरीत उपनिषदों की विचार-प्रगति भौतिकवाद से अध्यात्मवाद की ओर दिखाई देती है। किन्तु आन्तरिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति प्रायः जीवन और चिन्तन में एक स्फुट क्रान्ति के रूप में होती है। दृष्टिकोण और विश्वास में एक हलका सा मतभेद कभी कभी एक उग्र क्रान्ति का पथ प्रशस्त करता है। भारतीय दर्शन के इतिहास में ऐसा ही हुआ।

ब्राह्मणों के युग में वैदिक कर्म-काण्ड का स्वरूप बहुत विकसित तथा वह विधि, नियम आदि के निबन्धनों से अत्यन्त सीमित भी हो गया था। ऋग्वेद की सरल स्तुतियों और सुगम यज्ञ-कर्मों का स्थान एक विस्तृत नियम-विधान ने ले लिया था। एक दृष्टि से पुरोहित वर्ग

का उदय इस विकास का कारण था, दूसरी दृष्टि से पुरोहित वर्ग का उदय स्वयं इस विकास का परिणाम था। यज्ञ-कर्मों के विषय में विधि-नियमादि का अभाव तो कभी नहीं था; किन्तु धीरे धीरे यज्ञ कर्मों की प्रणाली में विधि का बन्धन और नियमों का निबन्धन बढ़ता गया। यज्ञ-कर्मों की प्रक्रिया और प्रणाली के विविध अंग-प्रत्यंग और नियम-विधान क्रमशः इतने सूक्ष्म और विस्तृत हो गये कि उन सब का सम्यक् अनुशीलन और पूर्णतः पालन साधारण जन की सामर्थ्य की बात न रही। ऐसी परिस्थिति में इन विधि-नियमों के ज्ञाता तथा यज्ञ-कराने के अधिकारी एक पुरोहित वर्ग की स्वाभाविक अपेक्षा हुई और इस अपेक्षा में ही इस वर्ग के उदय का मूल कारण था। किन्तु यज्ञ-कर्म की प्रणाली और प्रक्रिया के नियम-विधानों का एकाधिकार प्राप्त कर यह वर्ग अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिए तथा अपनी प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए एक वैदिक रूढ़िवाद की रचना में लग गया। किसी भी परम्परा के रूढ़ हो जाने पर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उन विचारधाराओं का उदय हुआ जिन्हें वैदिक सम्प्रदायों में 'नास्तिक' दर्शनों के नाम से पुकारा जाता है। वेद के विरुद्ध होने के कारण ही ये दर्शन नास्तिक कहलाते हैं। इस प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति जिस विचार-क्रान्ति में हुई वह सामान्यतः जैन और बौद्ध दर्शनों के उदय के रूप में भारतीय चिन्तन के इतिहास में विख्यात है। वैदिक परम्परा के विरोधियों में चार्वाक-दर्शन भी सम्मिलित है। जैसा कहा जा चुका है वैदिक धर्म विस्तृत नियम-प्रणाली से प्रतिबद्ध तथा मुख्यतः भौतिक-वादी था। चार्वाक-दर्शन का विरोध वैदिक धर्म के भौतिकवाद से नहीं वरन् केवल उसके कर्म-काण्ड से था। स्वयं भौतिकवादी होने के कारण चार्वाक-दर्शन का प्रभाव लोगों पर अधिक नहीं पड़ा। अतः चार्वाक दर्शन वैदिक धर्म के विरुद्ध एक जीवित परम्परा नहीं बन सका। इसी कारण इसके विकास और सिद्धान्तों का कोई क्रमिक इतिहास

उपलब्ध नहीं है। चार्वाक दर्शन के उदयकाल और इसके प्रवर्तक के जीवन और उसकी रचनाओं के विषय में कोई प्रामाणिक परिचय प्राप्त नहीं। अन्य दर्शनों के ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले प्रसंग ही इस सम्प्रदाय के विषय में हमारे परिचय के आधार हैं।

स्वयं भौतिकवादी होने के कारण चार्वाक दर्शन जनता के सामने ब्राह्मण-धर्म की अपेक्षा कोई श्रेष्ठतर आदर्श उपस्थित नहीं कर सका। मनुष्य की आध्यात्मिक आकांक्षा की पूर्ति एक अन्य प्रकार के भौतिक दर्शन से ही नहीं हो सकती। ब्राह्मण धर्म में देवता-तत्व और रहस्य-तत्व उसे एक अपूर्व पवित्रता की भावना प्रदान कर देता है। चार्वाक दर्शन का निरीश्वर भौतिकवाद एक विकासहीन क्रान्ति थी। जिस जनता को वैदिक कर्म-काण्ड के पथ से हटाकर एक दूसरे मार्ग पर लाने के लिए इस दर्शन का उदय हुआ। उसके लिए दिव्यता और पवित्रता के अभाव के कारण यह आकर्षक न बन सका। पूर्णतः लौकिक तथा भौतिक होने के कारण यह विद्वानों के लिए भी सन्तोषकारक सिद्ध न हो सका। विद्वानों के द्वारा उपेक्षित रहने के कारण ही आज इसका साहित्य उपलब्ध नहीं है। विद्वानों और विचारकों के हाथों इसे केवल इतना ही महत्व मिला है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में आलोचना अथवा खण्डन के उद्देश्य से इसकी चर्चा की है। प्रधानतः खण्डनात्मक होने के कारण देश के चिन्तन के विकास में इसका सहयोग भी अधिक नहीं है। उपनिषदों के दर्शन से भिन्न कुछ यथार्थ-वादी दर्शनों के उदय और विकास में इसकी प्रेरणा रही हो यह असम्भव नहीं है। चार्वाक दर्शन को वैदिक विचार-परम्परा और ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड के विरुद्ध क्रान्ति का खण्डनात्मक पक्ष मानना अधिक अन्याय्य नहीं है।

जैन और बौद्ध धर्मों के उत्थान में यह क्रान्ति एक रचनात्मक रूप धारण कर लेती है। इन दो महान धर्मों का उदय भारतीय दर्शन के इतिहास में एक नवीन युग का आरम्भ है। ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड और भौतिकवाद के विरुद्ध उपनिषदों में अलक्षित रूप से विकसित होती

हुई आध्यात्मिक प्रतिक्रिया जैन और बौद्ध धर्मों से एक स्फुट क्रान्ति के रूप में प्रकट हुई। यद्यपि उपनिषदों की भावना और उनका विषय वेदों के पूर्व-भाग ब्राह्मणों से अत्यन्त भिन्न है फिर भी उपनिषद वैदिक साहित्य परम्परा के ही अन्तर्गत हैं। वे वेदों के सबसे महत्वपूर्ण अंग हैं और उनमें वैदिक विचारधारा का पर्यवसान माना जाता है। एक स्फुट क्रान्ति की अपेक्षा उपनिषद् दर्शन को वैदिक विचार परम्परा के क्रमिक विकास का पर्यवसान मानना ही अधिक उचित है। किन्तु जैन और बौद्ध धर्मों का उदय एक प्रत्यक्ष क्रान्ति के रूप में हुआ। यद्यपि इन दोनों धर्मों को उपनिषदों से बहुत प्रेरणा मिली हैं और दोनों ने उपनिषदों से महत्व पूर्ण विचार-तत्वों का ग्रहण किया है, इन दोनों ही धर्मों ने वेदों की मान्यता का स्पष्ट रूप से निराकरण किया है। जहाँ उपनिषद् वैदिक परम्परा के अन्तर्गत हैं, जैन और बौद्ध धर्म वैदिक परम्परा से पूर्णतः वहिर्भूत और उसके प्रत्यक्ष विरोधी हैं। वेदों की अमान्यता और ईश्वर की सत्ता में अवि-श्वास जैन और बौद्ध धर्मों का सामान्य लक्षण है। वैदिक धर्म एक प्रकार का रूढ़िवादी बहुदेववाद अथवा एकेश्वरवाद था। समस्त सिद्धान्तों और विधानों की मान्यता का आधार वेदों की अतर्कनीय मान्यता थी। वेदों का उदय और अधिकार दोनों ही दिव्य हैं। वेद ईश्वर के निःश्वसित हैं। ईश्वर के वचन होने के कारण वे सदा सर्व मान्य हैं। देवताओं के निमित्त यज्ञ अथवा आगे चल कर परमेश्वर की उपासना जीवन का परम लक्ष्य है। किन्तु जैन-बौद्ध दर्शन न वेद के अधिकार को मानते हैं और न वे ईश्वर के अस्तिव में विश्वास करते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से वेद और ईश्वर दोनों का निराकरण इन दोनों धर्मों का मुख्य लक्षण है। यद्यपि व्यवहार में इन मन्तव्यों का पालन कठिन है। इन दोनों धर्मों में महावीर और बुद्ध के शब्द वही स्थान रखते हैं जो स्थान वैदिक परम्परा में वेदों का है। ईश्वर को न मानते हुए भी इन दोनों धर्मों में महावीर और बुद्ध का स्थान वही है जो

स्पष्ट रूप से ईश्वर को मानने वाले ईश्वरवादी सम्प्रदायों में ईश्वर का है। सत्य यह है कि श्रुति अथवा आगम मानव-मन की एक मौलिक तथा स्वाभाविक अपेक्षा है और ईश्वर मानव-आत्मा का परम आश्रय है। जीवन के आधार और पथ-निर्देशक के रूप में एक श्रद्धेय श्रुति और धर्म का प्रेरक तथा श्रेय का संरक्षक परमेश्वर मनुष्य के लिए आवश्यक है। प्रत्यक्ष रूप से उनके निराकरण का परिणाम प्रायः एक अन्य रूप और अपर नाम से उनका समर्थन होता है। अतः जैन और बौद्ध धर्मों में वेदों की अमान्यता आगम मात्र की अमान्यता नहीं है वरन् केवल वेद रूप आगम की ही अमान्यता है। इसी प्रकार ईश्वर का निराकरण भी एक परम ऐश्वर्यवान और आराध्य परम पुरुष का निराकरण नहीं वरन् वैदिक देवताओं अथवा वैदिक ईश्वर का निराकरण मात्र है।

किन्तु जैन और बौद्ध धर्मों के उदय में अभिव्यक्त क्रान्ति चार्वाक दर्शन की भाँति केवल खण्डनात्मक नहीं थी। इन धर्मों का रचनात्मक रूप जनता के लिए अत्यन्त आकर्षक सिद्ध हुआ। इन धर्मों ने लोक के समक्ष जीवन का एक नवीन दृष्टि-कोण रक्खा और वैदिक धर्म के समानान्तर जीवित परम्पराओं का प्रवर्तन किया। भारतवर्ष के इतिहास में कई बार ये धर्म लोकधर्म तथा राजधर्म रहे हैं। विदेशों में भी इनका प्रचार हुआ है। आज भी इन धर्मों की मान्यता है और यह कई देशों के जीवित धर्मों के रूप में वर्तमान हैं। वैदिक विचार-परम्परा के विरोध और खण्डन की प्रधानता होते हुए भी इन धर्मों ने भारतीय चिन्तन के विकास में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। भारतीय चिन्तन में नीति और तर्क-शास्त्र के विकास का बहुत कुछ श्रेय जैन और बौद्ध धर्मों के उदय को ही है। आरम्भिक वैदिक धर्म में कर्म-काण्ड का प्राधान्य था। वह एक रूढ़िवादी और भौतिकवादी धर्म था, यद्यपि उपनिषदों के युग में आध्यात्मिक चिन्तन का विकास हो रहा था। यज्ञ, कर्म आदि वैदिक धर्म के मुख्य अंग थे और वेद के

वचन मनुष्य के जीवन और व्यवहार के एकान्त अनुशासक थे। वेदों में प्राप्त आचार-नीति का स्वरूप बाह्य और प्रयोजनवादी था। वैदिक आचार यज्ञ, कर्म और संस्कारों के अनुष्ठानों तक ही सीमित था। इन सब का उद्देश्य भौतिक श्रेय की प्राप्ति ही था। ब्राह्मण-धर्म में नैतिक गुणों की अपेक्षा यज्ञ-प्रक्रिया के अंगों का अनुशीलन और नियमों का पालन अधिक महत्व पूर्ण था। आन्तरिक भावना और चारित्रिक गुणों के अर्थ में आचार-दर्शन का एक मन्द आभास उपनिषदों की तात्विक चिन्ताओं में ही दृष्टिगत होता है। यद्यपि उपनिषदों में गम्भीर दार्शनिक चिन्तन का विकास हो रहा था, दार्शनिक कल्पनाओं के तार्किक विवेक और बौद्धिक विमर्श की ओर वैदिक विचारकों का ध्यान अधिक नहीं गया था। उपनिषद बौद्धिक की अपेक्षा आध्यात्मिक अधिक हैं, तार्किक की अपेक्षा अनुभूतिपरक अधिक हैं। जैन और बौद्ध धर्मों का स्वरूप जितना दार्शनिक था उतना ही नैतिक तथा सामाजिक भी था। उन्होंने देश के जीवन और चिन्तन दोनों ही क्षेत्रों में क्रान्ति उपस्थित कर दी थी। आरम्भ में उनका उदय नैतिक और सामाजिक आन्दोलनों के रूप में हुआ था। महावीर और बुद्ध के उपदेशों में नैतिक और धार्मिक भावना और विचारों का प्राधान्य है। अस्तु, जैन और बौद्ध धर्मों में नैतिक भावना की प्रधानता भारतीय दर्शन में नैतिक चिन्तन के विकास की प्रेरणा सिद्ध हुई। आरम्भ में प्रधानतः धार्मिक तथा नैतिक होते हुए भी जैन और बौद्ध परम्पराओं में आगे चलकर शीघ्र ही बौद्धिक और तार्किक पक्षों का भी विकास हुआ। वैदिक परम्परा के विरोधी सम्प्रदायों के रूप में उदय होने के कारण वैदिक सम्प्रदायों से उनका संघर्ष स्वाभाविक था। विचार-संघर्ष के क्रम में खण्डन और मण्डन के अस्त्र के रूप में तर्क-शास्त्र का विकास हुआ। विचार-विरोध ने बढ़ कर एक बौद्धिक संग्राम का स्वरूप ग्रहण कर लिया और दार्शनिक युद्ध के अस्त्र के रूप में तर्क-शास्त्र का दोनों

और विकास हुआ। विचार-विरोध और दार्शनिक संघर्ष के वातावरण में विकसित होने के कारण आगे के चिन्तन का स्वरूप तर्क-प्रधान हो गया। किन्तु भारतीय चिन्तन का आधार और प्रयोजन सदा जीवन में रहा है, अतः तर्क-शास्त्र की पर्याप्त उन्नति होते हुए भी घोर से घोर विचार संघर्ष की स्थिति में भी दर्शन का नैतिक पक्ष तिरोहित न हो सका। इस प्रकार जैन और बौद्ध सम्प्रदाय परवर्ती भारतीय चिन्तन सम्प्रदायों में भी नीति-शास्त्र तथा तर्क-शास्त्र के विकास में सहायक हुए।

अध्याय २

चार्वाक दर्शन

१—परिचय, साहित्य और परम्परा

चार्वाक दर्शन एक प्रकार का जड़-वाद है। इसका दृष्टिकोण एक लोक-सामान्य भौतिकवाद है। साधारण जन सामान्यतः प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। जो इन्द्रिय-गोचर है वही उसके लिए सत्य है। व्यावहारिक जीवन की कठिनाइयाँ उसे कभी कभी अनुमान और आगम का आश्रय लेने के लिए बाध्य करती हैं; किन्तु उसके लिए अपने प्रत्यक्ष से बढ़कर ज्ञान का अन्य अधिक विश्वसनीय कोई प्रमाण नहीं। यह प्रत्यक्ष भी प्रायः लौकिक प्रत्यक्ष ही माना जाता है और इसका गोचर लोक भौतिक जगत तक ही सीमित है। अतः लौकिक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाला साधारण जन भौतिक जगत को ही एक मात्र सत्य मानता है। भौतिक जगत को एक मात्र सत्य मान कर जीवन के किसी उच्च आदर्श की कल्पना कठिन है। ऐसे संकीर्ण मत में लौकिक सुख, प्रायः केवल अपना ही सुख, सबसे अधिक स्पृहणीय आदर्श जान पड़ता है। दूसरों के सुख में उसका अनुराग वस्तुतः परोपकार नहीं किन्तु परम्परया एक प्रकार का कुशल स्वार्थ ही है। यह सत्य है कि यह दृष्टिकोण साधारण जन के जीवन का पूर्ण सत्य नहीं है। एक अलौकिक सत्ता—आत्मा अथवा ईश्वर—में विश्वास के क्षण भी प्रायः लोक-जीवन में आते हैं। सच्चे परोपकार और त्याग के उदाहरण भी इतिहास और जीवन में देखने को आते हैं। किन्तु यह कहना भी असत्य नहीं है कि ऊपर निर्दिष्ट सीमित तथा स्वार्थमय दृष्टिकोण अधिकांश जनों का सामान्य दृष्टिकोण है।

चार्वाक दर्शन के उदय और आरम्भिक इतिहास का अधिक परिचय प्राप्त नहीं है। इस सम्प्रदाय का कोई भी मौलिक और स्वतन्त्र

न्थ आज उपलब्ध नहीं होता। अन्य दर्शनों के ग्रन्थों में आलोचना और खण्डन के उद्देश्य से चार्वाक सिद्धान्त के कुछ प्रसंग तथा इस मत के मूल ग्रन्थों के कुछ उद्धरण पाये जाते हैं। चार्वाक दर्शन के विषय में हमारा ज्ञान इन्हीं बिखरे हुए उद्धरणों और प्रसंगों पर अवलंबित है। माधवाचार्य कृति **सर्व-दर्शन-संग्रह** में चार्वाक मत के व्याख्यान के लिए कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं जिन्हें **बृहस्पति सूत्र** से गृहीत बताया गया है। **बृहस्पति-सूत्र** ही चार्वाक मत का मूल ग्रन्थ माना जाता है। यह निश्चय करना कठिन है कि यह बृहस्पति कौन थे। सम्भव है इस नाम के किसी आचार्य ने चार्वाक मत का प्रवर्तन किया हो। किन्तु आज उनके काल और व्यक्तित्व के विषय में कोई भी निर्धारण सम्भव नहीं। एक परम्परा-गत प्रवाद यह भी है कि देवताओं के गुरु बृहस्पति ने राक्षसों को भ्रान्त करने के लिए इस मत का प्रवर्तन किया था। **बृहस्पति-सूत्र** आज हमें मौलिक रूप में उपलब्ध नहीं होता। केवल उसकी कुछ पंक्तियाँ अन्य दर्शनों के ग्रन्थों में, विशेषतः **सर्व-दर्शन-संग्रह** में, उद्धरण रूप से उपलब्ध होती हैं। फिर, भी चार्वाक मत इतना सरल और लोक-सामान्य है कि इसके प्रवर्तक के विषय में अधिक परिचय प्राप्त न होते हुए भी तथा इस मत का कोई मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध न होते हुए भी केवल अन्य दर्शनों के ग्रन्थों में बिखरे हुए उद्धरणों के आधार पर ही चार्वाक मत की एक स्पष्ट रूपरेखा अंकित करना सम्भव है।

२—ज्ञान-शास्त्र

चार्वाक मत का ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त लौकिक यथार्थवाद कहा जा सकता है। जिस प्रकार सामान्य जन अपने प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है उसी प्रकार चार्वाक मत में भी प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का एक मात्र प्रमाण माना गया है। जो साक्षात् इन्द्रिय-गोचर है केवल वही सत्य है। जो हमारी इन्द्रियों से परे हैं वह असत्य है। उसकी सत्ता भी

संदिग्ध है। प्रत्यक्ष को एक मात्र प्रमाण मान कर किसी इन्द्रियातीत सत्य का समर्थन व्याघात है। चार्वाक मत के अनुसार अनुमान और आगम, जिन्हें अन्य दर्शनों में प्रमाण माना गया है, ज्ञान के विश्वसनीय साधन नहीं हैं। अनुमान में हम ज्ञात के आधार पर अज्ञात के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं, अतः वह ज्ञान सदा संदिग्ध रहता है। यह सम्भव है कि कोई विशेष अनुमान प्रत्यक्ष द्वारा परीक्षित होने पर यथार्थ सिद्ध हो। किन्तु ऐसी घटनाओं को अपवाद मानना होगा। अनुमान की यथार्थता के विषय में किसी सामान्य नियम का विधान सम्भव नहीं है। अनुमान हेतु और साध्य के व्याप्ति-संबन्ध पर आश्रित होता है और विशेष उदाहरणों के निरीक्षण के आधार पर, चाहे वे कितने ही बहुसंख्यक हों, सामान्य व्याप्ति-सम्बन्ध की स्थापना नहीं की जा सकती। हज़ारों मनुष्यों को मरते हुए देख कर भी हम उसके आधार पर अन्य अज्ञात मनुष्यों की मर्त्यता का अनुमान नहीं लगा सकते। मनुष्य की मर्त्यता के विषय में साधारण लोक-विश्वास एक विश्वास मात्र है, तार्किक सत्य नहीं। तार्किक दृष्टि से अपने समक्ष मरे हुए लोगों की मर्त्यता ही मान्य है, अन्य अज्ञात जनों की मर्त्यता तर्क दृष्टि से सदा अनिश्चित है। कार्य-कारण सम्बन्ध की व्यापकता भी जीवन के लिए आवश्यक एक व्यावहारिक विश्वास मात्र है। यद्यपि समस्त विज्ञान इस पर आश्रित है, इसकी प्रामाणिकता का कोई तर्कसिद्ध आधार नहीं है।

आगम अथवा श्रुति किसी अन्य व्यक्ति या ग्रन्थ से प्राप्त ज्ञान है। प्रायः इस प्रकार के ज्ञान का मौलिक आधार प्रत्यक्ष अथवा अनुमान ही होता हैं। दूसरे व्यक्तियों और ग्रन्थों से प्राप्त होने वाला ज्ञान प्रायः अन्य जनों का प्रत्यक्ष अथवा अनुमान-जन्य ज्ञान ही है। व्यक्ति अथवा ग्रन्थ के रचयिता की मान्यता के कारण ही वह ज्ञान हमारे लिए विश्वसनीय होता है। चार्वाक मत के अनुसार आगम प्रमाण भी अनुमान की भांति अमान्य हैं। आगम अथवा श्रुति से प्राप्त ज्ञान का

ह अंश जो किसी के प्रत्यक्ष पर आश्रित है हमारे प्रत्यक्ष द्वारा परीक्षित होने पर यथार्थ सिद्ध हो सकता है। किन्तु इस अवस्था में उसकी प्रामाणिकता का आधार हमारा प्रत्यक्ष बन जाता है और वह आगम ज्ञान वस्तुतः आगम नहीं रहता। अनुमान के ऊपर आश्रित आगम अनुमान की ही भांति अनिश्चित है। अस्तु आगम सदा संदिग्ध है और कभी-कभी वह आपत्तिजनक भी हो सकता है। वेदों के नाम से विख्यात अलौकिक आगम भी चार्वाक मत में लौकिक श्रुति की भांति ही अमान्य है। इस मत में वेदों की मुक्त कंठ से निन्दा की गई है। इसकी दृष्टि में वेदों के विषय स्वर्ग, देवता आदि अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष-गोचर नहीं है और न प्रत्यक्ष द्वारा उनके सत्यासत्य का निर्णय हो सकता है। अतः वेदों की प्रामाणिकता इस मत में अमान्य है। वेदों के कर्म-काण्ड का भी चार्वाकों ने खण्डन किया है। उनकी दृष्टि में चतुर पुरोहितों ने अज्ञानी और विश्वास-शील लोगों को छल कर अपनी जीविका उपार्जन करने के लिए कर्म-काण्ड का विधान किया है। यदि वेद सत्य हैं और यज्ञ में देवताओं को बलि दिये जाने वाले पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो पुरोहित अपने पिता की बलि देकर उसे स्वर्ग-लाभ क्यों नहीं करा लेता। यह तीव्र व्यंग कर्म-काण्ड के प्रति उस क्रान्ति-युग की सामान्य अश्रद्धा और विशेषकर चार्वाक मत के उसके प्रति दृष्टिकोण का द्योतक है। **बृहस्पति सूत्र** में वेदों को भण्ड, धूर्त और निशाचरों की रचना कह कर तिरस्कृत किया गया है। अस्तु, चार्वाक ज्ञान-शास्त्र में अनुमान और आगम अनिश्चित होने के कारण अविश्वसनीय हैं तथा प्रत्यक्ष ही यथार्थ ज्ञान का एक मात्र साधन है।

३—तत्व शास्त्र

तत्व-शास्त्र का लक्ष्य जीवन और जगत के चरम सत्य का निरूपण है। इस दृश्य जगत का शाश्वत तत्व तथा भ्रान्तिमय जीवन का

स्थायी सत्य क्या है, इसका निर्णय तत्व-शास्त्र का विषय है। तत्व-शास्त्र में चरम तत्व की जिज्ञासा की जाती है, अतः बहुत कुछ सीमा तक तत्व-शास्त्र ज्ञान-शास्त्र पर अवलम्बित है। चार्वाक ज्ञान-शास्त्र एक लोक-सामान्य यथार्थवाद है। इसके अनुसार अनुमान और आगम अनिश्चित अतएव अविश्वसनीय हैं। प्रत्यक्ष ही यथार्थ ज्ञान का एक-मात्र साधन है। प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानने वाला ज्ञान-शास्त्र जड़-वादी तत्व-शास्त्र का पथ प्रशस्त करता है। जो प्रत्यक्ष-गम्य अथवा इन्द्रिय-गोचर है, यदि केवल वही सत्य है, तो भूत पदार्थ ही एक मात्र सत्य है; क्योंकि उसके अतिरिक्त और कुछ प्रत्यक्ष-गोचर नहीं है। यह भूत पदार्थ ही चार्वाक मत के अनुसार चरम सत्य है तथा सम्पूर्ण जगत और उसके विषयों का मूल उपादान तत्व है। यह भूत पदार्थ चार तत्वों से बना हुआ है—पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि। इन चार तत्वों से ही संसार की सब वस्तुएँ निर्मित हैं। चार्वाक दर्शन में पांचवा तत्व आकाश, जो अन्य दर्शनों में माना गया है, स्वीकृत नहीं किया गया है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष गम्य नहीं है। अन्य दर्शनों में शब्द गुण के आधार पर आकाश का अनुमान किया गया है। अनुमान प्रमाण चार्वाक मत में मान्य नहीं है।

अस्तु, उक्त चार तत्वों से युक्त भूत पदार्थ ही चरम और एक मात्र सत्य है। आत्मा, ईश्वर, देवता, स्वर्ग, नरक आदि की सत्ता का इस मत में निराकरण किया गया है। आत्मा अध्यात्मवादियों की कल्पना मात्र है। ईश्वर धर्मवादियों के मन का स्वप्न मात्र है। स्वर्ग-नरक पुरोहितों की काल्पनिक सृष्टि हैं जिसका प्रलोभन तथा भय दिखा कर सरल और अज्ञानी लोगों को ठग कर वे अपनी जीविका सिद्ध करते थे। किन्तु इनमें कोई भी वास्तविक सत्य नहीं है क्योंकि किसी की भी सत्ता प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित नहीं की जा सकती। दृश्य देह के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं। चैतन्य गुण, जिसे प्रायः आत्मा का लक्षण माना जाता है और जिसका हमें प्रत्यक् ज्ञान है, वस्तुतः देह का ही गुण है। अतः

चेतन आत्मा देह में निहित कोई अतीन्द्रिय तत्व नहीं है। चैतन्य चार्वाक मत में स्वीकृत चार इन्द्रियगम्य भूत तत्वों के अतिरिक्त कोई पांचवा अतीन्द्रिय तत्व नहीं है। चार तत्वों के संयोग की एक विशेष स्थिति में चैतन्य गुण का उदय होता है, जिस प्रकार कई तत्वों के संयोग से मद-शक्ति उत्पन्न होती है। सुरा की मद-शक्ति की भांति चैतन्य भी एक भूत तत्वों के संयोग से उपजात गुण है। अतः चेतन आत्मा कोई मौलिक अथवा चरम तत्व नहीं। आगन्तुक होने के कारण आत्मा नित्य भी नहीं है, जैसा कई दर्शन मानते हैं। जो उत्पन्न होता है उसका नाश भी निश्चित है; जिसका आदि है उसका अन्त भी अवश्यम्भावी है। जन्म काल में आत्मा की उत्पत्ति होती है और मृत्यु के समय शरीर के साथ साथ आत्मा का भी अन्त हो जाता है। मृत्यु ही जीवन का अन्त है। मृत्यु के उपरान्त जन्मान्तर अथवा परलोक-जीवन में चार्वाक विश्वास नहीं करते। इस लोक और जीवन के अतिरिक्त और कोई दूसरा लोक तथा जीवन नहीं है। स्वर्ग कवियों की कल्पना है और नरक पुरोहितों की सृष्टि। लोक के शासक राजा के अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं है। सृष्टि की प्रक्रिया एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। अतः सृष्टि के विधान और शासन के लिए ईश्वर की कोई अपेक्षा नहीं।

४—आचार-शास्त्र

आचार-शास्त्र का उद्देश्य जीवन और कर्म के आदर्श का निर्धारण है। जिस प्रकार तत्व-शास्त्र ज्ञान-शास्त्र पर अवलम्बित है उसी प्रकार आचार-शास्त्र तत्व-शास्त्र पर आश्रित है। सत्य के विषय में हमारी जैसी आस्था होगी, जीवन के प्रति वैसा ही हमारा दृष्टि-कोण होगा। चार्वाक मत के अनुसार प्रत्यक्ष ही ज्ञान का एक मात्र प्रमाण है तथा प्रत्यक्ष द्वारा गोचर जड़ जगत और स्थूल देह, जो जड़ तत्वों से ही निर्मित है, एक मात्र सत्य है। जड़ जगत और स्थूल देह का ही एक

मात्र सत्य मानने वाले दर्शन में जीवन का कोई उच्च आध्यात्मिक आदर्श सम्भव नहीं है। यदि जगत और देह से ऊपर किसी श्रेष्ठतर तत्व का अस्तित्व नहीं है तो शरीर के भौतिक सुख से बढ़ कर जीवन के आदर्श की कल्पना नहीं की जा सकती। आत्मा कोई मौलिक और चरम तत्व नहीं है अतः आध्यात्मिक मूल्यों का जीवन में कोई मौलिक महत्व नहीं है। शरीर और इन्द्रियों का सुख ही परम श्रेय और जीवन का परमार्थ है। स्वर्ग का कहीं अस्तित्व नहीं है। अतः परलोक के अतीन्द्रिय सुख मृग-तृष्णा मात्र है। आत्मा का अस्तित्व नहीं है। अतः आध्यात्मिक आनन्द की कल्पना भी अनर्गल है। नरक भी स्वर्ग की भांति ही काल्पनिक सृष्टि है, अतः नरक के दुख का भय भी केवल भ्रान्ति है। यह लोक और जीवन ही सर्वस्व है। इस लोक में देह और इन्द्रियों का सुख ही एक मात्र स्वर्ग है और शारीरिक दुख ही नरक है। अस्तु, चार्वाक दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर घोर स्वार्थमय सुखवाद ही आचार-शास्त्र का एक मात्र आदर्श है। जब देह और इन्द्रियों का सुख ही हमारी आकांक्षा का लक्ष्य बन जाता है तो परोपकार के लिए जीवन में कोई स्थान नहीं रह जाता। परोपकार प्रतीत होने वाला आचरण भी मीमांसा करने पर एक प्रच्छन्न और परिष्कृत स्वार्थ ही सिद्ध होता है।

किन्तु एक अनियन्त्रित सुखवाद असम्भव अथवा आत्मघाती प्रतीत होता है। संसार में विशुद्ध सुख कदापि सम्भव नहीं है। सुख के साथ सदा दुख मिला रहता है। धूप-छाया की भांति सुख-दुख सदा साथ पाये जाते हैं। अतः सुख मनुष्य की आकांक्षा और उसके आचरण का आदर्श नहीं बन सकता। दूसरे, मनुष्य जीवन का परस्पराश्रयत्व भी एक स्वार्थमय आदर्श का बाधक है। बिना एक दूसरे के सुख का ध्यान रक्खे हुए हम अपने सुख और स्वार्थ की भी सिद्धि नहीं कर सकते। स्वार्थमय सुख-वाद की इस सामान्य आलोचना का उत्तर चार्वाक मत में व्यवहार-कौशल है। उनकी दृष्टि में दुख से मिश्रित होने के कारण

सुख का परित्याग मूर्खता है। जीवन में अधिकतम सुख प्राप्त करने का प्रयास ही बुद्धिमानी है। जहाँ तक सम्भव हो दुख का निवारण कर सुख-लाभ करना ही जीवन का कौशल पूर्ण मार्ग है। कण्टकों के कारण मत्स्य का त्याग मूर्खता है।

अस्तु, देह और इन्द्रियों का स्वार्थमय सुख ही जीवन का सबसे अधिक स्पृहणीय आदर्श है। जीवन के अन्य उच्च प्रतीत होने वाले आदर्श अनर्थक हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पदार्थों में केवल अर्थ और काम ही चार्वाक मत में मान्य हैं। प्रथम और अन्तिम—धर्म और मोक्ष—को चार्वाक नहीं मानते। उनके अनुसार काम जीवन का लक्ष्य और अर्थ उसका साधन है। वैदिक धर्म, नैतिक आचार, त्याग, तप आदि सब निष्फल शरीर-यातना तथा व्यर्थ मानसिक श्रम है। देह जीवन का वरदान है और हमें उसे यथासम्भव सुख देना चाहिए। अग्नि-होत्र, यज्ञ, तप, संन्यास आदि बुद्धि और पौरुष-हीन ब्राह्मणों ने अपनी जीविका के लिए प्रचलित किये हैं, ऐसा बृहस्पति का मत है। नैतिक आचरण निष्फल और निरर्थक सुख का त्याग कर दुख का वरण है। तप और संन्यास मनुष्य की मूर्खता की पराकाष्ठा है। धर्म मानव-मन की भ्रान्ति है। आत्मा की मुक्ति के अर्थ में मोक्ष अनर्थक है, क्योंकि आत्मा का कहीं अस्तित्व नहीं। स्वर्ग की प्राप्ति के अर्थ में मोक्ष मृग-तृष्णा है, क्योंकि कवियों की कल्पना के अतिरिक्त स्वर्ग की कहीं सत्ता नहीं। ईश्वर की प्राप्ति के अर्थ में भी मोक्ष अनर्थक है, क्योंकि ईश्वर का भी अस्तित्व नहीं है। मोक्ष का एक मात्र अर्थ मृत्यु है जो हमें सब दुखों से मुक्त करती है। मृत्यु जीवन का चरम अन्त है। दुखों का निवारण करने के साथ साथ यह सुख की सम्भावना का भी हरण कर लेती है। जीवन का अन्त मृत्यु है; और जीवन छोटा है, अतः इसमें जितना सम्भव हो सके उतना सुख भोग करना बुद्धिमानी का मार्ग है। यह जीवन और देह प्रकृति के दुर्लभ वरदान हैं तथा भरसक सुखोपभोग मनुष्य का एक मात्र अधिकार और

आदर्श है। जीवन में प्राप्त समय का पूर्ण सदुपयोग कर अधिकतम सुख की प्राप्ति जीवन की सार्थकता है। एक बार जीवन का अवसान और देह के भस्मीभूत होने पर कोई भी शक्ति जीवन का पुनर्दान नहीं कर सकती। अतएव जब तक जीवन है तब तक सब प्रकार से सुख-सम्पादन का प्रयास करना चाहिए, यही चार्वाक मत का मनोरम सन्देश है। कदाचित् चार्वाक मत का यह सीमित सुखवाद उस युग में प्रचलित कठोर तप और संन्यासवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है।

अध्याय ३

जैन धर्म और दर्शन

१—परिचय, साहित्य और परम्परा

वैदिक विचार-परम्परा के विरुद्ध प्रतिक्रिया रूप से जिन विचार-धाराओं का उदय हुआ उनमें जैन और बौद्ध मत सबसे अधिक महत्व-पूर्ण हैं। वेद की मान्यता का विरोध और ईश्वर के अस्तित्व का निराकरण निषेध-पक्ष में दोनों का सामान्य लक्षण है। किन्तु जैन और बौद्ध मतों की समानता केवल निषेधात्मक ही नहीं है, उनके मूल सिद्धान्तों में कुछ विधानात्मक समानता भी है। दोनों का उदय आरम्भ में एक धार्मिक तथा सामाजिक क्रान्ति के रूप में हुआ। दोनों मतों में नैतिकता का प्राधान्य है तथा अहिंसा और संन्यास को अधिक महत्व दिया गया है। इस प्रकार दोनों मतों की भावना और विषय में पर्याप्त समानता है। किन्तु इस समानता के साथ साथ उनके अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों में मौलिक भेद भी है।

ऐतिहासिक दृष्टि से जैन मत बौद्ध धर्म से प्राचीन है। महावीर स्वामी, जो भगवान बुद्ध के समकालिक माने जाते हैं, जैन मत के आदि प्रवर्तक नहीं थे। उन्होंने केवल प्राचीन जैन धर्म का संस्कार कर उसका देश में प्रचार किया। जैन धर्म के आदि प्रवर्तक ऋषभ देव नामक तीर्थङ्कर माने जाते हैं। ऋषभ देव के बाद अनेक तीर्थङ्करों ने जैन धर्म की परम्परा को जीवित रक्खा। तीर्थङ्करों की इस परम्परा में महावीर स्वामी २४वें तथा अन्तिम तीर्थङ्कर थे। इस प्रकार वे जैन मत के आदि प्रवर्तक नहीं वरन् उसके प्रचारक तीर्थङ्करों में अन्तिम और प्रमुखतम थे। भौगोलिक दृष्टि से जैन धर्म भारतवर्ष में ही सीमित रहा। इसके विपरीत बौद्ध धर्म का प्रचार विदेशों में भी हुआ और

वह विश्व-धर्म की कोटि में रहा है। एशिया के अधिकांश भाग में बौद्ध धर्म की मान्यता रही है। आज भी ब्रह्मदेश, स्याम, कम्बोडिया, हिन्द चीन, चीन, तिब्बत, जापान आदि देशों में बौद्ध धर्म का प्रभुत्व है। इसके अतिरिक्त पिछले वर्षों में संसार के सभी देशों में बौद्ध धर्म के प्रति अभिरुचि बढ़ती रही है। दार्शनिक दृष्टि से जैन मत में एक सापेक्ष तर्क शास्त्र, यथार्थवादी तत्व-शास्त्र और तपोमय आचार-शास्त्र का विकास हुआ। बौद्ध मत आरम्भ में एक नैतिक आदर्शवाद था, यद्यपि आगे चलकर इसमें अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ जिनके दार्शनिक सिद्धान्तों में मौलिक भेद है।

जिस वेदान्त में वैदिक विचार-परम्परा का पर्यवसान हुआ था उसका प्रधान प्रतियोगी बौद्ध मत ही था। दार्शनिक संघर्ष के क्षेत्र में जैन मत बौद्ध धर्म की भांति सक्रिय नहीं रहा। वेदान्त तथा अन्य वैदिक दर्शनों का मुख्य विरोध बौद्ध धर्म से ही रहा। कदाचित् अपने सापेक्ष तर्क-शास्त्र के कारण, जिसके अनुसार कोई भी दृष्टिकोण ऐका-न्तिक रूप से सत्य नहीं है तथा प्रत्येक दृष्टिकोण सापेक्ष रूप से सत्य है, जैन मत स्वभाव से ही सक्रिय-संघर्ष-शील विचार-धारा का प्रेरक न बन सका। इसके अतिरिक्त जैन मत में आत्मा की सत्ता के स्वीकरण के कारण भी वैदिक सम्प्रदायों से उसके संघर्ष की सम्भावना कम हो गई। आत्मा की सत्ता वैदिक दर्शनों का मुख्य सिद्धांत है। बौद्ध धर्म में आत्मा के निराकरण के कारण ही वैदिक दर्शनों में उसका घोर खण्डन किया गया है।

अस्तु, जैन मत आरम्भ में एक सामाजिक और नैतिक आन्दो-लन था। यद्यपि विचार और संघर्ष के विकास के साथ साथ इसमें तर्क-शास्त्र की परम्परा का भी विकास हुआ, किन्तु दार्शनिक संघर्ष और तार्किक आलोचना के क्षेत्र में बहुत दूर तक जैन मत ने प्रवेश नहीं किया। अतएव बौद्ध धर्म के विपरीत इसमें भिन्न भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय नहीं हुआ। फिर भी विक्रम युग के आरम्भ के

बाद जैन मत आगम और विश्वासमूलक धर्म से विचार और तर्क-मूलक दर्शन के रूप में परिणत हो गया था। श्वेताम्वर और दिगम्वर जैन मत के दो भिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय नहीं हैं वरन् दो भिन्न धार्मिक सम्प्रदाय हैं। उनके दार्शनिक सिद्धान्तों में अधिक भेद नहीं है; केवल उनके विश्वास और व्यवहार की प्रणाली में थोड़ा अन्तर है। दोनों सम्प्रदायों के आगम शास्त्र एक ही हैं और दोनों की शिक्षा में भी बहुत कुछ समानता है। दिगम्बरों का आचार शास्त्र कुछ अधिक कठोर है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मानवीय सीमाओं को दृष्टि में रखकर उसकी कठोरता को कुछ मृदुल और मर्यादित कर दिया है।

जैसा कहा जा चुका है महावीर स्वामी जैन मत के आदि प्रवर्तक नहीं थे। ऋषभ देव नाम के प्रथम तीर्थङ्कर जैनमत के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। ऋषभ देव के बाद अनेक तीर्थङ्करों ने जैनमत की परम्परा को जीवित रक्खा। जैन परम्परा के अनुसार महावीर स्वामी २४वें तीर्थङ्कर माने जाते हैं। जैन धर्म के प्रमुख उद्धारक और महान प्रचारक होने के कारण उनका प्रभुत्व और प्रतिष्ठा सबसे अधिक है। महावीर स्वामी के पूर्व पार्श्वनाथ नामक २३वें तीर्थङ्कर हुए हैं, जिनका निर्वाण काल ईसा के पूर्व ८वीं शताब्दी माना जाता है। पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के अतिरिक्त शेष २२ तीर्थङ्करों के विषय में कोई भी ऐतिहासिक परिचय प्राप्त नहीं है। पार्श्वनाथ के जीवन और रचनाओं के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं। अस्तु, जैन धर्म का वास्तविक इतिहास महावीर स्वामी से ही आरम्भ होता है। महावीर स्वामी का जन्म ईसा के पूर्व छठी शताब्दी के आरम्भ में हुआ था। इस प्रकार वे भगवान बुद्ध के समकालिक तथा कुछ पूर्ववर्ती थे। बुद्ध की भांति वे भी एक राज-कुल के रत्न थे और उन्हीं की भांति युवावस्था में ही संन्यास-रत हो गये थे। महावीर स्वामी की शिक्षा मौखिक उपदेशों के रूप में थी, अतएव रचना रूप में उनकी कृतियाँ नहीं थीं। उनके निर्वाण के बाद उनके अनुयायियों ने उनके उपदेशों

का संग्रह करने का प्रयत्न किया। इसी उद्देश्य से ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में पाटलिपुत्र में एक 'जैन-संसद्' हुई। किन्तु जैन शास्त्रों का वर्तमान रूप ईसा की ५वीं शताब्दी में वलभी में देवर्धि के सभापतित्व में होने वाली द्वितीय जैन संसद में निर्धारित हो सका। इन जैनागमों में ४१ सूत्र, १२ निर्युक्ति, १ महाभाष्य और अनेक प्रकीर्णक ग्रन्थ हैं। जैन धर्म का आरम्भ एक सार्वजनिक मत के रूप में हुआ था। अतः इन मूल जैनागमों की भाषा अर्धमागधी प्राकृत है जो उस काल में जनता की भाषा थी।

उमास्वाति (तीसरी शताब्दी ई०) का **तत्वार्थाधिगम सूत्र** जैन दर्शन का प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थ है। दोनों जैन सम्प्रदाय इस ग्रन्थ को अपना मूल दार्शनिक आधार मानते हैं। दिगम्बर लोग उमास्वाति को उमास्वामी के नाम से पुकारते हैं। इसके अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकर (५वीं शताब्दी) का **न्यायावतार,** हरिभद्र (९वीं शताब्दी) का **षड्दर्शन समुच्चय,** मेरुतुङ्ग (१४वीं शताब्दी) का **षड्दर्शन विचार** श्वेताम्बरों के अन्य उल्लेखनीय दार्शनिक ग्रन्थ हैं। दिगम्बरों के मुख्य दार्शनिक ग्रन्थों में कुन्दकुन्दाचार्य (१ली शताब्दी) का **नियमसार, समय सार** और **प्रवचन सार,** नेमि चन्द्र (१०वीं-शताब्दी) **का द्रव्य संग्रह,** हेमचन्द्र (१२वीं शताब्दी) की **प्रमाण मीमांसा** और मल्लिषेण (१३वीं शताब्दी) की **स्याद्वादमंजरी** विशेष उल्लेखनीय हैं।

२—ज्ञान-शास्त्र

(१) बोधि-पंचक—आत्मा का अस्तित्व वैदिक दर्शन का सबसे मुख्य और महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। जैनमत में उसका स्वीकरण और बौद्धमत में उसका निराकरण विचारणीय बात है। जैनमत के अनुसार आत्मा एक मूल, चरम और सनातन सत्ता है, चार्वाक मत में मान्य आत्मा की भाँति भूत पदार्थों के संयोग से उपजात नश्वर गुण नहीं।

जैन मत में आत्मा एक शाश्वत तत्व है। चैतन्य आत्मा का नित्य गुण है, आगन्तुक लक्षण नहीं। चैतन्य आत्मा का सार और स्वरूप है। यह चैतन्य प्रकाश के समान है। जिस प्रकार प्रकाश अपने को प्रकाशित करने के साथ साथ अन्य पदार्थों का प्रकाशन भी करता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने को प्रकाशित करने के साथ साथ अन्य ज्ञेय विषयों का भी प्रकाशन करता है। प्रत्येक आत्मा अपने मूल और चरम रूप में अनन्त चेतना से सम्पन्न है और अनन्त ज्ञान में समर्थ है। किन्तु कर्म की बाधा के कारण आत्मा की यह मौलिक अनन्त ज्ञान-शक्ति सीमित तथा तिरोहित हो जाती है। देह, इन्द्रिय और मन कर्म के परिणाम हैं तथा आत्मा के स्वाभाविक अनन्त ज्ञान में बाधक हैं। जैन मत के अनुसार शुद्ध और पूर्ण आत्मा का यह अबाध और अनन्त ज्ञान ही ऐकान्तिक रूप से सत्य ज्ञान है। हमारा शेष ज्ञान सापेक्ष और अपूर्ण है। यह पूर्ण और अनन्त ज्ञान ही अपरोक्ष ज्ञान का शुद्ध रूप है। यद्यपि जैनमत में परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान के सामान्य भेद को स्वीकार किया गया है, जैनियों की अपरोक्ष ज्ञान की परिभाषा अन्य दर्शनों की परिभाषा से नितान्त भिन्न है। अन्य दर्शनों के अनुसार जो ज्ञान अपरोक्ष माना जाता है वह जैनियों के अनुसार परोक्ष ज्ञान ही है क्योंकि वह भी आत्मा को इन्द्रिय और मन के माध्यम से प्राप्त होता है। सच्चा अपरोक्ष ज्ञान वही है जो आत्मा को मन और इन्द्रियों के व्यवधान के बिना साक्षात् प्राप्त होता है।

अस्तु, जैन मत में भी ज्ञान के दो सामान्य विभाग किये गये हैं, यद्यपि जैनियों की अपरोक्ष की परिभाषा अन्य दर्शनों से नितान्त भिन्न है। ज्ञान दो प्रकार का है—परोक्ष और अपरोक्ष। परोक्ष ज्ञान आत्मा को इन्द्रिय और मन के माध्यम से प्राप्त होता है और अपरोक्ष ज्ञान बिना किसी व्यवधान के साक्षात् रूप से प्राप्त होता है।

परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—मति ज्ञान और श्रुति ज्ञान।

(१) **मति ज्ञान**—इन्द्रिय और मन के माध्यम द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'मति ज्ञान' कहते हैं। इसमें अन्य दर्शनों में अपरोक्ष माना जाने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क आदि सम्मिलित हैं।

(२) **श्रुति ज्ञान**—शब्दों और संकेतों के माध्यम के द्वारा अन्य व्यक्ति से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'श्रुति ज्ञान' कहते हैं।

अपरोक्ष ज्ञान तीन प्रकार का होता है—(१) अवधि (२) मनःपर्याय और (३) केवल ज्ञान।

(१) **अवधि ज्ञान**—कर्म बन्धन के आंशिक नाश से सूक्ष्म और सुदूर वस्तुओं का जो अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'अवधि ज्ञान' कहते हैं। मन और इन्द्रियों के माध्यम से निरपेक्ष होने के कारण यह ज्ञान अपरोक्ष है, तथा पूर्ण ज्ञान की अपेक्षा सीमित होने के कारण यह अवधि ज्ञान कहलाता है।

(२) **मनःपर्याय**—अवधि ज्ञान के सूक्ष्म और सुदूर पदार्थों के ज्ञान की भांति अन्य जनों के चित्त—उनके विचार और भावनाओं—का ज्ञान 'मनःपर्याय' कहलाता है। यह एक प्रकार का परचित्त-ज्ञान है जो आत्म-संस्कार-पूर्वक घृणा, ईर्ष्या आदि दोषों के प्रक्षालन द्वारा सम्भव है।

(३) **केवल ज्ञान**—यह शुद्ध, पूर्ण और अनन्त ज्ञान है। आत्मा के सम्पूर्ण बंधनों से मुक्त होने पर ही यह सम्भव है। कर्मादि बंधनों से पूर्ण मुक्ति निर्वाण की अवस्था में ही होती है अतः मोक्ष की अवस्था में ही यह ज्ञान सम्भव है। केवल ज्ञान सार्वभौम और अनन्त ज्ञान अर्थात् प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक अवस्था में ज्ञान है।

यह पाँचों प्रकार का ज्ञान जैन दर्शन में 'बोधिपञ्चक' के नाम से प्रसिद्ध है।

ज्ञान के साधनों में सामान्यतया स्वीकृत प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुति को जैन मत में भी ज्ञान का साधन माना गया है, यद्यपि इन सबको परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत गिना गया है। चार्वाक मत के प्रत्यक्षैक-प्रमाण-वाद का जैन दर्शन में बड़ी सूक्ष्म विधि से खण्डन किया गया है। जैनियों का आग्रह है कि कोई प्रत्यक्ष के एक मात्र प्रामाण्य में विश्वास कर सकता है किन्तु वह इसे दूसरों के प्रति सिद्ध नहीं कर सकता। सिद्धि का एक मात्र साधन तर्क है और तर्क की प्रणाली अनुमान-विधि है। बिना तर्क और अनुमान का अवलम्बन किये प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की सिद्धि तथा अनुमान और श्रुति के प्रामाण्य का खण्डन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अनुमान के खण्डन में भी अनुमान का उपयोग अनुमान के प्रामाण्य का खण्डन नहीं वरन् मण्डन करता है। इसके अतिरिक्त अनुमान और श्रुति का अवलम्बन किये बिना साधारण दैनिक जीवन का संचालन भी कठिन है। सामान्य रूप से प्रत्यक्ष को प्रमाण तथा आधार मानना भी अनुमान ही है। अस्तु, चार्वाक मत का ज्ञान शास्त्र तात्कालिक और विशेष प्रत्यक्ष मात्र में सीमित हो जाता है जिसके सहारे विचार तो दूर रहा जीवन भी सम्भव नहीं है। यह तात्कालिक और विशेष प्रत्यक्ष भी मनुष्य की आस्था का मौन आधार बन सकता है, उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि तर्क और अनुमान के आश्रय के बिना प्रतिपादन सम्भव नहीं है। मौन का भी आश्रय मात्र लिया जा सकता है, उसका समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसके समर्थन में भी हेतुपूर्वक अनुमान की आपत्ति होती है।

(२) **स्याद्वाद**—ज्ञान के उक्त विभाजन और निरूपण के अतिरिक्त 'स्याद्वाद' जैन ज्ञान-शास्त्र का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान के उक्त प्रकारों से हमें ज्ञात होता है कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष हैं। इन पक्षों को जैन मत में 'धर्म' कहते हैं और

प्रत्येक वस्तु को अनन्त-धर्मक मानते हैं। साधारण ज्ञान वस्तु के कुछ धर्मों के ज्ञान तक ही सीमित रहता है। केवल मोक्ष की अवस्था में केवल और पूर्ण ज्ञान होने पर वस्तुओं के अनन्त धर्मों का पूर्ण ज्ञान सम्भव है। इस पूर्ण ज्ञान को ही जैन दर्शन में 'प्रमाण' मानते हैं। अन्य सभी प्रकार का ज्ञान अपूर्ण और सापेक्ष है तथा 'नय' कहलाता है। इस प्रकार हमारे सभी साधारण निर्वचन सापेक्ष हैं तथा सापेक्ष रूप से ही सत्य हैं। वे वस्तु के किसी धर्म-विशेष के निर्वचन मात्र हैं और उसी अपेक्षा से सत्य हैं, निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं। समस्त वचन-विधान सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं; अतएव सभी निर्वचनों का उल्लेख 'स्याद्'-पूर्वक होना चाहिए। 'स्याद्' का अर्थ प्रायः 'कदाचित्' किया जाता है, किन्तु 'किसी अपेक्षा से' अर्थ करना अधिक संगत है। स्याद्वाद अनिश्चयवाद नहीं है, केवल एक सापेक्षवाद है। साधारण ज्ञान अनिश्चित नहीं है, किन्तु अपूर्ण और सापेक्ष है।

निर्वचनों की सापेक्षता के सात प्रकार बहुत प्रसिद्ध हैं। ये 'सप्त भंगीनय' कहलाते हैं—

(१) स्याद् अस्ति—किसी अपेक्षा से घट है।

(२) स्याद् नास्ति—किसी अपेक्षा से घट नहीं है।

(३) स्याद् अस्ति च नास्ति च—किसी अपेक्षा से घट है और किसी अपेक्षा से घट नहीं है।

(४) स्याद् अवक्तव्यः—किसी अपेक्षा से घट अवक्तव्य है।

(५) स्याद् अस्ति च अवक्तव्यश्च—किसी अपेक्षा से घट है और अवक्तव्य है।

(६) स्याद् नास्ति च अवक्तव्यश्च—किसी अपेक्षा से घट नहीं है और अवक्तव्य है।

(७) स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च—किसी अपेक्षा से घट है और किसी अपेक्षा से घट नहीं है तथा अवक्तव्य है।

(१) इनमें प्रथम नय में किसी वस्तु के भावात्मक निर्वचन का किसी विशेष अपेक्षा से निर्देश किया गया है। किसी विशेष देश, काल, गुण आदि की अपेक्षा से घट के भाव (सत्ता) का निर्वचन किया जा सकता है।

(२) द्वितीय नय वस्तु के विषय में देश, काल आदि की अपेक्षा से निषेधात्मक निर्वचन हैं।

(३) तृतीय नय भाव और निषेध के संयुक्त तथ्य का एकत्र निर्वचन है।

(४) चतुर्थ नय निरपेक्ष रूप से वस्तु के स्वरूप की अनिर्वचनीयता का निर्वचन है।

(५) पञ्चम नय प्रथम और चतुर्थ नय का संयुक्त रूप है।

(६) षष्ठ नय द्वितीय और चतुर्थ नय का संयुक्त रूप है।

(७) सप्तम नय तृतीय और चतुर्थ नय का संयुक्त रूप है।

जैन तर्क शास्त्र का यह सापेक्षवाद संदेहवाद अथवा अनिश्चयवाद नहीं है। सापेक्षता का अर्थ अनिश्चय अथवा सम्भावना नहीं है, वरन् सामान्य निर्वचन में एकान्तिक सत्यता का निषेध है। सभी निर्वचन सापेक्ष हैं, अतः वे 'नय' हैं, 'प्रमाण' नहीं। किन्तु सापेक्ष दृष्टि से सभी निर्वचन सत्य हैं। सभी निर्वचनों में सत्य का अंश होता है, यद्यपि कोई निर्वचन पूर्ण सत्य का प्रतिनिधि नहीं। पूर्ण और ऐकान्तिक सत्य निर्वाण की अवस्था में ही सम्भव है और उसी को जैन दर्शन में 'प्रमाण' माना गया है।

३—तत्व शास्त्र

जैन तत्व-शास्त्र एक बहुवादी यथार्थवाद है। इसके अनुसार तत्व एक नहीं, अनेक हैं। यह अनेकविध तत्व वास्तविक है, विज्ञान मात्र नहीं अर्थात् यह ज्ञाता की मानसी सृष्टि नहीं वरन् ज्ञाता से स्वतन्त्र अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित पदार्थ है। ज्ञान के विविध प्रकार इस प्रपञ्चा-

त्मक अनेक-रूप वस्तु जगत की अभिव्यक्ति करते हैं। ये सभी वस्तु अथवा पदार्थ अनेक-धर्मक हैं। ये अखिल पदार्थ एक 'द्रव्य' संज्ञा के अन्तर्गत हैं। द्रव्य वस्तुओं की सर्व-सामान्य कोटि है। जैन-शास्त्र की परिभाषा के अनुसार द्रव्य वह है जो 'गुण' और 'पर्याय' वान् है। स्थायी लक्षणों को 'गुण' कहते हैं तथा पदार्थ के परिणामशील लक्षणों को 'पर्याय' कहते हैं। हमारे अनुभव के अन्तर्गत जो ध्रुव तत्व है उसे 'द्रव्य' कहते हैं। इस द्रव्य के कुछ लक्षण स्थायी होते हैं जो 'गुण' कहलाते हैं, और कुछ परिणामशील लक्षण होते हैं जो 'पर्याय' कहलाते हैं। जैन मत के अनुसार गुण और पर्याय दोनों ही सत्य हैं। इस प्रकार जैन मत वेदान्त और बौद्ध दोनों चरम, एकपक्षीय और विरोधी दर्शनों का सामंजस्य है। वेदान्त मत के अनुसार ध्रुव आत्मा ही एक मात्र सत्य है और बौद्ध मत के अनुसार परिवर्तन ही एक मात्र सत्य है। सत्य के जैन निरूपण में ध्रुवता और परिणाम दोनों का सामंजस्य है। जैन ज्ञान-शास्त्र के सापेक्षवाद के अनुसार वेदान्त और बौद्ध दोनों ही मतों में सापेक्ष सत्य को निरपेक्ष और एकान्त सत्य मानने की भूल की गई है।

अस्तु, जैन दर्शन में सत्य की चरम कोटि 'द्रव्य' है। द्रव्य दो प्रकार का होता है—(१) अस्तिकाय और (२) अनस्तिकाय। काया का अर्थ अंगों से निर्मित होना है। काया से युक्त सभी पदार्थ 'अस्तिकाय' हैं। केवल 'काल' ही एक ऐसा पदार्थ है जो काया से रहित है, अतएव उसे 'अनस्तिकाय' कहा जाता है। काल के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ आस्तिकाय हैं। अस्तिकायों के दो भेद हैं—(१) जीव और (२) अजीव। आत्मा अथवा प्राण से युक्त द्रव्य 'जीव' कहलाते हैं और इनसे रहित द्रव्य 'अजीव' हैं। जीव भी दो प्रकार के होते हैं—(१) मुक्त और (२) बद्ध। कर्म और देह के बन्धन से युक्त जीव 'बद्ध' हैं और उससे रहित जीव 'मुक्त' हैं। मुक्त जीवों के भेद नहीं होते क्योंकि मुक्ति का एक ही स्वरूप है। बद्ध जीव दो प्रकार के होते हैं—(१)

त्रस अथवा जंगम और (२) स्थावर। संचरण में समर्थ मनुष्य, पशु, कीट, पतंग आदि 'जंगम' जीव हैं। पृथ्वी, पाषाण, वृक्ष आदि रूपों में रहने वाले जीव 'स्थावर' हैं। अन्य मतों में निर्जीव माने जाने वाले पदार्थों को भी जैन मत में सजीव माना गया है। जैन मत में संसार का कण कण जीव युक्त है। जैन आचार की कठोर अहिंसा का आधार यही सिद्धान्त है। प्राण-चेतना रहित द्रव्य अजीव है। अजीव द्रव्य चार प्रकार के होते हैं—(१) धर्म (२) अधर्म (३) आकाश और (४) पुद्गल। जड़ अथवा भूत पदार्थ का नाम जैन दर्शन में 'पुद्गल' है। पुद्गल का अभिधार्थ 'वह द्रव्य है जो निरन्तर पूरित तथा गलित होता रहता है' (पूरयन्ति गलन्तिच)। 'आकाश' का अर्थ अवकाश अर्थात् वह शून्य पदार्थ है जिसके अन्तर्गत वस्तुओं की गति और स्थिति होती है। 'धर्म' और 'अधर्म' आकाश के अन्तर्गत वस्तुओं की स्थिति और गति के सिद्धान्त हैं। 'पुद्गल' अथवा भूत तत्व दो रूपों में रहता है—(१) अणु और (२) संघात। हमारे शरीर तथा अन्य स्थूल वस्तुएँ अणुओं के संघात रूप हैं। भूत तत्व के सूक्ष्मतम अंश का नाम 'अणु' है। इन अणुओं के संयोग से वस्तु, देह आदि का निर्माण होता है, जिन्हें 'संघात' कहते हैं।

जैन तत्व-शास्त्र में विशेष विचारणीय विषय आत्मा के स्वरूप की कल्पना है। जैन मत में जीव के स्वरूप की कल्पना अद्भुत और अन्य दर्शनों से भिन्न है। ऊपर के द्रव्य-विभाजन में यह निर्देश किया जा चुका है कि आत्मा अस्तिकाय द्रव्यों के अन्तर्गत है। अस्तिकाय द्रव्यों का आकाश में विस्तार होता है। जैन दर्शन में **विस्तार** और **व्याप्ति** में भेद किया गया है। आत्मा का आकाश में अस्तित्व और विस्तार है फिर भी वह अपौद्गलिक अर्थात् अभौतिक होने के कारण आकाश को भौतिक वस्तुओं की भाँति व्याप्त नहीं करती। भूत पदार्थों की आकाश में सत्ता और व्याप्ति दोनों ही है। सत्ता मात्र से अन्य द्रव्य के द्वारा आकाश की व्याप्ति का विरोध नहीं होता, किन्तु एक पदार्थ

की व्याप्ति से दूसरे पदार्थ की व्याप्ति का विरोध अवश्य होता है। आत्मा का आकाश में अस्तित्व और विस्तार है, व्याप्ति नहीं; अतः उसी आकाश में अन्य पदार्थों की व्याप्ति सम्भव है। प्रकाश की उपमा द्वारा आत्मा के इस अद्भुत स्वरूप का निदर्शन सहज और सुन्दर रूप में किया जा सकता है। आत्मा प्रकाश के समान है और जिस प्रकार प्रकाश के अस्तित्व और विस्तार से अन्य पदार्थों की व्याप्ति में बाधा नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा के अस्वित्व और विस्तार से भी अन्य वस्तुओं की व्याप्ति में भी बाधा नहीं होती। जैन मत की यह आत्मा एक मौलिक, चरम और शाश्वत तत्व है। चार्वाक मत की आत्मा के समान जड़ तत्वों के संयोग से उपजात आगन्तुक और अनित्य तत्व नहीं। अद्वैत वेदान्त की आत्मा के समान जैन आत्मा चैतन्य मात्र अथवा चिन्मात्र नहीं, वरन् वह एक द्रव्य है जिसका चैतन्य नित्य गुण है। न्याय दर्शन की आत्मा की भांति चैतन्य जैन आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं है वरन् नित्य गुण है।

आत्मा के उक्त लक्षण से भी अधिक विचित्र उसके विस्तार और संकोच-शील आकार और परिमाण की कल्पना है। आत्मा का देह में निवास तो कई दर्शनों में माना जाता है; किन्तु कोई भी दर्शन चेतना की देह में व्याप्ति के कारण आत्मा को देह के समान आकार-युक्त नहीं मानते। आत्मा के देह-तुल्य परिमाण में विश्वास जैन दर्शन का एक अद्भुत सिद्धान्त है। प्रत्येक देह में उसी देह के समान परिमाण वाली आत्मा निवास करती है। चींटी के शरीर में चींटी के शरीर के समान ही लघु परिमाण वाली आत्मा निवास करती है, और हाथी के शरीर में हाथी के शरीर के समान ही दीर्घ परिमाण वाली आत्मा निवास करती है। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि जन्मान्तर की परम्परा में भिन्न भिन्न जन्म के भिन्न भिन्न शरीरों के साथ उनके परिमाण के अनुकूल आत्मा के परिमाण में भी परिवर्तन होता रहता है। यदि अगले जन्म में चींटी का हाथी के रूप में जन्म

होता है तो वही आत्मा चींटी के परिमाण से बदल कर हाथी के देह के परिमाण में परिणत हो जाती है; और यदि हाथी का चींटी के रूप में जन्म होता है तो हाथी की दीर्घ परिमाण आत्मा चींटी के देह के समान लघु परिमाण में संकुचित हो जाती है। अन्य दर्शनों में जैन दर्शन की इस आत्मा-विषयक विचित्र कल्पना की बड़ी आलोचना की गई है। जैन दर्शन में इसकी व्याख्या तर्क-संगति की अपेक्षा उपमा और काव्य के आधार पर अधिक की गई है। प्रकाश के प्रिय और उपयुक्त उपमान के सहारे जैन दार्शनिक आत्मा के परिमाण की परिणाम-शीलता की भी व्याख्या करते हैं। जिस प्रकार प्रकाश का विस्तार कक्ष के परिमाण के अनुरूप परिवर्तनीय है उसी प्रकार आत्मा के परिमाण का भी देह के परिमाण के अनुरूप परिवर्तन सम्भव है। प्रकाश की उपमा अत्यन्त सुन्दर और उपयुक्त है किन्तु तर्क-दृष्टि से इसकी संगति सन्देहयुक्त है।

४—आचार शास्त्र

आचार-शास्त्र जैन दर्शन का हृदय है। जैन धर्म का उदय एक सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक क्रान्ति के रूप में हुआ था। जीवन में उपयोग से रहित शुष्क दार्शनिक चिन्तन में जैनियों की रुचि अधिक नहीं है। व्यवहार में उपयोग के बिना दार्शनिक सिद्धान्त निष्फल हैं। अतः सत्य की जिज्ञासा और उसके अवगम के साथ साथ नैतिक आचार और आध्यात्मिक चर्या को भी चिन्तन का आवश्यक पूरक माना गया है। जैनियों का आचार-शास्त्र एक कठोर तपोवाद है। यद्यपि जैन धर्म ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता फिर भी श्रेय और शिव की वास्तविकता में इसका विश्वास है। कर्म और अहिंसा के सिद्धान्त जैन आचार शास्त्र के आधार हैं। कर्म जीवन का नैतिक नियम है और अहिंसा मनुष्य का सर्वोत्तम गुण है। अहिंसा का सिद्धान्त जैनियों का आविष्कार नहीं है। उपनिषदों में

अहिंसा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। कदाचित उपनिषद्काल में ही वैदिक यज्ञों की हिंसा के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरंभ हो गई थी। किन्तु जैन और बौद्ध धर्मों में ही अहिंसा को इतना अधिक महत्व दिया गया है और अहिंसा को ही एक पूर्ण धर्म का रूप दिया गया है। जैन धर्म में अहिंसा को सिद्धान्त और व्यवहार के क्षेत्र में चरम सीमा तक पहुँचा दिया गया है। जैन श्रमण मुख में कीटाणुओं के प्रवेश और उनकी हत्या के भय से अपना मुख बाँध कर रहते हैं। इसी भय से सूर्यास्त के पूर्व भोजन की परम्परा जैनियों में प्रचलित है। सर्प और बिच्छुओं के समान विषैले जन्तुओं की तक हत्या का जैन धर्म में निषेध है। दिगम्बरों के मत में तो केवली भोजन भी नहीं करता।

अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति जैन दर्शन में भी मोक्ष को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। जैन मत में बौद्ध मत की भाँति मोक्ष की 'निर्वाण' संज्ञा है। सम्पूर्ण शारीरिक और भौतिक बन्धनों से मुक्ति का नाम 'निर्वाण' है। निर्वाण उन सब बन्धनों का निवारण है जो आत्मा की मौलिक अनन्त-ज्ञान-शक्ति को सीमित करते हैं। वस्तुतः निर्वाण कोई नवीन आदर्श की सृष्टि नहीं वरन् आत्मा के मौलिक स्वरूप की प्राप्ति अथवा अभिव्यक्ति है। अपने मूल रूप में आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त शान्ति से युक्त है। कर्म के बन्धन के कारण जीवन में आत्मा का यह मूल रूप तिरोहित हो जाता है। जैन मत के अनुसार कर्म का स्वरूप भौतिक है। कर्म केवल एक नैतिक सिद्धान्त नहीं वरन् एक भौतिक तत्व है। अतएव इसे 'कर्म पुद्गल' कहते हैं। यह एक तात्विक शक्ति है, जो अखिल विश्वाकाश में व्याप्त है। यह एक प्रकार का सूक्ष्म भौतिक तत्व है। वाह्य जगत के साथ व्यापार के प्रसंग में इस तत्व के परमाणु आत्मा में प्रवेश कर जाते हैं। परमाणुओं से एक विशेष प्रकार के सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है, जो निर्वाण पर्यन्त आत्मा को नहीं छोड़ता। इस तत्व को

'कर्मणमल' कहते हैं। यह कार्मिक तत्व आत्मा के मुक्त आलोक को परिच्छिन्न करता है तथा यही आत्मा की सीमा और उसका बन्धन है। इस बन्धन का आरम्भिक रूप 'आस्रव' कहलाता है। आत्मा की ओर कार्मिक जड़तत्व की गति के प्रारम्भ और संक्रम का ही नाम 'आस्रव' है। इस संक्रम की पूर्णता ही 'बन्ध' कहलाती है। बन्धन की भाँति मुक्ति के भी दो चरण हैं—(१) संवर और (२) निर्जरा। सम्यक् ज्ञान होने पर नवीन कर्म की उत्पत्ति का अभाव और कर्म-पुद्गल की आत्मा की ओर गति का अवरोध 'संवर' कहलाता है। पूर्व-संयुक्त 'कर्म-पुद्गल' के संयोग से क्रमशः मुक्ति का क्रम 'निर्जरा' कहलाता है। निर्जरा के क्रम का पूर्ण पर्यवसान मोक्ष में होता है। कर्म-पुद्गल के संयोग से जीव की पूर्णतः मुक्ति ही 'मोक्ष' अथवा 'निर्वाण' है। संवर के द्वारा नवीन कर्म-बन्धन के अवरोध और निर्जरा के द्वारा पूर्व-कर्म-बंधन के क्रमिक क्षय का परिणाम ही 'निर्वाण' है। कर्म-बन्धन के प्रसंग में एक बात स्मरणीय है कि यह कर्म-तत्व स्वतः व्यापृत होने वाला भौतिक-तत्व है। कर्म-सिद्धान्त के संचालन के लिये जैन-धर्म में ईश्वर की अपेक्षा नहीं है। कर्म के संचय और क्षय का नियम अन्य प्राकृतिक नियमों की भांति स्वतःव्यापार-शील नियम है। इस विषय में जैन मत मीमांसा-मत से एकमत है। यद्यपि मीमांसा का कर्म-सिद्धान्त भौतिक तत्व नहीं वरन् एक नैतिक-नियम है, किन्तु वह ईश्वर-निरपेक्ष स्वतःव्यापार-शील नियम है।

बन्धन का मूल और निमित्त कारण 'वासना' है। वासना की शक्ति द्वारा ही आत्मा में कर्म-पुद्गल का आस्रव आरम्भ होता है। वासना का मूल 'अविद्या' में है। अविद्या सत्य के स्वरूप का अ-ज्ञान है। अस्तु, बन्धन का मूल कारण अविद्या है। अविद्या से उत्पन्न बन्धन के निवारण का कारण ज्ञान ही हो सकता है। अस्तु, जिस प्रकार बन्धन का कारण अविद्या है, उसी प्रकार मोक्ष का कारण ज्ञान है। किन्तु मोक्ष का कारण-भूत यह ज्ञान सत्य का बौद्धिक अवगम मात्र

नहीं है। यह ज्ञान मोक्षदायक तभी हो सकता है जब कि सम्यक् दर्शन में इसका आधार हो और सम्यक्-चारित्र्य में इसका पर्यवसान हो। इस प्रकार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ये तीन जैन दर्शन में 'त्रिरत्न' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्यक् दर्शन का अर्थ जैन आगम और आचार्यों में श्रद्धा है। आध्यात्मिक क्षेत्र में श्रद्धा ज्ञान का आवश्यक आधार है। श्रद्धापूर्वक खोजने वाले ही सत्य-ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं। श्रद्धा से सम्भूत ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। किन्तु हमारे आत्मिक उद्धार के लिए सम्यक् ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। सम्यक् ज्ञान की सफलता और उसका पर्यवसान सम्यक् चारित्र्य में है। व्यवहार का सिद्धान्त बन कर ही सत्य श्रेय का कारण बन सकता है। सम्यक् चारित्र्य का अर्थ विविध नैतिक धर्मों का अनुशीलन है, जिनमें अहिंसा प्रथम और प्रमुख है। अहिंसा का अर्थ प्रत्येक रूप में जीव और जीवन की अ-क्षति है। अहिंसा के अतिरिक्त अन्य पालनीय नैतिक धर्म सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की त्रिवेणी के संगम पर ही जैन आचार का अक्षय वट स्थित है। इस त्रिपथ धर्म के अनुशीलन से ही वासनाओं का नियमन, कर्म बन्धन का निवारण और आत्मा का निर्वाण सम्भव है। जिस प्रकार पवन द्वारा मेघों के विच्छिन्न होने पर सूर्य का पूर्ण प्रकाश प्रस्फुटित होता है उसी प्रकार सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य के द्वारा अविद्या के आवरण के विच्छिन्न होने पर आत्मा का अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति और अनंत शान्तिमय स्वरूप अभिव्यक्त होता है। आत्मा के इस स्वरूप की प्राप्ति ही परम निर्वाण है। आत्मा के इस निर्वाण की अवस्था में व्यक्तित्व का विलय नहीं होता। प्रत्येक आत्मा में अनंत ज्ञान, शक्ति और शान्ति का अविर्भाव होता है। यह अनन्त शक्ति, ज्ञान और शान्ति ईश्वर के गुण है। अतः एक प्रकार से यह निर्वाण ईश्वरत्व की प्राप्ति है। जैन दर्शन निरीश्वरवादी है। मनुष्य के उपास्य

के अर्थ में वह ईश्वर में विश्वास नहीं करता। किन्तु प्रत्येक आत्मा के आदर्श के रूप में ईश्वर जैन धर्म में भी मान्य है। ईश्वर मुक्त आत्मा की अनन्त ज्ञान, शक्ति और शान्तिमय स्थिति का ही संज्ञा है। जैन धर्म में यह ईश्वर का मानवीकरण मनुष्य का ईश्वरीयकरण है। ईश्वर प्रत्येक जीव द्वारा प्राप्य आत्मा की उत्कृष्टतम और पूर्ण अवस्था है।

अध्याय ४

बौद्ध धर्म और दर्शन

१—परिचय, साहित्य और परम्परा—

भारतीय विचार-परम्परा के विकास में भगवान बुद्ध का आविर्भाव एक महत्त्वपूर्ण घटना है। बौद्ध धर्म का उदय चिन्तन के क्षेत्र में एक नवीन युग का आरम्भ है। भगवान बुद्ध का आविर्भाव ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड-मय धर्म के विरुद्ध उपनिषदों की प्रतिक्रिया से प्रशस्त आध्यात्मिक क्रान्ति के रूप में हुआ था। यद्यपि उपनिषदों की चिन्ता का स्वरूप और उद्देश्य ब्राह्मणों से पूर्णतः भिन्न है फिर भी वे वैदिक परंपरा के ही अन्तर्गत हैं। उपनिषद वैदिक परम्परा के अन्तर्गत ही जीवन और चिन्तन के मूल्यों के पुनर्निर्धारण का प्रयास कर रहे थीं। जैनमत यद्यपि बौद्ध धर्म से प्राचीन है, किन्तु अपने सापेक्ष तर्क शास्त्र और कठोर अहिंसावाद के कारण वह एक मन्द और मृदुल आन्दोलन ही रहा। अस्तु, भारतीय चिन्तन में एक स्फुट और गंभीर क्रान्ति का अवतार बौद्ध धर्म के उदय से ही हुआ।

बौद्ध मत का प्रवर्तन गौतम बुद्ध ने किया। बुद्ध का पूर्व नाम गौतम था। बोधि प्राप्ति के बाद वे 'बुद्ध' कहलाये। उनका जन्म भी ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में हुआ था। इस प्रकार बुद्ध जैन धर्म के उद्धारक महावीर स्वामी के समकालीन और कुछ परवर्ती थे। महावीर स्वामी की भांति बुद्ध भी एक राजकुल के रत्न थे तथा छोटी अवस्था में संन्यास लेकर उन्होंने ने भी ध्यान और साधना में अपना जीवन लगाया। गया के प्रसिद्ध बोधि-वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त होने पर वे 'बुद्ध' कहलाये; और उसके बाद उन्होंने अपने धर्म का प्रचार जनता में

किया। बोधि वृक्ष के नीचे बुद्ध को जो ज्ञान प्राप्त हुआ था उसके अंगभूत चार, आर्य सत्य बौद्ध धर्म के आधार हैं। आगे चल कर इन आर्य सत्यों का वर्णन किया जायगा। बौद्ध धर्म एक सार्वजनिक धर्म है। इसकी भावना मूलतः मानवीय और उदार है। इसका दृष्टि कोण नैतिक और उद्देश्य व्यावहारिक है। अतएव आरम्भ से ही बौद्ध धर्म का सामान्य जनता में बड़ा प्रभाव रहा है। ब्राह्मण धर्म को पराभूत कर एक बार बौद्ध धर्म पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त हो गया था और कई शताब्दियों तक यह देश का राजधर्म रहा। ईसा की छठी शताब्दी के बाद इसके अन्तर्गत पतन के बीज उत्पन्न हो जाने के कारण तथा कुमारिल और शंकराचार्य के द्वारा वेदों के कर्म-काण्ड-धर्म तथा आध्यात्मिक दर्शन के पुनरुत्थान के कारण यह एक बार सदा के लिए अपने जन्म-देश से निर्वासित हो गया। किन्तु भारत से निर्वासित होने के बाद भी एशिया के अनेक देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार रहा और आज भी है। हाल में बौद्ध धर्म के प्रति सभी देशों में एक नवीन अभिरुचि जागरित हुई है और एक बार फिर बौद्ध धर्म का सार्वभौम प्रभाव अभिलक्षित हो रहा है। युद्ध और अशान्ति से उद्विग्न आधुनिक जगत में मानवता के संरक्षक सार्वभौम धर्म बनने की सम्भावना एक बौद्ध धर्म में ही है।

बुद्ध के उपदेश व्यावहारिक निर्देश थे, दार्शनिक चिन्तन नहीं। बुद्ध एक मानव धर्म के प्रवर्तक थे, किसी दार्शनिक सम्प्रदाय के संस्थापक नहीं। उनके विचार शिष्यों के प्रति प्रवचनों और जनता के प्रति उपदेशों में अभिव्यक्ति हुए हैं। अतः महावीर स्वामी की भांति बुद्ध के उपदेशों का भी कोई मौलिक लेख प्राप्त नहीं है। बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके अनुयायियों ने राजगृह में होने वाली प्रथम बौद्ध-संगीति में बुद्ध के मूल उपदेशों के संग्रह का प्रयत्न किया। पहला प्रयास सफल न होने के कारण ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी के आरम्भ में वैशाली में द्वितीय बौद्ध-संगीति में उस प्रयास की पुनरावृत्ति हुई। किन्तु सम्राट

अशोक के समय में पाटलिपुत्र में होने वाली तृतीय संगीति में बौद्धागमों के वर्तमान स्वरूप का अन्तिम निर्धारण हो सका। ये बौद्धागम 'त्रिपिटक' कहलाते हैं। पिटक का अर्थ टोकरी है। ये त्रिपिटक तीन टोकरियां हैं जिनमें बौद्ध धर्म के परम्परा-प्रसून संकलित हैं। प्रथम पिटक का नाम **'सुत्त पिटक'** है। 'सुत्त पिटक' बौद्ध धर्म में श्रुति-स्थानीय है; इसमें भगवान बुद्ध की सूक्तियाँ संग्रहीत हैं। द्वितीय पिटक का नाम **'विनय पिटक'** है। 'विनय पिटक' स्मृति स्थानीय है और इसमें बौद्ध धर्म के आचार और अनुशासन के नियमों का संग्रह है। तृतीय पिटक का नाम **'अभिधम्म पिटक'** है। 'अभिधम्म पिटक' बौद्ध दर्शन और तत्व शास्त्र का आधार है और वैदिक दर्शनों का समस्थानीय है; इसमें विचार और व्यवहार के गूढ़ सिद्धान्तों का भी विवेचन है। क्योंकि जैन धर्म की भांति बौद्ध मत का उदय भी एक सामाजिक और नैतिक आन्दोलन के रूप में हुआ था, बौद्ध धर्म के ये मूल आगम-ग्रंथ पाली भाषा में है जो जैन-प्राकृत की भांति ही जनता की भाषा थी।

भगवान बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके अनुयायियों में मतभेद उत्पन्न हो गया। वे बुद्ध के मूल उपदेशों की भिन्न-भिन्न रूप में व्याख्या करने लगे। इस मतभेद का परिणाम बौद्ध-परम्परा में भिन्न-भिन्न-विरोधी दर्शन-सम्प्रदायों का उदय हुआ। इन दर्शन-सम्प्रदायों का विशेष सम्बन्ध दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन और विरोधी वैदिक दर्शनों से संघर्ष से रहा। अतएव ये जनता की वस्तु न रह कर विद्वानों के अधिकार बन गये। इन दर्शन सम्प्रदायों के ग्रन्थों की भाषा भी संस्कृत है जो जनता की नहीं वरन् विद्वानों की भाषा थी। बौद्ध दर्शन-सम्प्रदायों का मूल प्राचीन बौद्ध धर्म में है। अतएव इन दर्शन-सम्प्रदायों के विविध और विरोधी सिद्धान्तों के विवेचन के पूर्व प्राचीन बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों का सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक और उपयोगी है।

२—प्राचीन बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त

बौद्ध धर्म का उदय उपनिषत्काल की दार्शनिक क्रान्ति के युग में हुआ था। वह क्रान्ति उत्तर वैदिक काल और उपनिषदों के अन्तराल की दार्शनिक अराजकता के प्रति प्रतिक्रिया थी। उस अराजकता के युग में अनेक प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्तों का अनर्गल प्रचार हो रहा था। परस्पर विरोधी होने के कारण वे अनेक मत दर्शन का स्थायी निधि न बन सके। अव्यस्थित और अपूर्ण होने के कारण आज उनका चिह्न भी शेष नहीं है। उपनिषदों का अध्यात्मवाद मनुष्य की अन्तरात्मा के लिये पूर्ण परितोषजनक होने के कारण भारतीय दर्शन की अनन्य मर्यादा बन गया। अन्य विरोधी मत तो सूर्य के उदय होने पर नक्षत्रों की भाँति विलीन हो गये। किन्तु उपनिषदों से भिन्न विचारधारा की प्रगति का सूचक बौद्ध धर्म एक नवीन क्रान्ति के रूप में उदय हुआ। बौद्ध मत को प्रायः माध्यमिक मार्ग कहा जाता है। जीवन और चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र में मध्यम मार्ग का अनुसरण इसकी विशेषता है। तत्व के विषय में उपनिषदों के 'सत्' (Being) तथा अन्य लुप्त दर्शनों के 'असत्' (Not-Being) का समन्वय 'सन्तान' (Becoming) की बौद्ध कल्पना में हुआ। कारणवाद के प्रसंग में भी प्रतीत्यसमुत्पाद यदृच्छावाद, अलौकिक ईश्वरवाद, स्वभाववाद, पूर्ण नियतिवाद आदि का समन्वय है। कार्य कारण-जन्य होते हुये भी अनिवार्य नहीं है, नहीं तो दुःख-निर्वाण सम्भव न होगा। दर्शन-प्रणाली में भी बुद्ध ने अत्यन्त बुद्धिवाद और वैदिक श्रुतिवाद के मध्यवर्ती सप्रयोजन आत्मचिन्तन के मध्यम मार्ग को प्रशस्त किया।

ब्राह्मणों के जिस कर्म-काण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रिया उपनिषदों के अध्यात्मवाद में प्रतिलक्षित हो रही थी उसका पर्यवासन बौद्ध धर्म के उदय में एक स्फुट क्रान्ति के रूप में हुआ। ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड

के विरोध के विषय में बौद्ध धर्म उपनिषदों के साथ एकमत है। देश के चिन्तन को नैतिक और आध्यात्मिक दिशा की ओर अभिमुख करने में बौद्ध मत ने उपनिषदों के संदेश में सहयोग दिया। उपनिषद और बौद्ध मत दोनों की प्रेरणा विचार क्रान्ति के एक समान युग में है। अतः दोनों के दृष्टिकोण में समानता है। नैतिक भावना और आध्यात्मिक दृष्टिकोण दोनों की समान विशेषता है। किन्तु इस सामान्य साम्य के साथ साथ बौद्ध धर्म के सिद्धान्त उपनिषदों के मूल सिद्धान्तों से अत्यन्त भिन्न तथा एक अर्थ में उनके नितान्त विपरीत हैं। उपनिषदों का मूल सिद्धान्त आत्मा का अस्तित्व है। यह आत्मा मनुष्य और जगत का अन्ततम सत्य तथा सार है। जगत के परिवर्तनशील क्रम का आत्मा नित्य और अपरिणत आधार है। बौद्ध धर्म का सत्य-विषयक सिद्धान्त उपनिषदों के इस सिद्धान्त के एकदम विपरीत है। बौद्ध तत्व-शास्त्र में परिवर्तन और क्षणिकता को मुख्य माना गया है। संसार की प्रत्येक वस्तु अस्थायी, परिणाम-शील और क्षणिक है। जगत और जीवन दोनों में ही निरन्तर परिवर्तन का चक्र चल रहा है। व्यावहारिक जगत मे कोई भी ध्रुव और पारमार्थिक तत्व का आधार नहीं है। मनुष्य के आन्तरिक जीवन और अनुभव में भी किसी स्थायी और अपरिणामशील तत्व का आधार नहीं है। उपनिषदों की आत्मा की कल्पना निराधार है। जगत निरन्तर परिवर्तन का क्रम है और आत्मा विज्ञान-सन्तान मात्र है। मनोभावों और विज्ञानों के मानसिक क्रम को आत्मा की संज्ञा देना कल्पना को सत्य का रूप देना है। अस्तु उपनिषदों के नित्य, ध्रुव, अपरिणाम-शील, आत्मा तत्व के सिद्धान्त के विपरीत क्षणिकवाद और अनात्मवाद बौद्ध-धर्म के दो मुख्य सिद्धान्त हैं।

(१) प्रतीत्य-समुत्पाद—

क्षणिकवाद और अनात्मवाद के सिद्धान्तों का मूल आधार प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त है। प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त बौद्ध

मत का आधार है। इसका अभिप्राय नैमित्तिक कारण-वाद है जिसके सत्य का साक्षात्कार बुद्ध को प्रसिद्ध बोधि वृक्ष के नीचे हुआ था। उस साक्षात्कार से समुद्भूत बोधि अथवा ज्ञान के कारण ही गौतम 'बुद्ध' कहलाये। दुःख और सन्ताप से भरे हुए संसार के सत्य और दुःख-निवृत्ति के मार्ग की खोज में जब वे बोधि वृक्ष के नीचे तपस्या कर रहे थे तो चिन्तन के किसी एक अपूर्व क्षण में उन्हें इस महान् सत्य का साक्षात्कार हुआ कि भौतिक जगत और मानसिक जीवन दोनों में ही वस्तुओं और घटनाओं का समुत्पाद (उत्पत्ति, उदय, आविर्भाव) एक नैमित्तिक कारण-सिद्धान्त के अनुसार होता है। जगत और जीवन में किसी वस्तु की शाश्वत सत्ता नहीं है। विश्व में सनातन कुछ भी नहीं है कदाचित कोई भी वस्तु सदा से नहीं है और न सदा रहेगी। प्रत्येक वस्तु का आविर्भाव एक विशेष क्षण में होता है। अल्प काल तक ही उसके अस्तित्व की अवधि होती है और उसके बाद एक क्षण विशेष में उसका विलय हो जाता है। किन्तु भौतिक जगत में वस्तुओं की समुत्पत्ति तथा मनःजगत में विचारों और भावनाओं का आविर्भाव दोनों ही न तो एकान्त रूप से अनैमित्तिक तथा आकस्मिक घटनाएँ हैं और न एक अनिवार्य नियति से नियन्त्रित घटनाएँ हैं। अनैमित्तिक घटन और अनिवार्य नियति दोनों की कल्पनाएं अतिवादी सिद्धान्त हैं। सत्य इन दोनों सीमाओं का माध्यमिक मार्ग है। प्रतीत्य-समुत्पाद इसी माध्यमिक मार्ग का कारण-सिद्धान्त है। वस्तुओं की और विचारों की समुत्पत्ति कुछ निमित्तों पर आश्रित है जिनके होने पर वे संघटित होते हैं और जिनके निवारण द्वारा उनका निवारण भी सम्भव है। ये निमित्त अनिवार्य नहीं है, उनका निवारण सम्भव है और उनके निवारण की सम्भावना में दुःख-निवृत्ति की सम्भावना निहित है। दुःख-निवृत्ति का मार्ग ही बुद्ध की मौलिक खोज थी। अतएव इस प्रसंग में प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त बौद्ध मत में विशेष महत्वपूर्ण है। अविद्या दुःख का निमित्त है। अविद्या के कारण ही दुःख का

समुत्पाद होता है। अतः अविद्या के निवारण के द्वारा दुःख की निवृति भी सम्भव है। यह दुःख-निवृत्ति ही बौद्ध धर्म का निर्वाण है। निर्वाण ही जीवन का परमार्थ है।

(२) क्षणिकवाद—

क्षणिकवाद का सिद्धान्त एक प्रकार से प्रतीत्य-समुत्पाद के ही अन्तर्गत है। नैमित्तिक कारणवाद में वस्तुओं की सनातन सत्ता का निषेध अभिप्रेत है। जगत में जो कुछ भी सत्ता-वान है वह एक काल-गत प्रतीति है। किसी निमित्त के कारण उसका एक काल विशेष में समुत्पाद होता है। उत्पन्न वस्तु का विनाश भी अवश्यंभावी है, जिसका आदि है उसका अन्त अवश्य होगा। इसका अभिप्राय यह है कि जगत में ध्रुव और अपरिणामशील सत्य (तत्व) नहीं है। अस्तु, ध्रुवता अथवा नित्यता नहीं, वरन् परिवर्तन जीवन और जगत का वास्तविक नियम है। स्थायित्व अथवा ध्रुवता मन की मिथ्या कल्पना है, अनुभव-गत सत्य नहीं। 'भाव' नहीं वरन् 'भवन', 'सत्' नहीं वरन् 'सम्भवन' संसार का सत्य है। कारण-सिद्धान्त की भांति यहां भी बौद्ध धर्म 'सत्' और 'असत्' के माध्यमिक मार्ग का अनुसरण करता है और निरन्तर 'सम्भवन' में सत्य का सिद्धान्त पाता है। आगे चल कर यह परिवर्तन का सिद्धान्त ही बौद्ध दर्शनों में क्षणिकवाद के सिद्धान्त में परिणत हो गया। बुद्ध का अभिप्राय केवल वस्तुओं की अनित्यता तथा परिणामशीलता से था। किन्तु परिवर्तन के सिद्धान्त का निरन्तर क्षण-सन्तान के रूप में काल की कल्पना से संयोग होने पर उसका परिणाम क्षणिकवाद ही होता है। अनित्यता और परिवर्तन कालगत कोटियाँ हैं। काल क्षणों का निरन्तर सन्तान-क्रम है। अतः परिवर्तन भी निरन्तर क्रम होगा। निरन्तर परिवर्तन का एक मात्र आशय क्षण-क्षण पर परिवर्तन अर्थात् क्षणिकवाद ही हो सकता है। अस्तु, ध्रुवता के निराकरण का परिणाम निरन्तर परिवर्तन

होता है। जगत नदी के धारा की भांति निरन्तर प्रवाह और परिवर्तन-शील है। जीवन और अनुभव में ध्रुवता की कल्पना दीपशिखा में ध्रुवता की कल्पना के समान भ्रान्तिपूर्ण है। निरन्तर नवीन जल के आगम से धारा के क्षण-क्षण परिवर्तन के बाद भी उसे एक ध्रुव रूप मानना उपचार मात्र है। इसी प्रकार निरन्तर नवीन ज्योति के आगम के बाद भी दीपशिखा के एक स्थायी रूप की कल्पना भ्रान्ति है। जलधारा और दीपशिखा की भाँति निरन्तर परिवर्तन ही सत्य का सिद्धान्त और जीवन तथा जगत का सार है।

(३) अनात्मवाद

अनात्मवाद का सिद्धान्त परिवर्तनवाद अथवा क्षणिकवाद का ही परिणाम है। ध्रुवता अथवा स्थायित्व का निषेध वस्तुतः द्रव्य और आत्मा का ही निषेध है। बाह्य और आन्तरिक जगत में कोई भी ध्रुव और अपरिणामशील तत्व नहीं है। जिसे हम द्रव्य मानते हैं वह एक काल्पनिक गुण-संघात मात्र है। जिसे हम आत्मा मानते हैं वह एक विज्ञान संतान मात्र है। गुणों अथवा स्वलक्षणों के निरन्तर क्रम के कारण हमें एक एकत्वपूर्ण द्रव्य की भ्रांति होती है। विचारों और भावनाओं के निरन्तर संक्रमण के कारण हमें एक एकत्वपूर्ण आत्मा की भ्रान्ति होती है। वस्तुतः द्रव्य और आत्मा कोई वास्तविक तत्व नहीं हैं। गुण-संघात और विज्ञान-संतान की वे काल्पनिक संज्ञाएँ मात्र हैं। किसी भी तर्क द्वारा हम वस्तु जगत के अन्तर्गत एक अपरिणाम-शील तत्व (द्रव्य) की सत्ता सिद्ध नहीं कर सकते। मनुष्य के अन्तर्गत किसी अपरिणामशील आत्म-तत्व के अस्तित्व का हम अनुभव नहीं करते। अस्तु, आत्मा और द्रव्य दोनों दार्शनिकों की कल्पनाएं मात्र हैं। अनुसन्धान करने पर हम अपने अन्तर्जगत में केवल विशेष विचार, भावना, कल्पना, वेदना आदि ही पाते हैं। ये सब भी क्षणिक और अस्थायी है। हमारा आन्तरिक जीवन इन

सब का एक निरन्तर क्रम मात्र है। इन सबके संघात की कल्पना को ही आत्मा का नाम दिया जाता है। इनसे भिन्न और अतीन किसी नित्य तत्व के रूप में आत्मा का अस्तित्व नहीं है। जिन संघातों से हमारे आन्तरिक जीवन अथवा तथाकथित आत्मा का निर्माण होता है उन्हें बौद्ध मत में 'स्कन्ध' कहते हैं। रूप, वेदना, संज्ञान, संस्कार, और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों के समवाय का नाम आत्मा है। मिलिन्द प्रश्न में जिस प्रकार नागसेन ने रथ के अंग अंग का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया कि उन अंगों के समुदाय के अतिरिक्त रथ नाम की कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार उक्त पाँच स्कन्धों के समवाय के अतिरिक्त और कोई निगूढ़ आत्मतत्व नहीं है। अस्तु, बौद्ध मत के अनुसार जीवन और जगत स्वलक्षणों और विज्ञानों का निरन्तर सन्तान मात्र है तथा दोनों ही समान रूप से अनात्म अर्थात् किसी नित्य स्वरूप अथवा ध्रुव सार से रहित है।

३- प्राचीन बौद्ध धर्म की नैतिक शिक्षा

जैन धर्म की भांति बौद्ध मत का उदय भी आरम्भ में एक नैतिक और सामाजिक आन्दोलन के रूप में हुआ था। बुद्ध एक दार्शनिक सिद्धान्त के संस्थापक की अपेक्षा एक नैतिक धर्म के प्रवर्तक अधिक थे। जीवन और जगत की समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण चिन्तनात्मक की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक था। चिन्तनात्मक तत्व-शास्त्र में उनकी अधिक अभिरुचि नहीं थी। अचिन्त्य तत्वों के विषय में शून्य चिन्तन उन्हें निरर्थक और निष्फल प्रतीत होता था। उनके मत में तत्व-शास्त्र की समस्याएं बौद्धिक दृष्टि से अनिश्चित और नैतिक दृष्टि से निष्प्रयोजन हैं। उनके इस दृष्टिकोण का समाधान उनके जीवन के इतिहास और उसकी सबसे महत्वपूर्ण घटना 'बोधि' में है। बुद्ध के दार्शनिक जीवन का आरम्भ उनके बचपन की उस घटना से हुआ था जिसमें उन्होंने एक बार एक वृद्ध मनुष्य के, फिर एक रोगी

के और अन्त में एक शव के दर्शन में संसार के दुख का प्रथम आभास पाया था। बचपन की उस घटना का बुद्ध के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसी ने अन्त में संन्यास लेकर संसार के उद्धार का मार्ग खोजने के लिए प्रेरित किया। कठिन तपस्या और साधना के बाद बोधि वृक्ष के नीचे उन्हें सत्य का साक्षात्कार हुआ। इस सत्य का सार वे चार आर्य सत्य माने जाते हैं जो बौद्ध आचार-दर्शन के आधार हैं।

जीवन के जिस रहस्य की खोज और जिस समस्या के समाधान के लिए बुद्ध ने राज भवन के विलास और आनन्दमय जीवन का परित्याग कर वन के कठोर तपोमय जीवन का वरण किया उस रहस्य का दर्शन और उस समस्या का समाधान उन्हें अपना 'बोधि' में प्राप्त हुआ। बुद्ध की मूल खोज दुःख के कारण और उनकी साधना उसके निवारण के लिए थी। बोध के साक्षात्कार में प्राप्त चार सत्यों का संबन्ध दुःख के अस्तित्व, उसके कारण, उसके निवारण, तथा उस निवृत्ति के साधन से है। प्रथम आर्य यह सत्य है कि जीवन दुःखमय है। संसार में सर्वत्र दुःख छाया हुआ है। जीवन में प्रतीत होने वाला सुख भी क्षणिक और भ्रांतिमय है। उससे केवल तात्कालिक उन्माद उत्पन्न होता है और अन्त में उसका परिणाम दुःख ही होता है। किन्तु यह दुःख-वाद बौद्ध धर्म का चरम सिद्धान्त नहीं है। यह जीवन का केवल प्रथम सत्य है, अन्तिम सत्य नहीं। जिस प्रकार बुद्ध ने इसका प्रथम अनुभव किया था उसी प्रकार इसका प्राथमिक अनुभव निर्वाण के प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक है। द्वितीय सत्य यह है कि यह दुःख अनैमित्तिक अथवा अकारण नहीं है; इसका एक कारण है। दुःख जीवन का एक तथ्य है किन्तु वह नित्य, अकारण, अनिवार्य और ऐकान्तिक सत्य नहीं। नैमित्तिक कारण-वाद बौद्ध धर्म का मूल सिद्धान्त है और उसका प्रधान उपयोग इसी प्रसंग में है। संसार में किसी भी वस्तु की सत्ता नित्य, अकारण तथा अनैमितिक नहीं। संसार की प्रत्येक

वस्तु की भांति दुःख भी न नितान्त आगन्तुक है और न एकान्त रूप से अनिवार्य। दुःख के समुत्पाद का कारण उन परिस्थितियों में है जो उसके उदय की निमित्त हैं। इस नैमित्तिक समुत्पाद से ही दुःख का उदय और आरम्भ होता है। जिसका आरम्भ है उसका अन्त भी आवश्यक है। दुःख का आरम्भ है अतः उसका निरोध भी सम्भव है। यह दुःख-निरोध की संभावना बौद्ध मत का तृतीय आर्य सत्य है। इस प्रकार दुःख निरोध की सम्भावना का दर्शन कर बुद्ध दुःख-निवृति के साधन की खोज में लग गये। दुःख-निवृति का यह मार्ग बौद्ध मत का चतुर्थ आर्य सत्य है। अस्तु, संसार में सर्वत्र दुःख है, किन्तु उस दुःख का एक कारण है जिससे वह समुत्पन्न होता है, उस कारण का निरोध कर दुःख का निवारण सम्भव है तथा इस दुःख-निवृति का एक साधन-पथ है, ये चार आर्य सत्य बौद्ध मत के आचार-प्रासाद के आधार स्तम्भ है।

दुःख का निदान करते हुए तथा उसके कारण की खोज में बुद्ध ने एक दीर्घ निमित्त-परम्परा का अनुसन्धान किया। अविद्या दुःख का मूल कारण है। अन्य उत्तर कारण-परम्परा अविद्या से ही प्रसूत है। दुःख का अव्यवहित प्रथम कारण 'जाति' अथवा 'जन्म' है। जन्म के कारण ही दुःख होता है। जन्म का कारण 'भव' है। भव का अर्थ अस्तित्व की कामना है। भव का आधार 'उपादान' है। उपादान का अर्थ अस्तित्व की आसक्ति है। इस आसक्ति का मूल 'तृष्णा में है। तृष्णा विषयों की कामना है। इस तृष्णा का मूल 'वेदना' में है। वेदना पूर्व जन्मों में प्राप्त ऐन्द्रिक अनुभूति है जो वर्तमान जन्म में वस्तुओं की तृष्णा के रूप में व्यक्त होती है। यह वेदना 'स्पर्श' पर आश्रित है। स्पर्श इन्द्रिय और विषयों का संयोग है। इस संयोग का आधार 'षडायतन' है। षडायतन का अर्थ छः ज्ञानेन्द्रियों का समूह है। षडायतन का आश्रय 'नाम-रूप' अर्थात् भौतिक और मानसिक स्कन्धों पर है। यह नाम-रूप स्कन्ध 'विज्ञान' अर्थात् चेतना का परिणाम है, और यह चेतना पूर्व

जन्म के 'संस्कारों' का परिणाम है। इन संस्कारों का मूल 'अविद्या' में है, जो हमारे बन्धन-शृंखला की प्रथम कड़ी है और दुःख का मूल कारण है। इस प्रथम कड़ी के छिन्न होने पर सम्पूर्ण शृंखला विशृंखल हो जाती है। कारण के दूर होने पर उसका परिणाम-भूत कार्य भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मूल कारण अविद्या के छिन्न होने पर उसके परिणाम-भूत कार्य-कारण-परम्परा के प्रत्येक पर्व का क्रमशः नाश होता जाता है और अन्ततः दुःख की निवृति सम्भव होती है। यह दुःख-निवृति ही बौद्ध मत का निर्वाण है।

जैसा कहा जा चुका है कि बौद्ध मत के अनुसार संसार दुःखमय है। किन्तु इस दुःख के कारणों का निवारण कर इसका निरोध सम्भव है। इस दुःख-निवृति की निर्वाण-संज्ञक अवस्था की प्राप्ति की सम्भावना बौद्ध धर्म के दुःखवाद में आशावाद की अमृत किरण है। निर्वाण की इस अवस्था को प्राप्त करने का साधन-पथ बौद्ध धर्म और आचार का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। यह साधन-पथ चार आर्य सत्यों में चतुर्थ और चरम सत्य है। निर्वाण-साधना का व्यावहारिक मार्ग बौद्ध आचार का सर्वस्व है। इस साधन पथ के आठ पर्व हैं। प्रत्येक पर्व का प्रतीक एक नैतिक गुण अथवा धर्म है। इन आठ धर्मों के अनुशीलन से अन्ततः निर्वाण की प्राप्ति होती है। अविद्या बन्धन और दुःख का मूल कारण है अतः सबसे प्रथम और सबसे महत्वपूर्ण धर्म 'सम्यक-दर्शन' है। बन्धन-शृंखला की प्रथम कड़ी का सबसे पहले तोड़ना आवश्यक है। सम्यक् दर्शन का अभिप्राय उक्त चार आर्य सत्यों का भली भांति समझना है। किन्तु दुःख से निर्वाण के लिए ज्ञान मात्र पर्याप्त नहीं है, उस ज्ञान के जीवन में उपयोग द्वारा ही जीवन का कल्याण सम्भव है। ज्ञान-निष्ठा के जीवन और व्यवहार का सिद्धान्त बनने के लिए संकल्प का आधार आवश्यक है। अतः 'सम्यक् संकल्प' बौद्धचर्या का द्वितीय चरण है। सत्य के अनुकूल जीवन निर्माण के लिए सच्चे संकल्प की आवश्यकता

है। इस संकल्प के आधार पर ही ज्ञान-गत सत्य जीवन और व्यवहार का सिद्धान्त बन सकता है। मनुष्य एक वाचाल प्राणी है। वाणी उसके जीवन और व्यवहार का प्रमुख अंग है। अतः सम्यक् संकल्प का प्रथम प्रयोग वाणी के संयम में ही होना चाहिए अतः 'सम्यक् वाक्' हमारी साधना का तृतीय चरण है। वाणी के अतिरिक्त शेष सामान्य व्यवहार में भी सत्य के सिद्धान्तों का अनुशीलन अपेक्षित है। अतः 'सम्यक् कर्मान्त' अथवा सम्यक् व्यवहार साधना का चतुर्थ चरण है। वाणी और व्यवहार जीवन के रूप हैं, किन्तु आजीविका हमारे अस्तित्व का आधार है। आजीविका के अनुकूल ही हमारा आचार होगा। अतः शुद्ध, सात्विक और सत्यानुकूल आचार के लिए अनुरूप आजीविका का अवलम्बन आवश्यक है। अस्तु 'सम्यक् आजीव' हमारे साधना-पथ का पञ्चम पर्व है। इस कठिन साधना-पथ पर निरन्तर प्रगतिशील रहने के लिए बड़े मानसिक और नैतिक प्रयास की आवश्यकता है। सिद्धान्तों और आदर्शों की कल्पना सहज है किन्तु जीवन और व्यवहार में उनका अनुशीलन सजगता और सचेष्टता द्वारा ही सम्भव है। अतः 'सम्यक् प्रयत्न' साधना का षष्ठ चरण है। किन्तु इस प्रयत्न की मूल प्रेरणा शक्ति सम्यक् विचार में है। सम्यक् विचार सत्य का निरन्तर स्मरण है। निरन्तर स्मरण के आधार पर ही सत्य का व्यवहार में अनुशीलन सम्भव है। अस्तु 'सम्यक् स्मृति' जो साधना का सप्तम चरण है सत्यानुकूल जीवन और व्यवहार का आधार है। इस सम्यक् स्मृति को सदा सजग रखने के लिए अनवरत ध्यान की आवश्यकता है। सत्य के इस अनवरत ध्यान को 'सम्यक् समाधि' कहते हैं जो बौद्धचर्या का अष्टम और अन्तिम चरण है। इस अष्टाङ्ग साधना पथ के अनुसरण द्वारा निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है। दीप-निर्वाण की भांति इस अन्तिम अवस्था में हमारी समस्त वासनाओं का अवसान हो जाता है। यह निर्वाण पूर्ण और अखण्ड शान्ति की अवस्था है। यद्यपि अधिकांश बौद्ध सम्प्रदायों में इसके विषय में मौन ही उचित समझा है।

निर्वाण साधना की एक अन्य संक्षिप्त प्रणाली का निर्देश भी बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। इस प्रणाली के अनुसार 'प्रज्ञा' साधना का आधार है। प्रज्ञा का अर्थ बौद्धिक ज्ञान नहीं, साक्षात अनुभव है; यद्यपि इसे आन्तरिक आत्मानुभव कहना कठिन है क्योंकि बौद्ध मत में नित्य आत्मा मान्य नहीं है। यह प्रज्ञा चार आर्य सत्यों की अन्तर्दृष्टि है जो शील और समाधि द्वारा अनुभव में परिणत होती है। शील सदाचार है। समाधि चार आर्य सत्यों का ध्यान है। बौद्ध मत में योग का महत्वपूर्ण स्थान है उक्त अष्टांग साधना की भांति इस संक्षिप्त बौद्धचर्या का अन्त भी समाधि में ही होता है। इस समाधि में ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। कुछ बौद्ध सम्प्रदाय इस निर्वाण को नितान्त निषेधात्मक तथा समस्त वासनाओं का प्रशमन, पंचस्कन्ध-प्रक्रिया की परिसमाप्ति तथा हमारी सत्ता का विलय मानते हैं। यह निर्वाण शून्य है। अन्य सम्प्रदाय इसे स्वरूप-शून्य मानते हैं, इसके विषय कुछ भी कहना अनधिकार है। कुछ इसे भाव-रूप भी मानते हैं। उनके अनुसार यह वेदान्त के ब्रह्मभाव की प्राप्ति की भांति अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्दपूर्ण अवस्था है। यह निर्वाण जीवन्मुक्ति की भाँति जीवन काल में भी प्राप्य है। जीवन में ही निर्वाण प्राप्त को 'अर्हन्त' कहते हैं। विदेह मुक्ति की बौद्धमत में 'परि-निर्वाण' संज्ञा है।

४—बौद्ध दर्शन-सम्प्रदाय

बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके अनुयायियों में अनेक मतभेद उत्पन्न हो गये। वे भिन्न-भिन्न प्रकार से बुद्ध के उपदेशों की व्याख्या करने लगे। इस मतभेद के परिणाम स्वरूप बौद्ध परम्परा में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय हुआ। बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या बहुत बताई जाती है। किन्तु उनमें से १८ सम्प्रदाय मुख्य माने जाते हैं। इन १८ सम्प्रदायों में से चार सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध हैं।

भारतीय दर्शनों के ग्रन्थों में प्रायः इन्हीं चार सम्प्रदायों का उल्लेख और आलोचन अधिक मिलता है। इन चार सम्प्रदायों के नाम ये हैं—(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार और (४) माध्यमिक। इनमें से पहले दो सम्प्रदाय 'हीनयान' परम्परा में हैं जो अपने लोक-सामान्य यथार्थवाद के कारण बौद्ध मत का 'निम्न मार्ग' माना जाता है; तथा अन्तिम दो सम्प्रदाय 'महायान' परम्परा के अन्तर्गत हैं जो अपने उत्कृष्ट आदर्शवाद के कारण बौद्ध मत का 'उच्च मार्ग' माना जाता है ; ऐतिहासिक दृष्टि से कदाचित हीनयान महायान से प्राचीन है। भौगोलिक दृष्टि से महायान उत्तरी बौद्ध धर्म है। इसका प्रचार ब्रह्म देश, तिब्बत, चीन, स्याम आदि उत्तरी देशों में है। हीनयान दक्षिणी बौद्ध मत है और इसका मुख्य प्रचार सिंहल द्वीप अथवा लंका में है। दार्शनिक दृष्टि से हीनयान अपने आध्यात्मिक स्वार्थवाद के कारण निम्न मार्ग माना जाता है। हीनयान मत में प्रत्येक व्यक्ति को अपना उद्धार स्वयं करना है, अपने निर्वाण के लिए स्वयं साधना करनी है। प्रत्येक व्यक्ति पर अपने ही निर्वाण का उत्तरदायित्व है और वह अपनी ही साधना से वह उसे प्राप्त कर सकता है। महायान मत का दृष्टिकोण अधिक उदार और परार्थवादी है। महायान मत के अनुसार पिछड़े हुए लोगों को साधना में सहायता देना उत्कृष्ट साधकों का कर्त्तव्य है। एक उदार साधक अपनी साधना का फल अपने पिछड़े हुए और अक्षम साथी को देकर उसकी सहायता कर सकता है। हमारे ऊपर केवल अपने व्यक्तिगत निर्वाण का उत्तरदायित्व ही नहीं वरन् सम्पूर्ण मानवता के उद्धार का उत्तरदायित्व है। महायान का यह व्यापक और उदार निर्वाण-मत उत्तर-वेदान्त के 'सर्व-मुक्ति' के सिद्धान्त के समान ही है।

(१) वैभाषिक सम्प्रदाय—

वैभाषिक सम्प्रदाय एक प्रकार का लोक-सामान्य यथार्थवाद है। इसके अनुसार मानसिक और भौतिक दोनों ही जगत् सत्य हैं। मान-

सिक विज्ञान, विचार और भावनाएं तथा बाह्य विषय, वस्तु और पदार्थ समान रूप से सत्य हैं। वैभाषिक मत माध्यमिक शून्यवाद का नितान्त विपरीत है जिसके अनुसार आन्तरिक और बाह्य दोनों ही जगत शून्य अथवा असत् हैं। केवल आन्तरिक जगत के मानसिक विज्ञानों को सत्य मानने वाले योगाचार विज्ञानवाद के विपरीत वैभाषिक सम्प्रदाय आन्तरिक और बाह्य, मानसिक तथा भौतिक दोनों ही जगत को सत्य मानता है। विज्ञान और वस्तु सभी को सत्य मानने के कारण वैभाषिक मत को 'सर्वास्तित्व-वाद' भी कहते हैं। वैभाषिक मत के अनुसार बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है, सौत्रान्तिक मत की भांति अनुमान के द्वारा नहीं। बाह्य विषय के प्रत्यक्ष में विश्वास करने के कारण वैभाषिक मत 'बाह्य-प्रत्यक्ष-वाद' भी कहलाता है। बौद्ध दर्शन का सामान्य क्षणिकवाद वैभाषिक मत में भी मान्य है। प्रत्येक वस्तु की स्थिति क्षणिक है। किन्तु क्षणिक वस्तुओं का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा होता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्यक्ष का विषय सामान्य अथवा संघात पदार्थ नहीं है। प्रत्यक्ष केवल नित्य परिणाम-शील 'स्वलक्षणों' का ही होता है। 'स्वलक्षण' एक क्षणिक प्रत्यक्ष-गत विशेष पदार्थ है। संघात और सामान्य पदार्थ बौद्धिक प्रत्यय है, प्रत्यक्ष-गत विषय नहीं। कात्यायनी पुत्र (ई० पू० दूसरी शताब्दी) वैभाषिक मत के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके द्वारा रचित **ज्ञान प्रस्थान शास्त्र** इस सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ था। इस पर रचित **महाविभाषा** नाम की टीका के कारण इस सम्प्रदाय का नाम वैभाषिक सम्प्रदाय हुआ। वसुबन्धु (ई० चौथी शताब्दी) रचित **अभिधम्म कोश** इस सम्प्रदाय का प्रथम प्राप्य और परम प्रामाणिक ग्रन्थ है। दिङ्नाग (ई० पांचवीं शताब्दी) का **प्रमाण समुच्चय** और धर्मकीर्ति का **'न्यायबिन्दु'** वैभाषिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध बौद्ध-न्याय के दो अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।

(२) सौत्रान्तिक सम्प्रदाय

सौत्रान्तिक सम्प्रदाय एक प्रकार का आलोचनात्मक यथार्थवाद है। वैभाषिक मत के समान इसमें भी मानसिक और भौतिक दोनों जगत को सत्य माना गया है। बाह्य विषय मानसिक विज्ञान मात्र नहीं है जैसा कि योगाचार विज्ञानवाद का मत है वरन् वे वास्तविक सत्तावान् बाह्य पदार्थ हैं। हमारे मानसिक विज्ञानों का रूप बाह्य पदार्थों के ऊपर निर्भर है इसीलिए हम जहाँ भी चाहें और और जिस रूप में चाहें पदार्थों को नहीं देख सकते। यदि पदार्थ विज्ञान मात्र होते तो उनका मनोनुकूल रूप और स्थान में अनुभव सम्भव होता। अस्तु, बाह्य पदार्थ वास्तविक हैं, काल्पनिक अथवा मानसिक नहीं। किन्तु वैभाषिक मत के समान बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान सौत्रान्तिक मत में मान्य नहीं। सौत्रान्तिक मत में क्षणिक स्वलक्षणों का प्रत्यक्ष ज्ञान भी सम्भव नहीं है। सामान्य पदार्थों की भांति स्वलक्षणों का ज्ञान भी अनुमान द्वारा होता है। हमारे मानसिक विज्ञानों का रूप बाह्य विषयों की सत्ता पर निर्भर है, इसी आधार पर हम अपने विज्ञानों के अनुरूप पदार्थों की सत्ता का अनुमान करते हैं। निरन्तर परिणाम-प्रक्रिया के कारण स्वलक्षणों का अनुभव और प्रत्यक्ष एक ही क्षण में सम्भव नहीं है। क्षण-क्षण परिणामशील स्वलक्षण अपने संस्कार छोड़ जाते हैं, जिनके आधार पर उत्तर क्षण में उनकी सत्ता का अनुमान होता है। सौत्रान्तिक मत में लोक-सामान्य प्रत्यक्ष भी कल्पनापोढ़ है। भौतिक संघात तथा सामान्य पदार्थों की सत्ता स्वलक्षणों के अनुमान पर आश्रित कल्पना की सृष्टि है। सौत्रान्तिक मत में बाह्य विषयों का ज्ञान अनुमान द्वारा माना जाता है। अतः इसे 'बाह्यानुमेयवाद' भी कहते हैं। **सूत्र पिटक** इस सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ है इसीलिए इसका नाम सौत्रान्तिक सम्प्रदाय पड़ा। इस मत के सिद्धान्तों का अधिकांश परिचय वैभाषिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों पर सौत्रान्तिक विद्वानों द्वारा रचित टीका ग्रन्थों से मिलता है। हाल में ही इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक

कुमार लब्ध द्वारा रचित **कल्पना मण्डितिका** नामक एक मौलिक ग्रन्थ का एक अंश उपलब्ध हुआ है।

(३) योगाचार सम्प्रदाय

महत्व की दृष्टि से योगाचार-मत बौद्ध दर्शनों में केवल माध्यमिक महत्व से द्वितीय है। इस मत के अनुसार केवल मानसिक विज्ञान ही एक मात्र सत्य है। इसीलिए योगाचार मत को विज्ञानवाद भी कहते हैं। विज्ञानों के अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं है। बाह्य विषय के रूप में प्रतीत होने वाली वस्तु वस्तुतः मानसिक विज्ञान की प्रतिच्छाया मात्र है। विज्ञानवादी न तो वैभाषिकों और सौत्रान्तिकों की भांति मानसिक और भौतिक दोनों जगत की सत्ता को स्वीकार करते हैं तथा न माध्यमिक शून्यवादियों की भांति दोनों की सत्यता का निराकरण करते हैं। उनके अनुसार मानसिक विज्ञान मात्र ही सत्य है। बाह्य पदार्थ काल्पनिक और मिथ्या है। विज्ञानों के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं है सत्य मानसिक है भौतिक नहीं, आन्तरिक विज्ञान है बाह्य पदार्थ नहीं। मानसिक विज्ञान ही बाह्य पदार्थ के रूप में प्रतीत होता है। यह बाह्यता मन की कल्पना और मिथ्या भ्रान्ति है। अनादि माया के प्रभाव के कारण इसकी प्रतीति होता है। वस्तुतः विज्ञान-सन्तान मात्र सत्य है। विज्ञानों का रूप बाह्य विषयों पर आश्रित नहीं, पूर्वज्ञान का संस्कार-रूप वासना पर निर्भर है। मैत्रेय (ई० तीसरी शताब्दी) योगाचार सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। असङ्ग (ई० तीसरी शताब्दी) इस सम्प्रदाय दार्शनिक सिद्धान्तों के मुख्य प्रतिष्ठापक थे। असङ्ग के अनुज वसुबन्धु जो आरम्भ में वैभाषिक मत के अनुयायी थे और जिन्हें असङ्ग ने योगाचार मत में दीक्षित किया था इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध प्रचारक थे। असङ्ग रचित **महायान-सम्परिग्रह, योगाचार-भूमि-शास्त्र** और **महायान सूत्रालंकार** तथा वसुबन्धु रचित **अभिधम्म कोश** इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।

(४) माध्यमिक सम्प्रदाय

बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म की परम्परा में जिन दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय हुआ उनमें माध्यमिक सम्प्रदाय सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अतिवादी दार्शनिक सीमाओं को त्याग कर उनके मध्य-वर्ती मार्ग का अनुसरण बौद्ध मत की विशेषता है। इस मध्य-मार्ग का प्रतिनिधि होने के कारण ही इस सम्प्रदाय की 'माध्यमिक' संज्ञा है और इसी कारण यह बौद्ध दर्शनों में प्रमुख है। माध्यमिक मत के अनुसार मानसिक और भौतिक, आन्तरिक और बाह्य दोनों ही जगत असत्य और शून्य हैं। शून्य को ही सत्य मानने के कारण इस मत का नाम 'शून्यवाद' भी है। हमारे जीवन और अनुभव के आधारभूत बाह्य और आन्तर विषयों के निराकरण के कारण इसे 'वैनाशिक' मत भी कहते हैं। क्षणिकवाद माध्यमिक मत का आधार है। क्षण-क्षण पर परिवर्तित होने वाले विज्ञानों और विषयों के वास्तविक स्वरूप का निरूपण सम्भव नहीं है। विषयों के चिन्तन और विज्ञानों के ध्यान के पूर्व ही हमारे चिन्तन और ध्यान के आधारभूत विज्ञान और विषय विनष्ट और विच्छिन्न हो जाते हैं। अतः आन्तरिक और बाह्य दोनों ही जगत स्वरूप-शून्य हैं। जगत, विज्ञान, आत्मा, ईश्वर सभी समान रूप से निस्वरूप और निःसत्व है। उनका कोई ऐसा स्थायी लक्षण नहीं है जिसके आधार पर उनका स्वरूप निरूपित किया जा सके। आधुनिक बौद्ध विद्वानों ने निःस्वरूपता की वेदान्त की अनिर्वच-नीयता के समान व्याख्या कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि शून्यवाद वैनाशिक नहीं है। एक अन्य प्रसंग में मध्वाचार्य ने विज्ञान-वादियों के 'शून्य' और वेदान्तियों के 'ब्रह्म' को समाना-र्थक माना है। मध्वाचार्य का संकेत दोनों की निषेधात्मक प्रवृत्ति की ओर है। आधुनिक विद्वानों का आग्रह दोनों के विधेयात्मक तत्व की ओर है। उनके अनुसार 'शून्य' का अर्थ स्वरूप-शून्यता अथवा अनि-र्वचनीयता है। 'शून्य' और 'ब्रह्म' के साम्य की सिद्धि बौद्ध मत और

वेदान्त के मूल एकत्व का उद्घाटन कर भारतीय चिन्तन को निसन्देह एक नई दिशा दे सकेगी। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य नागार्जुन (ई० दूसरी शताब्दी) माध्यमिक सम्प्रदाय के आदि प्रतिष्ठापक थे। उनकी **माध्यामिक कारिका,** जिस पर चन्द्रकीर्ति की **प्रसन्नपदा** नामक विख्यात टीका है, माध्यमिक ग्रन्थ का मूल ग्रन्थ है। कमलशील की **पञ्जिका** टीका सहित शान्तरक्षित (ई० आठवीं शताब्दी) कृत **तत्व संग्रह** माध्यामिक न्याय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

भाग ४

विश्वास का समाधान

(स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत और गीता का लोक-धर्म)

१—प्रस्तावना

जैन और बौद्ध धर्मों का उदय भारतीय विचार और संस्कृति के इतिहास में एक युगान्तर का आरम्भ था। भगवान बुद्ध के जन्म के बाद भारतीय विचारधारा की प्रगति की प्रधान प्रेरणा इस नवीन जागरण से जनित क्रान्ति ही रही है। यद्यपि आगे चल कर जैन और बौद्ध धर्मों में दार्शनिक सम्प्रदायों का भी विकास हुआ है, किन्तु आरम्भ में इन दोनों धर्मों का, आविर्भाव नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों के रूप में हुआ था। आज भी जैन और बौद्ध परम्पराओं की लोक-धर्म रूप से ही अधिक मान्यता है। जैन और बौद्ध धर्मों के उदय से अभिप्रेत आन्दोलन का उद्देश्य केवल विचार-सिद्धान्तों में परिवर्तन ही नहीं था वरन् जीवन के आदर्श और संस्कृति के स्वरूप का पुनर्मूल्यन भी था। ये आन्दोलन एक प्रकार के सार्वजनिक आन्दोलन थे। इनका उद्भव मनीषियों के एक सीमित वर्ग में नहीं वरन् एक जागरणशील जाति के क्रान्तिमय जीवन में हुआ था। दर्शन-सम्प्रदायों के विपरीत इनका प्रभाव क्षेत्र भी कुछ बुद्धिवादियों के विचार-जगत तक ही सीमित नहीं था वरन् समस्त जनता के जीवन-पर्यन्त व्यापक था। इन आन्दोलनों के प्रवर्तक महावीर और बुद्ध यद्यपि जन्म से राजकुल के रत्न थे किन्तु वे वृत्ति से संन्यास-निष्ठ होकर लोक-सेवा में संलग्न हो गये थे। उन्होंने विद्वानों से वाद-विवाद न करके सामान्य जनता को जनता की ही भाषा में उपदेश दिया। जैन और बौद्ध दोनों धर्मों के मूल और प्राचीन ग्रन्थ शिष्यों के प्रति इन दोनों धर्म-प्रवर्तकों के सम्वादों और जनता के प्रति उनके उपदेशों के रूप में है। प्रवर्तकों के निर्वाण के बाद उनके अनुयायियों ने उन सम्वादों और उपदेशों को लोक-हित के लिए संग्रहीत कर लिया था। ये सभी ग्रन्थ प्राकृत भाषा में हैं जो, जैसा कि 'प्राकृत' शब्द के

अभिधार्थ से ही स्पष्ट है, उस काल में साधारण जनता की भाषा थी। प्राचीन जैन ग्रन्थों की भाषा अर्ध-मागधी प्राकृत और प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों की भाषा पाली है।

जीवन की समस्याओं के प्रति सरल और सहृदय दृष्टिकोण रखने के कारण जैन और बौद्ध धर्मों का जनता पर बड़ा प्रभाव हुआ। ब्राह्मण-धर्म के कठिन और नीरस विधिवाद से उद्विग्न जनता बड़े वेग से इन धर्मों की उदार परिधि में आश्रय ग्रहण करने लगी। जैन और बौद्ध धर्मों के विचारों और नियमों की ऋजुता और सजीवता का ब्राह्मण-धर्म की दुर्गम विधियों और शुष्क रूढ़ियों की दुरूहता तथा नीरसता से स्पष्ट अन्तर है। इस अन्तर के अतिरिक्त इन धर्मों की लोक-प्रियता और प्रचार का एक महत्वपूर्ण कारण ब्राह्मण धर्म की सामाजिक संकीर्णता भी थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में आकर वैदिक चातुर्वर्ण्य व्यवस्था रूढ़ हो गई थी। वर्ण-भेद का आधार कर्म के स्थान पर जन्म हो गया था। ब्राह्मण-धर्म के अनुसार शूद्रों और स्त्रियों को वेद के अध्ययन का अधिकार नहीं था। द्विजातियों को वेदाध्ययन और यज्ञादि का अधिकार था। किन्तु भाषा, छन्द, स्वर, विधि आदि की कठिनता के कारण वेदाध्ययन और यज्ञ-सम्पादन सामान्य जन की क्षमता के अंतर्गत न रह कर पुरोहितों के एक विशेष वर्ग का एकाधिकार हो गया था। ब्राह्मण-धर्म की यह दुरूहता और संकीर्णता उसके विकास में बाधक तथा उसके ह्रास का कारण हुई। वेद से बहिष्कृत द्विजेतर जातियों के लिए तो जैन और बौद्ध धर्मों का आविर्भाव एक नवीन अन्तर्लोक के उद्घाटन के समान हुआ। स्त्रियों को आध्यात्मिक जीवन का समानाधिकार प्रदान करने के कारण ये धर्म उनके लिये एक नवीन मार्ग का वरदानमय सन्देश लेकर आये। द्विजातियों पर भी इन धर्मों की ऋजुता, स्पष्टता, सहृदयता और उदारता का प्रभाव पड़ा।

जैन और बौद्ध धर्मों की इस स्पष्ट सफलता से वैदिक धर्म के अधिष्ठाताओं में एक नवीन चिन्ता और चेतना जाग्रत हुई। इस क्रान्ति

ने वैदिक परम्परा के संरक्षण और संवर्धन के उत्तरदायित्व के प्रति उन्हें बहुत सचेत कर दिया। वैदिक विचार और संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए समय के अनुकूल और नवीन अपेक्षाओं के अनुरूप उसकी नवीन व्याख्या करना आवश्यक हो गया। दार्शनिक दृष्टि से स्थायी बनाने के लिए वैदिक परम्परा के प्रासाद को तर्क और न्याय की सुदृढ़ नींव पर स्थापित करना तो उसकी सुरक्षा के लिए अपेक्षित था ही, किन्तु इससे भी अधिक आवश्यक था वैदिक विचार और संस्कृति को एक ऐसा स्वरूप देना जो वैदिक विचार-तत्वों के सार से निर्मित होते हुए भी सामान्य जनता के लिए सुग्राह्य हो। वेद से बहिष्कृत द्विजेतर जातियों, स्त्रियों और सामान्य जनता में इन धर्मों का अधिक प्रभाव होने के कारण वैदिक धर्म को एक उदार और लोक-प्रिय रूप देना और भी आवश्यक हो गया।

अस्तु, वैदिक विचार के नेताओं के सामने सिद्धान्तों के संरक्षण और जनता के उद्धार की दोहरी समस्या उपस्थित हुई। विचार-सिद्धान्त सार्वजनिक धर्म और संस्कृति के आधार होते हैं। अतः विचार और विश्वास के आन्तरिक सम्बन्ध के कारण इस दोहरी समस्या के दोनों पक्षों का युगपत् समाधान अपेक्षित था। अतः जैन और बौद्ध धर्मों की क्रान्ति के विरुद्ध, वैदिक विचार के अधिष्ठाताओं की प्रतिक्रिया एक साथ दो रूपों में अभिव्यक्त हुई। सिद्धान्तों के संरक्षण के लिए दर्शन सम्प्रदायों का उदय हुआ। न्याय और वैशेषिक दर्शन तो विशेषतः तर्क प्रधान हैं। विचार का समाधान ही उनका मुख्य प्रयोजन है। सांख्य और योग में विचार और विश्वास दोनों के समाधान का प्रयास है। वैदिक मीमांसाएं एक प्रतिक्रान्ति की प्रतीक हैं। उनमें तर्क और साधना का समन्वय कर प्राचीन वैदिक विचार और विश्वास के पुनर्विधान की प्रबल चेष्टा की गई है। तर्क और वाद की उलझन उत्पन्न होने पर विचार की प्रगति मन्द हो जाती है। सिद्धान्तों के विषय में निर्णय सामान्यतः कठिन है; विरोध और संघर्ष उत्पन्न होने

पर वह कठिनतर हो जाता है। अतः विचार-समाधान के प्रयास-रूप दर्शनों का विकास जटिल होने के कारण मन्द गति से हुआ। गति की मन्दता के अतिरिक्त विचार-सिद्धान्तों के संस्कृति के आधार होते हुए भी तद्विषयक तर्क और वाद से सामान्य जनता का विशेष प्रयोजन नहीं होता। सैद्धान्तिक विवेचन मनीषियों और विद्वानों की ही रुचि की वस्तु है। जनता को धर्म और संस्कृति का एक जीवित और व्यावहारिक रूप चाहिए, जो न सिद्धान्तों के न्याय-निर्णय की प्रतीक्षा करता है और न विचार की गति का अनुसरण, वरन् जो उसके जीवन में विश्वास का एक आधार और जीवन में पथ-प्रदर्शन प्रदान कर सके। अतएव वैदिक धर्म और संस्कृति का एक लोक-प्रिय रूप प्रदान कर जनता का उद्धार करना तत्व-विवेचन से भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य हो गया। सामयिक दृष्टि से वैदिक परम्परा के संरक्षण और प्रचार की समस्या के इस द्वितीय पक्ष का समाधान वैदिक धर्म के अधिष्ठाताओं का प्राथमिक कर्तव्य हो गया। कुछ मनीषियों ने सिद्धान्तों के विवेचन की ओर भी ध्यान दिया; किन्तु विरोधी धर्मों के उत्थान से जागरित हो कर सामान्य वैदिक चेतना एक लोक-प्रिय वैदिक धर्म और संस्कृति के सृजन में संलग्न हो गई।

वैदिक धर्म और संस्कृति को एक लोक-प्रिय रूप देने का यह प्रतिक्रिया-पूर्ण प्रयास एक ऐसे साहित्य के रूप में अभिव्यक्त हुआ जिसमें वैदिक विचार का सार और वैदिक संस्कृति की आत्मा सन्निहित होते हुए भी उसका रूप सरल और सुग्राह्य है। इस साहित्य की भाषा यद्यपि नाम के लिए संस्कृत है किन्तु वह सरलता और स्पष्टता की दृष्टि से प्राकृत भाषाओं के ही तुल्य है। इस साहित्य के अधिकांश ग्रन्थों की भाषा अत्यन्त सुगम संस्कृत है। यह महान् साहित्य हमें स्मृति अथवा धर्मशास्त्र, पुराण, महाभारत, गीता, रामायण आदि के रूप में प्राप्त होता है। इस विशाल साहित्य का क्षेत्र इतना व्यापक और विषय इतना विविध है कि प्रत्येक रुचि के व्यक्ति के लिए इसमें

सन्तोष का साधन प्राप्त हो सकता है। इस साहित्य में विचित्रतम पुराण-कथाओं और कूटतम सृष्टि-वादों से लेकर उच्चतम आचार-सिद्धान्त तथा गहनतम दार्शनिक तत्व सन्निविष्ट हैं। कथा और उपदेश इस साहित्य के अन्तर्गत ग्रन्थों के दो मुख्य लक्षण हैं। सरल कथाओं और आख्यानों, संवाद और उपदेशों के रूप में प्राचीन और महत्व-पूर्ण सत्यों की एक सुगम और सुग्राह्य रूप में व्यञ्जना की गई है। संवाद और वर्णन की प्रधानता इन ग्रन्थों की लोक-प्रियता का एक प्रमुख कारण है। अत्यन्त लोक-प्रियता के कारण ये ग्रन्थ सामान्य जनता के लिए वेद-तुल्य ही हैं। विद्वानों के विचार और संस्कृति में जो वेद का स्थान है वही स्थान साधारण जनों के जीवन और संस्कृति में पुराण, महाभारत गीता आदि का है। गृह्य संस्कारों तथा सामाजिक समारोहों के अवसर पर इनका नित्य और नैमित्तिक पारायण लोक-धर्म का एक मुख्य अंग है। इसी लोक-साहित्य के रूप में वैदिक धर्म और संस्कृति आज तक जनता के मन और जीवन में सुरक्षित है।

यद्यपि इस लोक-साहित्य का विकास प्रधानतः सामान्य जनता के जीवन में वैदिक धर्म और संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए ही हुआ था, यह साहित्य पूर्णतः एक सांस्कृतिक क्रान्ति से आविर्भूत नहीं है। इस साहित्य के रूप का मूल स्रोत ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाया जाता है। क्रान्ति-काल में वैदिक धर्म के अधिष्ठाताओं ने उन साहित्यिक रूपों का विकास कर उनका सामयिक सदुपयोग किया। ब्राह्मण-युग में धार्मिक संस्कारों के अवसर पर देवताओं और वीरों के आख्यान गाये जाते थे। ऐसे अनेक आख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इन आख्यानों में ही इस महान् पौराणिक और काव्य साहित्य का बीज निहित है। इन्हीं लघु बीजों से स्मृति, पुराण, महाभारत, गीता और रामायण की विशाल पञ्चवटी निर्मित हुई है। इन ग्रन्थों की सरल भाषा और लोक-प्रिय शैली से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये विद्वानों और मनीषियों की कृतियाँ नहीं वरन् कवियों और उपदेष्टाओं

की रचनाएँ हैं, जिन्होंने वैदिक धर्म और संस्कृति को हृदयंगम कर उन्हें एक सरल और सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया। इस साहित्य के प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थ विक्रम संवत् से पूर्व की रचनाएं हैं, यद्यपि कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ विक्रमोत्तर युग की कृतियां भी हैं। बौद्ध धर्म का प्रभाव और प्रचार वि० सं० के बाद भी बहुत काल तक रहने के कारण इस लोक साहित्य के सृजन की परम्परा भी प्रचलित रही और इस वर्ग के बहुत से ग्रन्थ विक्रम की शताब्दियों में भी लिखे गये। वस्तुतः आज तक इनकी रचना का क्रम जारी है।

यह लोक-साहित्य आकार में अत्यन्त विशाल है, साथ ही विचार-तत्व के लिए भी महत्वपूर्ण है। आख्यानों, संवादों और उपदेशों के प्रसंग में जीवन और विचार के अनेक महत्वपूर्ण तत्वों का सरल विधि से उद्घाटन किया गया है। यद्यपि भारतीय मनीषियों के चिन्तन की गम्भीरताओं का परिचय महान् दार्शनिक ग्रन्थों से ही प्राप्त हो सकता है, किन्तु जो विचार-तत्व और व्यवहारादर्श भारतीय जनता के जीवन की प्रेरणा रहे हैं उनका परिचय इस लोक-साहित्य में ही मिल सकता है। उत्तर कालीन धर्म और दर्शन ग्रन्थों में इस समस्त साहित्य को 'स्मृति' की सामान्य संज्ञा प्रदान की गई है। इस संज्ञा का मुख्य उद्देश्य 'श्रुति' (वेद) से इस लोक साहित्य का पृथक्करण है। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद सहित चतुरंग वेद 'श्रुति' कहलाता है। वेद ऋषियों की रचनाएं नहीं हैं। ईश्वरवादी दर्शनों के अनुसार वे ईश्वरीय रचनाएं हैं। ईश्वर की दिव्य शक्ति की प्रेरणा से मुनियों के मन में वेद-निहित सत्यों का उद्भावन हुआ है। ऋषि वेद के द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं। मीमांसा की भाँति अनीश्वरवादी वैदिक दर्शन वेद को नित्य शब्द रूप मानते हैं। उनके अनुसार कल्प कल्प में उस नित्य शब्द-रूप वेद का 'यथापूर्व' आविर्भाव होता है। वेदों की ईश्वर-कृतता अथवा नित्यता के कारण एक पवित्रता की भावना का उनसे सम्बन्ध हो जाता है। ईश्वर की कृति अथवा नित्य तत्व होने के

कारण वेद का शब्द अक्षुण्ण रूप से संरक्षणीय है। लेखन सामग्री के अभाव के कारण श्रवण परम्परा द्वारा ही वेद के पठन-पाठन का क्रम प्राचीन काल में चलता था, अतः वेद को 'श्रुति' भी कहते हैं। श्रवण परम्परा में पाठ, स्वर, क्रम आदि में क्रमशः अन्तर पड़ जाने की आशंका रहती है। वेदों के पाठ में स्वर, नाद आदि की जटिलता के कारण अक्षुण्ण रूप में उनका संरक्षण अत्यन्त कठिन था। इसीलिए छन्द, व्याकरण, निरुक्त आदि वेदाङ्गों की रचना हुई थी। समस्त वेदाङ्गों के पूर्ण ज्ञान-पूर्वक वेद-पाठ ही उसकी सुरक्षा का साधन हो सकता था। सामान्य जन के लिए यह कार्य अत्यन्त दुष्कर था। इन परिस्थितियों में ही पुरोहित वर्ग का आविर्भाव हुआ था। इस वर्ग ने ५००० वर्ष तक अक्षुण्ण रूप में वैदिक पाठ और परम्परा के संरक्षण का महान् राष्ट्रीय कार्य किया है, किन्तु साथ ही वेद को अपना एकाधिकार बना कर तथा द्विजेतर जातियों को वेद से बहिष्कृत कर एक महान् राष्ट्रीय अहित भी किया है। ब्राह्मण धर्म की रूढ़िवादिता और अनुदारता ही जैन और बौद्ध धर्मों की क्रान्ति का मूल कारण थी। विचार में सरल और भावना में उदार होने के कारण इन धर्मों का जनता में बड़े वेग से प्रचार हुआ। उस प्रचार के प्रतिरोध के लिए वैदिक परम्परा के अधिष्ठाता द्विजेतर जातियों का वेदाध्ययन का अधिकार स्वीकृत करने की उदारता तो न दिखला सके, किन्तु एक अन्य सरल और सुग्राह्य रूप में वैदिक धर्म और संस्कृति का लोक-ग्राह्य रूप प्रस्तुत कर उन्होंने अपनी सजगता और सचेष्टता का परिचय अवश्य दिया। वेदाध्ययन के इतने जटिल और दुष्कर हो जाने के कारण वह उदारता कदाचित् निष्प्रयोजन भी रहती। अतः इस लोक-साहित्य का निर्माण सामयिक दृष्टि से आवश्यक और उपयोगी था। यद्यपि इस साहित्य के अध्ययन में सर्व जन का सामान्य अधिकार स्वीकृत करके वैदिक परम्परा के संरक्षकों ने अपनी बुद्धिमत्ता और उदारता का परिचय अवश्य दिया है, किन्तु वेद के रूप की रक्षा के लिए उस समस्त लोक

साहित्य को 'श्रुति' (वेद) से भिन्न 'स्मृति' की संज्ञा देकर अपनी सतर्कता और रूढ़िवादिता का भी परिचय दिया है। साथ ही 'स्मृति' को वेद-मूलक मानकर वैदिक परम्परा के साथ उसकी एक-सूत्रता स्वीकृत कर अपनी प्रगति-शीलता का परिचय भी दिया है। 'श्रुति' (वेद) अलौकिक (ईश्वरकृत अथवा नित्य) और अपौरुषेय है। 'स्मृति' लौकिक तथा पौरुषेय है। अत्रि, अङ्गिरस आदि ऋषि वेद के द्रष्टा हैं, प्रणेता नहीं। किन्तु व्यास, वाल्मीकि आदि ऋषि पुराण, महाभारत, रामायण आदि के रचयिता हैं। वेदाध्ययन का अधिकार केवल द्विजातियों को है, किन्तु इन स्मृति ग्रन्थों का अध्ययन सर्वजन का समान अधिकार है।

धार्मिक तत्वों और दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से यह स्मृति-साहित्य विचित्रता से पूर्ण है। इसमें धर्म के किसी एक रूप का प्रतिपादन अथवा किसी एक दर्शन-सम्प्रदाय का सम्पोषण नहीं है। विविध धार्मिक तत्व तथा अनेक दार्शनिक सिद्धान्त इस लोक-साहित्य में सर्वत्र बिखरे हुये हैं। एक ही ग्रन्थ में अनेक प्रकार के विरोध तत्वों का समावेश मिल सकता है। लोक-जीवन की भाँति लोक-धर्म में भी तर्क-संगति की अधिक अपेक्षा नहीं होती। भावना-गत स्वातन्त्र्य और सामंजस्य उसका आधार है। रुचि और श्रद्धा के अनुसार कोई भी इन विविध रूपों में से किसी को भी स्वतन्त्रता-पूर्वक ग्रहण कर सकता है। सभी सिद्धान्तों में कुछ न कुछ सत्य है; किसी से भी मनुष्य के विचार का समाधान हो सकता है। विचित्रता और विविधता लोक-रुचि की अनेकरूपता के अनुकूल ही हैं। सभी देवता एक परमशक्ति के रूप हैं। सभी तत्व एक परम तत्व के के अंग हैं। किसी भी देवता की उपासना और किसी भी तत्व का अनुशीलन जीवन की कृतार्थता का कारण हो सकता है। साधना की दृष्टि से भावना, श्रद्धा और आचार का ही मूल्य है। परम-तत्व का निर्णय कठिन है। यद्यपि स्मृति-साहित्य में सांख्य,

योग, वेदान्त आदि सभी दर्शनों के तत्व मिलते हैं, किन्तु मुख्यतः यह लोक-साहित्य वैदिक युग के कर्म-काण्ड, ईश्वरवाद और ब्रह्मवाद की धाराओं की त्रिवेणी का संगम है। तीर्थ, दान, तप, व्रत, आचार आदि का महत्व इस लोक-धर्म की विशेषता है।

२—स्मृति-साहित्य और धर्म

'श्रुति' अथवा वेद के अतिरिक्त अन्य धार्मिक साहित्य को 'स्मृति' की संज्ञा दी गई है। पुराण, इतिहास, गीता आदि धार्मिक ग्रन्थ स्मृति के अन्तर्गत माने जाते हैं। इस प्रकार सामान्य अर्थ में स्मृति वेद के अतिरिक्त सभी धार्मिक साहित्य के लिए प्रयुक्त हो सकता है। किन्तु विशेष अर्थ में 'स्मृति' शब्द सामान्य स्मार्त साहित्य के अन्तर्गत एक विशेष वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है। इस अर्थ में यह शब्द मनु, याज्ञवल्क्य आदि के स्मृति ग्रन्थों का वाचक है। ये स्मृति ग्रन्थ धर्म-शास्त्र कहलाते हैं, क्योंकि एक व्यापक अर्थ में इनका विषय धर्म है। इस विशेष अर्थ में 'स्मृति' पद इन धर्म-शास्त्र ग्रन्थों का ही वाचक है। 'स्मृति' पद का अभिधार्थ 'स्मरण' अथवा याद रखना है। अस्तु, सामान्य अर्थ में 'स्मृति' पद अतीत की परम्परा के संस्मरण का वाचक है। उन सभी ग्रन्थों को जिनमें अतीत के संस्मृत सिद्धान्त और आख्यान सञ्चित है सामान्य रूप में 'स्मृति' कहते हैं। यद्यपि इन संस्मरणों में आख्यानों का ही प्राधान्य है किन्तु इन आख्यानों में बिखरे हुए अनेक जीवन और चिन्तन के तत्वरत्न उपलब्ध होते हैं। कुछ ग्रन्थों में जीवन के सिद्धान्त-तत्व और आचार-विधान ही सञ्चित कर दिये गये हैं। लोक जीवन के इन सिद्धान्त-ग्रन्थों को ही विशेष अर्थ में 'स्मृति' कहते हैं। आख्यान-प्रधान स्मृति साहित्य को विशेष रूप से इतिहास-पुराण कहा जाता है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति आदि धर्म-शास्त्र ग्रन्थ विशेष अर्थ में 'स्मृति' कहलाते हैं। महाभारत और रामायण 'इतिहास' के अन्तर्गत हैं। ब्रह्म पुराण, पद्म पुराण आदि आख्यान ग्रन्थ पुराण के

अन्तर्गत हैं। गीता महाभारत का ही एक अंश है, यद्यपि उसमें सिद्धान्त और आख्यान दोनों का सुन्दर समन्वय होने के कारण वह समस्त स्मृति साहित्य का चूड़ामणि है।

अस्तु, विशेष अर्थ में 'स्मृति' पद उन धर्म-शास्त्र ग्रन्थों का वाचक है जिनमें सामाजिक शिष्टाचार, नैतिक व्यवहार और सामाजिक संगठन के नियमों का सन्निधान है। 'धर्म' पद का अर्थ बड़ा व्यापक है और उसमें नीति-नियम, आचार-सिद्धान्त आदि जीवन के सभी आवश्यक तत्व सन्निविष्ट हैं। अभिधार्थ में 'धर्म' शब्द का अर्थ 'धारण करने वाला' है। अतः धर्म मानव जीवन का आधार है। मनुष्य एक सामाजिक और आध्यात्मिक प्राणी है। लौकिक अभ्युदय की आकांक्षा और परमार्थ अथवा निःश्रेयस की कामना उसकी स्वाभाविक प्रवृतियाँ हैं। अतः मानव-जीवन का आधार इन दोनों प्रवृत्तियों का पोषक होना चाहिए। इसीलिए शास्त्रकारों ने 'जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो' उसे 'धर्म' माना है। धर्म-शास्त्रों में वे सिद्धान्त सन्निहित हैं जो प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार मनुष्य के सामाजिक श्रेय, लौकिक अभ्युदय और आध्यात्मिक कल्याण के आधार हैं। धर्म शास्त्रों में सबसे प्रसिद्ध और प्रचलित ग्रन्थ मनुस्मृति की विषय सूची पर दृष्टिपात करने से स्मृति ग्रन्थों के विषय क्षेत्र की व्यापकता का परिचय मिल सकता है। मनुस्मृति का आरम्भ सर्ग अथवा सृष्टि के आदि से होता है। उसमें बाल्यावस्था में ब्रह्मचारी के, यौवन में गृहस्थ के, और परिणत वय में वानप्रस्थ और संन्यासी के कर्त्तव्य-धर्मों का वर्णन है। राजनीति और न्याय-नय के विवेचन के साथ मोक्ष और उसके साधनों के निरूपण में मनुस्मृति की परिसमाप्ति होती है।

अस्तु, विषय में पूर्ण व्यापक होने के कारण ये स्मृति अथवा धर्म-शास्त्र ग्रन्थ बड़े महत्वपूर्ण हैं। यदि धर्म जीवन का आधार है तो ये धर्म-शास्त्र ग्रन्थ प्राचीन भारतीय जीवन-प्रासाद के स्तम्भ हैं। उनमें जीवन के प्राचीन और सनातन तत्व संस्मृत तथा

सञ्चित हैं। अतः स्मृतियों का विधान भारतीय समाज के लिए एक माननीय अनुशासन के समान है। वैदिक जीवन और व्यवहार की रूढ़ियों को इनमें विधिवद्ध कर संग्रहीत कर दिया गया है। ब्राह्मण युग में जो वैदिक जीवन-व्यवस्था रूढ़ हो गई थी वह कदाचित् जैन और बौद्ध धर्मों के आन्दोलन-मय उदय और उदार प्रसार से विशृंखल होने लगी थी। धर्म-शास्त्रकारों ने वैदिक नियमों का संविधान कर विशृंखलित होती हुई सामाजिक व्यवस्था को संगाठित करने का प्रयास किया। वैदिक जीवन-व्यवस्था के नियम और विधानों को एक निश्चित रूप तथा दृढ़ अनुशासन-शक्ति प्रदान करने का श्रय स्मृतिकारों को मिलना चाहिए, यद्यपि जीवन के विधानों को रूढ़ बनाकर समाज की प्रगति का अवरोध करने का आरोप भी असंगत नहीं है। विषय की दृष्टि से लौकिक, सामाजिक और नैतिक जीवन के नियम इन ग्रन्थों का प्रतिपाद्य हैं। चार वर्ण, चार आश्रम और चार पदार्थों का निरूपण इनका प्रधान विषय है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्तव्य-धर्मों का पृथक् विधान; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के नियमों का निरूपण; तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पदार्थों के स्वरूप और साधनों का वर्णन धर्म-शास्त्रों का प्रधान विषय है। यह वर्ण, आश्रम और पदार्थों की त्रिविध कल्पना ही भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार है। गृहस्थ आश्रम सामाजिक जीवन का मेरुदण्ड तथा अन्य आश्रमों का उपजीव्य है। अतः गृहस्थ के कर्मों को धर्म-शास्त्रों में अधिक विस्तार दिया गया है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि क्रिया तक मनुष्य के सोलह संस्कारों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। राजनीति, राज-कर्म, न्याय-नय तथा अन्य सामाजिक नियमों का भी इनमें समावेश है।

धर्म-विधान से सम्बन्ध रखने वाले मूल और प्राचीनतम ग्रन्थ 'धर्म-सूत्र' कहलाते हैं। धर्मसूत्र कल्पसूत्रों के अन्तर्गत हैं। कल्प-सूत्र छः वेदाङ्गों में से एक है। वैदिक संहिताओं में यत्र तत्र प्राप्त होने वाले

जीवन-नय सम्बन्धी निर्देश ही धर्म-सूत्रों का मूलाधार हैं। धर्म-सूत्रों का प्रणयन विक्रम के पूर्व की शताब्दियों के सामान्य सूत्र काल में हुआ था। शास्त्रों में अनेक धर्म-सूत्रों का उल्लेख मिलता है। किन्तु उनमें सभी उपलब्ध नहीं हैं। गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब और वशिष्ठ के धर्मसूत्र अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें गौतम का धर्मसूत्र सबसे प्राचीन है। यह सामवेद की राणायनीय शाखा का धर्मसूत्र है। २८ अध्यायों के इस विशाल ग्रन्थ में चतुराश्रम, उद्वाह, गृहस्थ कर्म, राज-कर्म, न्याय-नय, पाप, दण्ड, प्रायश्चित्त, अन्त्येष्टि, स्त्री-कर्म आदि विषयों का वर्णन है। बौधायन का धर्म-सूत्र यजुर्वेद के अन्तर्गत है। यह चार अध्यायों में विभाजित है जो प्रश्न कहलाते हैं। प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध धर्म के स्वरूप और आधार, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य और मानसिक तथा शारीरिक शौच, राजकर्म औद उद्वाह से है। द्वितीय प्रश्न का विषय प्रायश्चित्त, गृह-कर्म, अन्त्येष्टि और पितृ कर्म से। तृतीय प्रश्न का विषय वानप्रस्थ धर्म और स्वाध्याय है तथा चतुर्थ प्रश्न का विषय ध्यान और धार्मिक कृत्य है। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र आपस्तम्ब कल्प-सूत्र का ही एक भाग है। यह भी यजुर्वेद से सम्बन्ध है। आपस्तम्ब कल्पसूत्र के ३० अध्यायों में से (जो प्रश्न कहलाते हैं) २८ और २९ वें दो प्रश्न ही आपस्तम्ब धर्मसूत्र के नाम से प्रख्यात हैं। वशिष्ठ का धर्मसूत्र ३० अध्यायों का एक विशाल ग्रन्थ है; उसमें धर्म के स्वरूप चतुर्वर्ण, स्त्री-कर्म, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के धर्म, नियम आदि का वर्णन है।

३—पुराण-साहित्य और धर्म

स्मृति अथवा धर्म-शास्त्र भारतीय सामाजिक संगठन का आधार हैं। पुराण सामान्य भारतीय जनता के धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन का अवलम्ब हैं। एक प्रकार से वे लौकिक वेद हैं। विद्वानों के लिए जो वेद का स्थान है जनता के लिए वही स्थान पुराणों का है। पुराणों

का पारायण जनता के धार्मिक जीवन का एक प्रधान अंग है। प्राचीन विचार-सिद्धान्त और आचार-नियम की परम्परा के संस्मरण रूप स्मृति साहित्य का पुराण एक बहुत बड़ा भाग है। पुराण का अभिधार्थ 'प्राचीन' से है। लाक्षणिक अर्थ में पुराण का अभिप्राय 'प्राचीन आख्यान' से है। पुराणों में सृष्टि-क्रम के विचित्र वर्णन तथा ऋषिकुलों और राजवंशों के अतिशयोक्ति पूर्ण आख्यान हैं; इसलिए अनेक विद्वान प्रायः इन्हें प्राचीनों की कपोल कल्पना मानते हैं। पुराणों के वर्णनों में अतिशयोक्ति अवश्य है, किन्तु ये आख्यान और कथाएं नितान्त काल्पनिक नहीं हैं। पुराण (अथवा यों कहिए कि समस्त लौकिक स्मार्त साहित्य) पद्य में हैं। किन्तु ये रचनाएं केवल पद्यबद्ध वर्णन नहीं हैं, उनमें कवित्व का अंश भी पर्याप्त है। कवित्व-पूर्ण होने के कारण उनमें अतिशयोक्ति स्वाभाविक है। अतिशयोक्ति कवि-कल्पना की स्वाभाविक गति है। पुराणों में प्रतीकात्मक शैली के अवलम्बन के कारण भी अतिशयोक्ति एक प्रकार से अनिवार्य हो गई है। अत्युक्ति के सहारे ही प्रतीकों का स्वरूप निखरता है और वे प्रभावशाली बनते हैं। सामान्य जनता के लिए उद्दिष्ट होने के कारण लोक-रुचि को प्रभावित करने के लिए भी अतिशयोक्ति उपयोगी है। किन्तु पुराणों के ये अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नितान्त निराधार तथा निष्प्रयोजन नहीं हैं। उनका ऐतिहासिक आधार है और साथ ही दार्शनिक महत्व भी है। पुराण वैदिक विचार और व्यवहार परम्परा के लौकिक संस्करण हैं। इनमें सरल और प्रायः सुन्दर पद्य में वैदिक ज्ञान का अखिल भाण्डार सञ्चित है। सामान्य जनता को वैदिक ज्ञान सुलभ बनाने का श्रेय पुराणों को ही है। ब्राह्मण धर्म द्वारा वेद से बहिष्कृत स्त्रियों और शूद्रों के लिए तो वैदिक-ज्ञान-परम्परा के सुगम संस्करण होने के कारण पुराण वेद-तुल्य ही हैं।

पुराणों के विशाल आकार से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं हैं और न किसी एक युग की सृष्टि

ही हैं। यद्यपि धार्मिक परम्परा में महर्षि वेद व्यास को पुराणों का प्रणेता माना जाता है किन्तु उनके विशाल आकार और विषय-वैषम्य से उन्हें कई युगों की सृष्टि और अनेक व्यक्तियों की रचना मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। 'पुराण' पद का प्राचीनतम प्रयोग छान्दोग्य उपनिषद में नारद सनत्कुमार सम्वाद में मिलता है। पुराण पद का अर्थ ही 'प्राचीन' है। इससे भी यही सूचित होता है कि पुराण अत्यन्त प्राचीन रचनाएं हैं। पुराण शैली की रचना के प्राचीनतम चिन्ह ब्राह्मण ग्रन्थों के उन 'आख्यानों' में मिलते हैं। जो यज्ञों के अवसर पर कहे जाते थे। सम्भव है कि आज उपलब्ध होने वाले पुराणों के समान ही कोई ग्रन्थ उपनिषद काल में अथवा विक्रम के ५०० वर्ष पूर्व वर्तमान रहे हों। आज वे रचनाएं अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं। आज जो पुराण उपलब्ध होते हैं वे कदाचित इन मूल पुराणों के परिवर्तित रूप और उनकी परम्परा के प्रस्तार हैं। युग-युग में पुराणों के रूप में परिवर्तन और परिवर्धन होता आया है। इस प्रकार पुराण एक दीर्घ परम्परा की सृष्टि हैं। 'व्यास' पद का अर्थ विस्तार है। कदाचित मूल पुराणों की परिवर्धन परम्परा को प्रारम्भ और प्रशस्त करने के कारण महर्षि वेद व्यास को पुराणों के प्रणयन का श्रेय दिया जाता है, जो सर्वथा उचित है

धार्मिक परम्परा में मुख्य पुराणों की संख्या १८ मानी जाती है। वे इस प्रकार हैं--(१) ब्रह्म, (२) पद्म, (३) विष्णु, (४) शिव (वायु) (५) भागवत, (६) नारद, (७) मार्कण्डेय, (८) अग्नि, (९) भविष्य, (१०) ब्रह्मवैवर्त, (११) लिङ्ग, (१२) वराह, (१३) स्कन्द, १४) वामन, (१५) कूर्म, (१६) मत्स्य, (१७) गरुड और (१८) ब्रह्माण्ड। प्रायः सभी पुराण आकार में विशाल हैं। इनकी विशालता से भारतीय मस्तिष्क की उर्वरता और उसकी कल्पना की सम्पन्नता का परिचय मिलता है। इन १८ पुराणों में मार्कण्डेय पुराण आकार में सबसे छोटा है। इसकी श्लोक संख्या ९००० है। सबसे बड़ा पुराण स्कन्द पुराण है। इसकी

श्लोक संख्या ८१००० है। अन्य पुराणों का आकार १०००० से लेकर ५०००० तक की श्लोक संख्या के अन्तर्गत है। समस्त पुराणों की सम्पूर्ण श्लोक संख्या लगभग पाँच लाख है।

पुराणों के प्रमाण के आधार पर ही सर्ग अर्थात् सृष्टि का आरम्भ और विस्तार, प्रतिसर्ग अर्थात् प्रलय और पुनः सृष्टि, मन्वन्तरों का इतिहास तथा सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं का वंशानुक्रम पुराणों के प्रधान विषय हैं। किन्तु इस सामान्य विषय-विधान के अन्तर्गत तथा उसके अतिरिक्त भी पुराणों में अनेक सांस्कृतिक महत्व, नैतिक प्रयोजन और दार्शनिक मूल्य के विषयों का वर्णन है। काशी, पुष्कर आदि तीर्थों का माहात्म्य-वर्णन, भगवान विष्णु के अवतारों की कथा आदि अधिकांश पुराणों के प्रिय विषय हैं। भारतीय धर्म और संस्कृति में तीर्थों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वे धार्मिक जीवन के केन्द्र और देश की आध्यात्मिक संस्कृति की संस्थाएं हैं। अवतारों की कथाएं साधारण जनता के लिए विशेष रुचि और उपयोग की वस्तु हैं। सामान्य जन निर्गुण ब्रह्म की कल्पना नहीं कर सकते। सगुण ब्रह्म का भी लोकोपकारी साकार रूप उनके लिए सुगम और सहज उपास्य है। पुराणों का पारायण साधारण जनता के धार्मिक जीवन का एक प्रधान अंग है।

अधिकांश पुराणों का दार्शनिक आधार ईश्वरवादी है। उपनिषदों के दुर्ग्राह्य निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण और साकार परमेश्वर सामान्य जन के लिए सुग्राह्य है। प्रायः पुराणों में विष्णु का ही प्रभुत्व और उनके अवतारों का वर्णन है, यद्यपि लिङ्ग, स्कन्द आदि पुराणों में शिव को ही प्रधान माना गया है। दर्शनों में सांख्य और योग के प्रसंग प्रायः पुराणों में पाये जाते है। आख्यान की प्रधानता होते हुए भी आख्यानों के प्रसंग में नैतिक नियमों, धार्मिक तत्वों और दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्वचन भी प्रायः मिलता है। दान, दया, अहिंसा, पातिव्रत आदि नैतिक गुणों; जप, तप, व्रत, तीर्थाटन, उपासना आदि धर्माचारों और प्रकृति, पुरुष, मोक्ष आदि दार्शनिक

तत्त्वों के निरूपण का पुराणों में पर्याप्त महत्त्व है। पुराणों में श्रीमद्भागवत सबसे अधिक लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण है। भगवान विष्णु के कृष्णावतार की मनोहर कथा इसका प्रधान विषय है। दूसरा स्थान विष्णु पुराण का है जिसमें विष्णु की महत्ता का वर्णन है। ब्रह्म, पद्म, नारद और ब्रह्मवैवर्त पुराण भी विष्णु की श्रेष्ठता के ही समर्थक हैं। वाराह, वामन, कूर्म और मत्स्य पुराण में विष्णु के अन्य अवतारों का वर्णन है। वायु, लिङ्ग और स्कन्द पुराणों में शिव की महत्ता का वर्णन है। किन्तु विष्णु अथवा शिव की महत्ता का प्रतिपादन करने वाले इन पुराणों में उत्तरकालीन वैष्णव और शैव सम्प्रदायों की संकीर्णता का आभास नहीं है। पुराणों में सहिष्णुता का दृष्टिकोण सामान्य है। कुछ पुराणों में विष्णु और शिव के एकत्व-प्रतिपादन द्वारा समन्वय का स्पष्ट प्रयास किया गया है। एक मत के अनुसार पुराणों का आरम्भ ब्रह्म से और अन्त ब्रह्माण्ड से होता है। तथा मध्य में ब्रह्मवैवर्त पुराण है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म परम सत्य है। अन्य अवतार ब्रह्म के ही रूप हैं और ब्रह्माण्ड अथवा विश्व ब्रह्म का विवर्त है। इस प्रकार अखिल सत्ता का एकत्व पुराणों के वैदिक (विशेषतः उपनिषदिक) दार्शनिक और धार्मिक परम्परा के प्रतिनिधित्व को प्रमाणित करता है।

४—इतिहास—(रामायण और महाभारत) धर्म तथा नीति

रामायण और महाभारत इन दो महान काव्यों को इतिहास के अन्तर्गत माना जाता है। इतिहास और पुराण दोनों में ही आख्यान की प्रधानता होती है। दोनों ही काव्य शैली की रचनाएं हैं। प्राचीन घटनात्मक तथ्य के रूप में ऐतिहासिक आधार दोनों में समान है। इतिहास तो स्पष्टतः प्राचीन वीरों की वास्तविक गाथाओं का गान है। पौराणिक आख्यानों का आधार भी प्राचीन इतिवृत्त ही होता है, यद्यपि उसके वर्णन में कल्पना का पुट भी बहुत रहता है। पुराण

और इतिहास दोनों ही समान रूप से स्मृति साहित्य के अन्तर्गत हैं। दोनों के अध्ययन का अधिकार स्त्रियों और शूद्रों को भी प्राप्त है। इस प्रकार बहुत कुछ समानता होते हुए भी दोनों के विषय और प्रयोजन में अन्तर है। पुराण प्रधानतः धार्मिक हैं तथा इतिहास मुख्यतः सांस्कृतिक हैं। पुराणों का आरम्भ सर्ग अर्थात् सृष्टि के आदि की कथा से होता है। उनमें मन्वन्तरों, भगवान के अवतारों आदि अलौकिक विषयों की प्रधानता रहती है। यद्यपि सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं के वंशानुक्रम का वर्णन पुराणों में इतिहास के अंश का सूचक है, फिर भी इन वंशों की प्राचीनता और प्रागैतिहासिकता पुराण शब्द की सार्थकता प्रमाणित करती है। इतिहासों का विषय पुराणों की अपेक्षा अधिक लौकिक और अर्वाचीन है। उनमें एक मन्वन्तर के अन्तर्गत ही कुछ युगों की महान घटनाओं का वर्णन रहता है। पुराणों में वर्णित सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं के कुछ अर्वाचीन महान वंशधरों का कीर्ति-गान ही इतिहास का विषय है। अस्तु, इतिहास एक प्रकार से पुराण के ही एक लौकिक अंग का विस्तार है। अलौकिकता के अतिरिक्त धार्मिकता भी पुराण के विषय का एक विशेष लक्षण है। यद्यपि इतिहासों में भी धार्मिक अंश पाये जाते हैं तथा उनका नैतिक उद्देश्य स्पष्ट है फिर भी उनमें सृष्टि की कथा, अवतारों का वर्णन, तीर्थों के माहात्म्य आदि स्पष्ट रूप से धार्मिक विषयों का अभाव है जो पुराणों में प्रचुरता से पाये जाते हैं। इस दृष्टि से इतिहासों का प्रयोजन धार्मिक की अपेक्षा सांस्कृतिक अधिक हैं। पुराणों का प्रयोजन प्रधानतः धार्मिक है। नैतिकता दोनों का सामान्य लक्षण है। शैली की दृष्टि से इतिहासों में पुराणों की अपेक्षा कवित्व अधिक है। यद्यपि पुराणों के अन्तर्गत भी श्रीमद्भागवत जैसी रमणीय रचनाएं हैं, सामान्यतः काव्य-सौन्दर्य पुराणों में अधिक नहीं है। सरल आख्यान और सीधे उपदेश तथा अनलंकृत वर्णन ही पुराणों में अधिक हैं। इतिहासों में लौकिक वृत्त होने के कारण मानवीय भावना अधिक है, साथ ही उनमें कवित्व

का अंश भी पर्याप्त है। रामायण तो साहित्य-परम्परा में आदि-काव्य माना ही जाता है, महाभारत में भी पद-पद पर अत्यन्त मार्मिक तथा कवित्वपूर्ण स्थल मिलते हैं।

इतिहासों में रामायण और महाभारत दो ही प्रसिद्ध और प्राप्त हैं। ये दोनों महान काव्य प्राचीन भारतीय संस्कृति के भाण्डार हैं। प्राचीन वीरों की गाथाओं के रूप में ही इनका महत्व नहीं है, इनमें हमारी प्राचीन संस्कृति के सनातन और मूल्यवान तत्व-रत्न भी निहित हैं। इन दोनों में रामायण प्रधानतः एक साहित्यिक रचना है। यह आदि-काव्य और समस्त परवर्ती काव्य की प्रेरणा माना जाता है। इसके प्रणेता महर्षि वाल्मीकि, 'आदि कवि' के नाम से प्रख्यात हैं। सूर्य वंश के सूर्य महाराजा रामचन्द्र की महान जीवन-गाथा का यह सुन्दर काव्य भारतीय साहित्य का एक अनमोल रत्न और भारतीय संस्कृति की एक अक्षय निधि है। रामायण में काव्य के सौन्दर्य में दर्शन और संस्कृति की आत्मा व्याप्त है। अयोध्या के प्रवासी युवराज राम की कथा के प्रसंग में सांस्कृतिक महत्व, नैतिक मूल्य और सामाजिक प्रयोजन की अनेक बातें हमें मिलती हैं। अयोध्या के राजभवन के चित्रण में सामाजिक जीवन के आदर्शों का जो अंकन किया गया है वह चिरकाल से भारतीय पारिवारिक जीवन की प्रेरणा रहा है और एक सुखमय सामाजिक व्यवस्था का नमूना बन सकता है। राज-भवन के दिव्य प्रेम तथा प्रपञ्चों के प्रभाव और परिणाम के वर्णन प्रसंग में मानवीय सम्बन्धों के सुन्दरतम स्वरूप और उनके विनाशक तत्वों का संकेत किया गया है। आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पत्नी, आदर्श माता, आदर्श मित्र और आदर्श शत्रु के रूप में मुख्य पारिवारिक और सामाजिक आदर्शों का उत्कृष्ट अंकन किया गया है। वैदिक जीवन-विधान में स्वीकृत चार आश्रमों में गृहस्थ आश्रम भारतीय सभ्यता और संस्कृति का आधार है। वह इतर आश्रमों का पोषक है। पारिवारिक सम्बन्ध और आदर्शों का रमणीय काव्य होने के कारण रामायण

भारतीय गृहों में प्रतिदिन पारायण की वस्तु है। इसकी मर्मस्पर्शी करुणा और उत्कृष्ट आदर्शवादिता भारतीय जीवन की अक्षय प्रेरणा रही है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के आदर्श चरित्र का उदात्त सौन्दर्य, उनके स्वभाव की अखंड अविचल शान्ति, उनका शील, सौन्दर्य, प्रेम, त्याग और बल इतना प्रभावशाली प्रमाणित हुआ कि अन्ततः वे भारतीय मानस मन्दिर में भगवान के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। राम की अलौकिक, किन्तु 'लोक-रंजक' लीला का, वार्षिक-अभिनय समस्त देश को एक सामान्य सांस्कृतिक परम्परा बन गया है।

महाभारत-प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति, आचार, धर्म, नीति और दर्शन का महासागर है। मूल रूप में तो महाभारत कौरव और पाण्डवों के महान युद्ध की कथा है। चन्द्र वंश के वीरों का रक्त-रञ्जित इतिहास ही महाभारत का मूल आधार है। किन्तु इसका आकार इतना विशाल है कि युद्ध की कथा के अतिरिक्त जीवन में जो कुछ भी महत्वपूर्ण तथा विचार में जो कुछ भी मूल्यवान है वह सब इसके विषय के अन्तर्गत है। महाभारत के विषय और क्षेत्र इतने व्यापक हैं कि समस्त परवर्ती साहित्य को महाभारत का उच्छिष्ट माना जाता है। तात्पर्य यह है कि अन्यत्र जो कुछ भी विचार और वर्णन पाया जाता है उसका मूल महाभारत में अवश्य है तथा जो महाभारत में उपलब्ध नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी प्राप्य नहीं है। एक लाख श्लोकों के इस महान् ग्रन्थ में युद्ध की मूल कथा के अतिरिक्त अनेक सुन्दर आख्यान तथा अनेक महत्वपूर्ण संवाद और वर्णन हैं। महाभारत केवल युद्ध का इतिहास नहीं, और न जीवन के आदर्श के रूप में युद्ध का चित्रण इसमें किया गया है। भारतीय धर्म और संस्कृति की आत्मा समस्त महाभारत में व्याप्त है। इसके अनेक अंशों में जीवन की गम्भीर समस्याओं और सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है। शान्ति पर्व विशेषतः ऐसे अनेक महत्वपूर्ण विचारों का आकर है। सांस्कृतिक विचार तथा नैतिक भाव समस्त ग्रन्थ में बिखरे हुए हैं। ये विचार और भाव इस

अनन्त गाथा-गगन के उज्जवल नक्षत्र-रत्न हैं तथा चिर काल से मानव जीवन के पथ-निर्देशक रहे हैं। महाभारत की कथा का एक नैतिक निष्कर्ष भी है। पाण्डवों की विजय को सत्य और धर्म की विजय माना गया है। किन्तु जहाँ रामायण में पारिवारिक जीवन के सुन्दर आदर्श का चित्रण है, महाभारत का अन्तिम सन्देश लौकिक जीवन की व्यर्थता तथा संसार का त्याग है। पाण्डवों की विजय केवल सत्य का प्रतिशोध और धर्म का प्रतिष्ठापन है। किन्तु विजय और राज्य-प्राप्ति जीवन का लक्ष्य नहीं। विजय के पश्चात पाण्डव राज्य का भोग न करके उसे त्याग कर हिमालय में जाकर अपने जीवन का अन्त करते हैं। धर्मपुत्र युधिष्ठिर का सदेह स्वर्गारोहण धर्म के गौरव का प्रतीक है। महाभारत के अनुसार धर्म ही जीवन का आधार और लक्ष्य है। महाभारत का युद्ध जीवन के लौकिक संघर्ष का प्रतीक है। पार्थसारथि भगवान श्रीकृष्ण का धर्म पक्ष का नेतृत्व यह सूचित करता है कि धर्म लौकिक श्रेय ही नहीं वरन् दिव्य और सनातन सत्य भी है।

५—गीता-दर्शन

भगवद्गीता यद्यपि महाभारत का ही एक अंश है किन्तु धार्मिक और दार्शनिक महत्त्व के कारण उसका एक स्वतन्त्र स्थान बन गया है। महाभारत के भीष्म पर्व में युद्ध के आरम्भ होने के पूर्व भगवान श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से गीता का उपदेश अर्जुन को दिया था। युद्ध के लिए प्रस्तुत हो कर जब कौरवों और पाण्डवों की सेनाएं रण-क्षेत्र में एक दूसरे के सम्मुख खड़ी थी तब दोनों सेनाओं के बीच में खड़े हुए रथ पर आसीन महारथी अर्जुन को अपने विपक्ष में स्थित बन्धुओं को देख कर मोह उत्पन्न हुआ। बन्धुओं की हत्या की कल्पना से उसके हृदय में विषाद हुआ और वह युद्ध से उदासीन होकर श्रीकृष्ण से उस कुल-विनाशकारी युद्ध का प्रयोजन पूछने लगा। कृष्ण ने उस मार्मिक अवसर पर अर्जुन को ज्ञान का उपदेश दिया और उसे

अपने क्षत्रिय धर्म के पालन के लिए प्रेरित किया। कृष्ण का यही दिव्य उपदेश भगवद्गीता में सन्निहित है। ऐतिहासिक प्रसंग मे आबद्ध होने पर भी गीता एक विश्व-दर्शन है। भगवान के श्रीमुख का उपदेश मानवता के लिए मंगल का संदेश है। अर्जुन का मोह और विषाद कोई व्यक्तिगत घटना नहीं है। ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी वह जगत के जन जन की विषम स्थिति का प्रतीक है। कुरुक्षेत्र का रणक्षेत्र विश्व के कर्मक्षेत्र का प्रतीक है। कर्त्तव्य और भावना का संघर्ष संसार में सर्वत्र व्याप्त है। धर्म-संकट और असमंजस की अवस्था में विक्षिप्त प्रत्येक जन अर्जुन है। मनुष्य के अन्तर में स्थित भगवान का अमृत उपदेश प्रत्येक कर्त्तव्य-विमूढ़ जन के लिए कल्याण-पथ का निर्देश है। सरल और सुन्दर काव्य के रमणीय रूप में रचित गीता सामान्य जन के लिए समस्त वेद और उपनिषदों का सार है। विद्वानों के लिए भी वह गम्भीर मनन का विषय है। गीता ज्ञान का वह महासागर है जिसमें वेद के हिमालय से निःसृत होकर समस्त ज्ञान-धाराएं समाहृत होगई हैं। सरल मन के साधक-शिशुओं को इसके तट पर ही मुक्ति-शुक्ति की प्राप्ति हो सकती हैं। कुशल ज्ञानियों को गहरे डूबने पर अनन्त रत्न भी हाथ लग सकते हैं। विद्वत्ता का दम्भ रखने वाले महान मनीषियों के विशा[illegible] पोत तर्क की तरंगों में इसके मध्य ही विलीन हो[illegible] महान और मनोहारिणी गीता हमारे धार्मिक और [illegible] की अनमोल विभूति है।

ऐतिहासिक दृष्टि से गीता महाभारत का एक अंग है। दार्शनिक दृष्टि से वह उपनिषदों का सार है। इसमें सन्देह नहीं कि गीता और उपनिषदों के भावना तथा तत्व में बहुत समानता है। कुछ विद्वानों के मत में गीता का मूल रूप एक भागवत सम्प्रदाय की उपनिषद ही था। गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'उपनिषद' पद की आवृत्ति कदाचित गीता के मूल उपनिषद रूप का ही अवशेष चिन्ह हो। यदि गीता

किसी मूल भागवत उपनिषद का परिवर्धित संस्करण न भी हो तो भी गीता और उपनिषदों में बहुत कुछ सामान्य तत्व हैं। गीता के अनेक विचार-तत्वों का मूल उपनिषदों में मिलता है। कई उपनिषदों के पद और पंक्तियाँ गीता में ज्यों की त्यों पाई जाती हैं। आत्मा की अविनश्वरता, देह का आत्मा का वस्त्र मात्र होना, आत्मा का इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से परे होना, क्षर अक्षर पुरुषों की कल्पना, जगत के लिए अश्वत्थ की उपमा, दैवी सम्पद्रूप सद्गुणों की कल्पना आदि अनेक विचार-तत्व गीता में उपनिषदों से ग्रहण किये गये हैं। विचार-तत्वों की इस समानता के अतिरिक्त जीवन के आदर्श अथवा परमार्थ की कल्पना भी गीता में उपनिषदों के ही समान है। गीता के अनुसार भी अक्षय शान्ति और अनन्त आनन्द की अवस्था को परमार्थ माना गया है, जिसे उपनिषदों में मोक्ष की संज्ञा दी गई है। किन्तु इस समानता के साथ साथ गीता की कुछ अपनी विशेषताएँ भी हैं। प्राचीन उपनिषद स्पष्टतः अद्वैत परक हैं। गीता में ईश्वरवादी तत्व का प्राधान्य है। गीता का ईश्वर रामानुज के परमेश्वर की भाँति साक्षात् परब्रह्म होते हुए भी सगुण और साकार है। गीता में भक्ति का महत्व उपनिषदों की अपेक्षा अधिक है। साथ ही उपनिषदों के वैराग्य और संन्यास को गीता में कर्मयोग का रूप देने की चेष्टा की गई है। गीता में संन्यास की वृत्ति को अक्षुण्ण रखते हुए आध्यात्मिक आदर्श का लोक-जीवन के कर्तव्य और धर्म से समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गई है। यह समन्वय की भावना गीता की मुख्य विशेषता और उसका मूल संदेश है।

कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र को लोक का प्रतीक मान कर अर्जुन के निमित्त से मनुष्य मात्र के लिए संन्यास और कर्म के समन्वित आदर्श की स्थापना में गीता का मुख्य दार्शनिक महत्व है। गीता के पूर्व भारतीय विचार-परम्परा में जीवन के दो विरोधी आदर्श प्रचलित थे जिन्हें श्री शंकराचार्य ने सृष्टि के सनातन मार्ग माना है। वैदिक साहित्य

में ब्राह्मण और उपनिषद क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति के इन दो भिन्न आदर्शों के आधार हैं। प्रवृत्ति का अर्थ सानुराग कर्म है तथा निवृत्ति का अर्थ वैराग्यपूर्वक कर्मों का संन्यास है। ये दोनों ही मार्ग सनातन और स्वाभाविक होते हुए भी एकपक्षीय और अतिवादी हैं। सानुराग कर्म होने के कारण प्रायः प्रवृत्ति स्वार्थ की ही साधक होती है। अनुराग मूलक लोकहितार्थ कर्म भी परम्परया स्वार्थ का ही प्रच्छन्न रूप है। इसके अतिरिक्त कर्म का मूल कामना है। कामना से कर्तृत्व का अहंकार उत्पन्न होता है, जो आत्मा का कर्म-फल से सम्बन्ध स्थापित कर उसके बन्धन का कारण होता है। इसके अतिरिक्त अहंकार और कामना सदा आत्मा की स्वाभाविक शान्ति को भंग करते रहते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति-रूप कर्म वर्तमान जन्म में अशान्ति और विक्षोभ का कारण तथा जन्म-जन्मान्तर में आत्मा के बन्धन को कारण होता है। प्रवृत्ति-रूप कर्म ही लोक में दुर्व्यवस्था का कारण भी है। स्वार्थ से सीमित, अशान्ति से आक्रान्त और विक्षोभ से विकृत होने के कारण प्रवृत्ति का आदर्श न लोक-कल्याण का साधक हो सकता है और न मोक्ष का पथ प्रशस्त कर सकता है। निवृत्ति का वैराग्य-मूलक आदर्श कर्म-संन्यास के सिद्धान्त पर आश्रित है। लोक और जीवन को निस्सार मानने पर उनसे वैराग्य उत्पन्न होने पर कर्मों का परित्याग स्वाभाविक है। इस प्रकार संन्यास पथ का सामान्य परिणाम जीवन के उत्तरदायित्व का तिरस्कार और सामाजिक कर्त्तव्यों का परित्याग हुआ। वस्तुतः असम्भव होने के अतिरिक्त यह भ्रान्त संन्यास सामाजिक व्यवस्था के लिए भी संघातक हुआ। संयास केवल एक भावना अथवा मनोवृत्ति है, वह कोई कर्म नहीं। वह एक दृष्टि-कोण है, मार्ग नहीं। जीवन के व्यक्तिगत धर्मों का परित्याग मृत्यु का आवाहन है और सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रति उदासीनता सामाजिक व्यवस्था के उच्छेद की भूमिका है। भौतिक दृष्टि से क्रियाहीनता के अर्थ में अकर्म असम्भव अथवा मरण में ही सम्भव है। अस्तु, निष्क्रियता के अर्थ में

संन्यास एक भ्रान्ति अथवा दम्भ है। वास्तविक संन्यास कर्म 'का' त्याग नहीं, कर्म 'में' त्याग की भावना है। यही संन्यास सम्भव और श्रेयष्कर है। इसी संन्यास के द्वारा प्रवृत्ति-रूप कर्म स्वार्थ के निम्न धरातल से उठ कर लोक-कल्याण का साधक हो सकता है। यही संन्यास भ्रान्त संन्यास की निरर्थक निष्क्रियता में सार्थक सक्रियता का संचार कर परम निःश्रेयस और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

संन्यास की यह नई परिभाषा देकर गीता ने प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो प्राचीन और सनातन आदर्शों के विरोध का समाधान कर लोक-कल्याण का एक समन्वित आदर्श प्रस्तुत किया। इस समन्वय में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के दोषों का परिहार कर दोनों के आवश्यक और उपयोगी अंश का ग्रहण किया गया है। संन्यास में कर्म और कर्म में संन्यास की भावना का समावेश कर गीता ने मोक्ष और लोक-कल्याण दोनों की ही रक्षा की। साथ ही मोक्ष और लोक-कल्याण दोनों को एक ही परमार्थ-रूप आदर्श के दो अनुपूरक पक्ष मान कर आध्यात्मिक ध्येय और लौकिक श्रेय का समन्वय भी सूचित किया। गीता के अनुसार लोक का परित्याग कर मोक्ष सम्भव नहीं है। लोक-कल्याण मोक्ष की आवश्यक अभिव्यक्ति है। मोक्ष एक अक्षय और परम शान्ति की अवस्था है जो कर्म का त्याग करने से नहीं वरन् कर्म-फल की कामना और कर्तृत्व के अहंकार का त्याग करने पर ही प्राप्त हो सकती है। किन्तु कामना और अहंकार का त्याग कर्म का त्याग नहीं वरन् केवल कर्म में आसक्ति का त्याग है। अनासक्त कर्म ही वास्तविक अकर्म और सच्चा संन्यास है। इसी के द्वारा आत्मा परम शान्ति-रूप मोक्ष की प्राप्ति कर सकती है। यह परम शान्ति निष्क्रियता की जड़ शान्ति नहीं, वरन् पूर्ण और प्रचुर कर्म की सक्रिय शान्ति है। लोक-कल्याण के लिए निरन्तर कर्मशीलता में इसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है। प्रवृत्ति के सानुराग कर्म की स्वार्थ-सीमा से मुक्त हो कर तथा संन्यास की त्याग-भावना से अनुप्राणित होकर मुमुक्षु का कर्म लोक-कल्याण

का भी साधक होता है। गीता के इस जीवन-आदर्श और परमार्थ की कल्पना में प्रवृत्ति की प्रेरणा और संन्यास की शान्ति एक अपूर्व रूप में समन्वित है। यह समन्वय ही हमारे आध्यात्मिक ध्येय का साधक और लौकिक श्रेय का संरक्षक है।

समस्त भारतीय दर्शन में परमार्थ को ही आदर्श माना है। जो चरम सत्य है वही हमारे जीवन का परम ध्येय भी है। अतः उस आदर्श की प्राप्ति का साधन उसका जीवन में क्रमिक अभ्यास ही है। मनुष्य का मन बड़ा चंचल है; जैसा अर्जुन ने कहा है मन का निग्रह वायु के अवरोध के समान दुष्कर है। बलवती वासनाएं इन्द्रियों को प्रमत्त और विषयानुकारिणी बनाती है। विषयों की वासना सानुराग प्रवृत्ति की प्रेरणा बनकर आत्मा के विक्षोभ और बन्धन का कारण बनती है। राग की स्वार्थमय सीमा लोक-कल्याण के लिए भी संघातक होती है। अस्तु, आत्मा के मोक्ष और लोक के कल्याण के लिए मन का का निग्रह और वासना का परित्याग अपेक्षित है। इसका मूल साधन अभ्यास ही है। शान्ति और त्याग की भावना का निरन्तर मन में अनुभावन करना चाहिए। यह अनुभावन एक प्रकार का 'योग' ही है। इस शान्ति और त्याग की भावना को सिद्ध करने के लिए पातञ्जल योग की प्रक्रियाओं का अवलम्बन भी किया जा सकता है। गीता ने योग दर्शन के कुछ उपयोगी अंगों को आध्यात्मिक साधना में उपयोगी मान कर मुक्त मन से ग्रहण किया है। शान्ति और त्याग की भावना के मन में कुछ अंश में सिद्ध हो जाने पर जीवन और व्यवहार में उसका अभ्यास किया जा सकता है। जीवन कर्म-रूप है, लोक-व्यवहार उसका स्वाभाविक धर्म है। उस कर्म और व्यवहार में शान्ति और त्याग की वृत्ति का सम्भावन ही श्रेय और मोक्ष का मुक्त मार्ग है। गीता में इस मार्ग को 'कर्म-योग' की संज्ञा दी गई है। यह कर्म-योग ही गीता का मूल सिद्धान्त माना जाता है। कर्म-योग का अर्थ 'कर्म में योग' है। जीवन के व्यवहार-कर्म में योग अर्थात् शान्ति तथा त्याग की भावना

का सम्भावन ही कर्म-योग है। कर्तृत्व के अहंकार और कर्म-फल की कामना का परित्याग इस कर्म योग का आवश्यक अंग है। कामना-रहित कर्म होने के कारण कर्म-योग को निष्काम कर्म-योग भी कहते हैं। कामना का अर्थ आसक्ति है। अतः निष्काम कर्म-योग को अनासक्ति योग कहना भी उचित है। अहंकार और आसक्ति मनुष्य की इतनी स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं कि उनका त्याग सहज सम्भव नहीं। भगवान् शंकराचार्य ने इस प्रकृत प्रवृत्ति के प्रतिरोध को नदी के प्रति-स्रोत प्रवर्तन की भांति कठिन माना है। मन की स्वाभाविक वासना-वृत्ति को उच्छिन्न करना उतना ही कठिन है जितना नदी को उसके प्रवाह के प्रतिकूल प्रवर्तित करना है। इस कठिन साधना में गीता ने सभी साधनों का उदारता के साथ सहयोग स्वीकृत किया है। कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान सभी आध्यात्मिक साधना में उपादेय हैं। नैतिक कर्म से आत्मसंस्कार होता है। शुद्ध मन साधना की आवश्यक भूमिका है। शान्ति और त्याग की भावना का निरन्तर अनुभावन-रूप योग सिद्धि का सोपान है। मनुष्य की इस आध्यात्मिक साधना में ईश्वर का अवलम्बन भी अत्यन्त उपादेय है। भगवान की भक्ति मनुष्य के मङ्गल का दिव्य साधन है। अहंकार और कामना का दुष्कर त्याग भी भगवान का आश्रय ग्रहण करने पर सुकर हो सकता है। समस्त कर्म-फल का भगवान के चरणों में अर्पण निष्काम-कर्म का परम मार्ग है। भगवान का सेवक बन कर मनुष्य अनासक्ति योग की सिद्धि कर सकता है। ज्ञान इस समस्त आध्यात्मिक साधना का बीज मन्त्र है। वह कर्म-योग और भक्ति का विरोधी नहीं वरन् सब का अनुप्राणक है। ज्ञान आत्मा की एक वृत्ति और मन की भावना है। ज्ञान-मुखी वृत्ति और भावना के आधार पर ही नैतिक कर्म सम्भव और आत्म-संस्कार का साधक है। शान्ति और त्याग की भावना के निरन्तर अनुभावन-रूप योग की भी पीठिका ज्ञान ही है। भगवान के ऐश्वर्य-विभूति और गुणों का ज्ञान भक्ति का भी परम प्रेरक है। इन समस्त साधनों का

पर्यवसान अखण्ड शान्ति के अनुभव-रूप परम ज्ञान में होता है जिसे गीता में 'विज्ञान' कहा है। विज्ञानारूढ़ आत्मा निर्वात देश में निष्कम्प दीपशिखा की भाँति अमृत आलोक और अविचल स्थिति में संस्थित रहती है। किन्तु शान्त और अविचल सूर्य की भांति वह समस्त विश्व-कर्म की सञ्चालक-शक्ति भी रहता है। अखण्ड शान्ति की अनुद्विग्न ब्राह्मी स्थिति में स्थित रह कर भी सिद्ध पुरुष लोक-संग्रह के लिए निरन्तर अनासक्त कर्म में लीन रहता है।

भाग ५

विचार का समाधान

(न्याय और वैशेषिक दर्शन)

अध्याय १

न्याय-वैशेषिक

१—प्रस्तावना

भगवान बुद्ध के आविर्भाव के साथ भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में एक नवीन जागरण के युग का आरम्भ हुआ और भारतीय चिन्तन में एक नवीन चेतना का समावेश हुआ। जैन और बौद्ध धर्मों के उदय और प्रचार ने वैदिक परम्परा के अधिष्ठाताओं को सजग कर दिया। जैन और बौद्ध धर्म के विरोध और संघर्ष से वे वैदिक विचार-परम्परा के संरक्षण और संवर्द्धन के प्रति और अधिक सचेष्ट हो गये। जैन और बौद्ध धर्मों का उदय एक सामाजिक, नैतिक और धार्मिक आन्दोलन के रूप में हुआ था। महावीर और बुद्ध धार्मिक सम्प्रदायों के प्रवर्तक थे, दार्शनिक सिद्धान्तों के संस्थापक नहीं। इन धार्मिक आन्दोलनों का जनता पर बड़ा प्रभाव हुआ। उनकी उदार जाति-पाँति और वर्ण-भेद से रहित व्यवस्था तथा उनके व्यावहारिक आचार-शास्त्र के कारण उनका प्रचार देश में बढ़ने लगा। इन विरोधी धर्मों के विरुद्ध वैदिक विचार-परम्परा को सुरक्षित और जीवित रखने के लिए वैदिक धर्म-परम्परा को एक ऐसा स्वरूप देना आवश्यक था जो लोक-सुलभ और जनता के लिए रुचिकर हो। पिछले भाग में वर्णित पुराण, इतिहास आदि के लोक-साहित्य की प्रेरणा देश की इसी आवश्यकता में थी। सरल भाषा और मनोहर काव्य-शैली में वैदिक धर्म के तत्वों को एक ऐसा सुगम और रुचिकर रूप दिया गया है कि ये ग्रन्थ आज भी सामान्य जनता के लिए वेद के ही समान हैं। इस लोक-प्रिय धार्मिक साहित्य ने ही वैदिक धर्म-परम्परा को जनता के हृदय में सुरक्षित रक्खा। यह साहित्य इतना विशाल और विविध है

कि प्रत्येक अभिरुचि के मनुष्य के लिए इसमें अपनी धार्मिक आकांक्षा के समाधान और सन्तोष का आधार मिल सकता है। यद्यपि इन ग्रन्थों की भाषा संस्कृत है किन्तु यह इतनी सरल और सुबोध संस्कृत है कि संस्कृत भाषा का साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी इन्हें इज समझ सकता है। धर्म में काव्य का पुट इनके सौन्दर्य, उपयोग और स्थायित्व का संवर्धक है।

किन्तु मनोजगत में विचारों का विरोध तथा जीवन और व्यवहार के क्षेत्र में आदर्शों का संघर्ष एक बार उत्पन्न होने पर वे अधिक काल तक एक लोक-सामान्य स्तर पर ही नहीं रह सकते। विचारों के विरोध में सिद्धान्तों का मौलिक मत-भेद अन्तर्निहित होता है और आदर्शों के संघर्ष में जीवन के आधार और प्रयोजन की बाज़ी होती है। अतः ये विरोध और संघर्ष कालानुकूल विचार और समाज के नेताओं को जन्म देते हैं, जो इनके महत्व और परिणामों की गम्भीरता को समझ कर विचार और समाज का पथ-प्रदर्शन करते हैं। आदर्शों का संघर्ष सामाजिक वर्गों में अस्त्र-शस्त्रों के विकास की प्रेरणा बनता है और अपनी प्रकृत गति तथा नेताओं की महत्वाकांक्षा के कारण उसका अन्तिम परिणाम युद्ध और विनाश होता है। केवल चिन्तन के क्षेत्र तक सीमित रहने पर विचारों का विरोध लोक और समाज के लिए इतना विनाशक नहीं होता। यद्यपि आदर्शों का निर्माण भी विचारों पर ही आश्रित होता है, किन्तु आदर्शों का संघर्ष विचारों के विरोध का आवश्यक परिणाम नहीं है। भावना से अनुप्राणित होकर ही विचार जीवन का आदर्श बनता है। सामाजिक संघर्ष और युद्ध का कारण विचार-विरोध से अधिक भावना की असहिष्णुता है। चिन्तन का लक्ष्य सत्य के स्वरूप का निर्धारण है; यह निर्धारण कठिन होने के कारण विचार में एक विरोधात्मक तीव्रता होते हुए भी व्यावहारिक सहिष्णुता होती है। एक अपूर्ण और संदिग्ध सत्य के व्यवहार में आग्रह के अतिरिक्त दूसरों पर उसके आरोपण का अनधिकार प्रयास

ही कलह, संघर्ष और युद्ध का मूल है। चिन्तन के क्षेत्र में विचारों के विरोध का परिणाम तर्क-शास्त्र का विकास होता है। तर्क-शास्त्र विचार-संग्राम का अस्त्र है। किन्तु तर्क-शास्त्र का शस्त्रीकरण यौद्धिक शस्त्रीकरण की भांति केवल विनाशक ही नहीं वरन् विधायक भी है। तर्क-शास्त्र का प्रयोजन पर-मत-खण्डन के साथ साथ स्वमत का मण्डन भी होता है। एक प्रकार से विचारों का संघर्ष उत्पन्न होने पर अपने मत की सुरक्षा के लिए उसे एक व्यवस्थित तथा तर्क-संगत रूप देने के लिए तर्क-शास्त्र का विकास होता है। विरोध और संघर्ष की स्थिति में अपने सिद्धान्त के संरक्षण के साथ साथ विरुद्ध सिद्धान्तों (विपक्ष) के खण्डन के लिए भी तर्क-शास्त्र का प्रयोग किया जाता है। विचारों के विरोध के प्रबल और संघर्ष के तीव्र होने पर तर्क-शास्त्र का विकास अनिवार्य हो जाता है। तीव्र विरोध और गम्भीर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने पर एक लोक-सामान्य स्तर पर सामान्य जनता के विश्वास का समाधान ही पर्याप्त नहीं है। दर्शन का कुछ अंश लोकोपयोगी स्वरूप ग्रहण कर साधारण जनता की सम्पत्ति और लोक-जीवन का पथ-प्रदर्शक बन सकता है। किन्तु उसका अधिकांश गंभीर और सैद्धान्तिक स्वरूप कठिन तर्क से जटिल और विद्वानों का ही वैभव रहता है। इस सैद्धान्तिक स्वरूप के आश्रय पर ही दर्शन के सुगम और लोक सामान्य स्वरूप का लोक-जीवन की प्रेरणा और पथ-प्रदर्शक बने रहना सम्भव है। अतः लोक-जीवन को एक दृढ़ और स्थायी आधार देने के लिए तथा उस आधार के मूलभूत गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप देने के लिए दर्शन के क्षेत्र में तार्किक सम्प्रदायों का उदय होता है। पिछले भाग में वर्णित लोक-सुगम दार्शनिक साहित्य को एक व्यवस्थित आधार देने के लिए तथा उसके अंतर्गत सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करने के लिए वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय और विकास हुआ। ये दार्शनिक सम्प्रदाय जहाँ एक दृष्टि से लोक-विश्वास के समाधान के आधारभूत 'स्मृति'

साहित्य परम्परा के पूरक हैं, वहाँ अन्य दृष्टि से एक स्वतन्त्र विकास भी हैं। जैन और बौद्ध धर्मों के उदय से विचार और विश्वास के क्षेत्र में उत्पन्न क्रान्ति के विरुद्ध लोक-जीवन में वैदिक परम्परा को सजग रखने के लिए जिस प्रकार लोक-सुलभ स्मृति-साहित्य की सृष्टि हुई, उसी प्रकार विचार और सिद्धान्त के क्षेत्र में वैदिक परम्परा को प्रतिष्ठित करने के लिए इन दार्शनिक सम्प्रदायों का संस्थापन हुआ।

अस्तु, भगवान बुद्ध के आविर्भाव के बाद भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में जो नवीन चेतना उत्पन्न हुई उसी चेतना के फल-स्वरूप दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय हुआ। जैन और बौद्ध मतों का आरम्भ सामाजिक, नैतिक और धार्मिक आन्दोलनों के रूप में हुआ था। अतः वैदिक परम्परा के पोषकों का ध्यान भी एक ऐसे लोक-सुगम साहित्य की सृष्टि की ओर गया जो वेद के अध्ययन के अधिकार से वंचित और उसके तात्पर्य के अवगम में अक्षम सामान्य जनता में वैदिक परम्परा को प्रचलित रख सके। किन्तु शीघ्र ही विरोध और संघर्ष के तीव्र होने पर दोनों ही परम्पराओं में तार्किक व्यवस्था का विकास होने लगा। जैसा कहा जा चुका है तर्क-शास्त्र दार्शनिक संघर्ष और संग्राम का अस्त्र है। विचार-परम्पराओं में संघर्ष उत्पन्न होने पर पर-मत-खण्डन और स्वमत-मण्डन के लिए तर्क-शास्त्र की अपेक्षा होती है। धर्म और संस्कृति की सहज परम्परा को प्रतिष्ठित और मान्य बनाने के लिए तथा तार्किक आक्रमणों के विरुद्ध उसे सुरक्षित रखने के लिए उसके आधार-भूत सिद्धान्तों को एक तर्क-संगत और व्यवस्थित रूप देना होता है। बौद्ध परम्परा में इस परिस्थिति की अपेक्षा के परिणाम स्वरूप जिन दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय हुआ उनमें से मुख्य चार सम्प्रदायों का परिचय दूसरे भाग में दिया जा चुका है। अगले भागों में इनके अनुपूरक प्रधान वैदिक सम्प्रदायों का परिचय देना अभीष्ट है। ये दार्शनिक सम्प्रदाय वेद-सम्मत होने के कारण आस्तिक दर्शन कहलाते हैं और इनके विपरीत चार्वाक, जैन और बौद्ध दार्शनिक

सम्प्रदाय वेदों को न मानने के कारण नास्तिक दर्शन कहलाते हैं। यह स्पष्ट ही है कि आस्तिकत्व की यह परिभाषा और दर्शनों का इन दो वर्गों में विभाजन वैदिक परम्परा के पोषकों द्वारा ही किया गया है। इन आस्तिक दर्शनों में कपिल का सांख्य, पतञ्जलि का योग, गौतम न्याय, कणाद का वैशेषिक, जैमिनि का पूर्व मीमांसा और बादरायण उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त अधिक प्रसिद्ध हैं। भारतीय दर्शन-परम्परा में ये षड्दर्शन के नाम से विख्यात हैं।

इन छः दर्शनों का मूल वेदों में माना जाता है इसीलिए ये आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। वेद-मूलक मानने पर इन दर्शनों का आरम्भ जैन और बौद्ध धर्मों के उदय से पूर्व मानना होगा। इनमें सभी दर्शनों ने वेदों में अपने सिद्धान्तों का आधार खोजने की चेष्टा की है। दोनों मीमांसाएँ तो स्पष्ट रूप से वेद-मूलक हैं। वेद के दो प्रधान अंगों—ब्राह्मणों और उपनिषदों—तथा उनकी दो प्रमुख विचारधाराओं को एक व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न क्रमशः पूर्व और उत्तर मीमांसाओं में किया गया है। सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक के मूल तत्वों का भी कुछ आरम्भिक संकेत उपनिषदों में मिलता है। अस्तु यह असन्दिग्ध है कि इन दर्शनों का उद्गम वैदिक चिन्तन में ही हुआ। जैन और बौद्ध सम्प्रदायों के उदय से उत्पन्न क्रान्ति निस्संदेह इनके विकास को गति देने में सहायक हुई, किन्तु उस क्रान्ति के बहुत पूर्व स्वतन्त्र चिन्तन-स्रोतों से इन दर्शनों की चिन्ता-धारा का आविर्भाव हुआ। किन्तु इन चिन्ता-धाराओं का आरम्भिक प्रगति-पथ बहुत अस्पष्ट है। बुद्ध के पूर्व तो ब्राह्मण और उपनिषदों में ही इनके बिखरे संकेत मिलते हैं। बुद्ध के बाद ईसा के जन्म तक का भी इनका इतिहास अस्पष्ट ही है। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में आकर ही इन दार्शनिक सम्प्रदाओं के व्यवस्थित ग्रन्थ उपलब्ध होने लगते हैं। ऐसा सम्भव है कि जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में, विशेषकर बौद्ध सम्प्रदाय में, तर्काश्रित दर्शनों के उदय से वैदिक दर्शनों को व्यवस्थित रूप ग्रहण

करने में प्रेरणा मिली हो। इन दर्शनों के मूल व्यवस्थित रूप जिन ग्रन्थों में मिलते हैं वे 'सूत्र' कहलाते हैं। प्रत्येक दर्शन का मूल ग्रन्थ एक 'सूत्र' है और उसके प्रणेता एक ऋषि माने जाते हैं। ये सूत्र भारतीय साहित्य की एक अपूर्व निधि हैं। संक्षेप शैली की पराकाष्ठा इन रचनाओं में मिलती है। संसार की अन्य किसी भाषा में इस प्रकार की रचना नहीं मिलती। इन सूत्र ग्रन्थों में थोड़ी सी संक्षिप्त पंक्तियों में सम्पूर्ण दर्शन का सार संग्रहीत कर दिया गया है। उस प्राचीन काल में जब लेखन के कोई साधन उपलब्ध न थे, इस अपूर्व शैली के आविष्कार से ही हमारे देश में इतने विशाल साहित्य का सृजन और संरक्षण सम्भव हो सका। संक्षिप्त होने के कारण इन रचनाओं में कुछ दुरूहता आ जाना स्वाभाविक था। अतः सूत्रों के बाद उनके विस्तृत व्याख्यान रूप भाष्यों तथा टीकाओं के रूप में इन दर्शनों की परम्परा का विकास हुआ। तर्क और विवेचन इन दर्शनों की विशेषता है। इस दृष्टि से ये लोक-विश्वास के समाधान के साधक इतिहास, पुराण आदि काव्यमय लोक-साहित्य से अत्यन्त भिन्न हैं। जहां यह लोक-साहित्य भावना-प्रधान है, ये दर्शन तर्क-प्रधान हैं। इस लोक-साहित्य का उद्देश्य साधारण जनता की धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति है; इन दर्शनों का उद्देश्य विद्वानों और मनीषियों की बौद्धिक जिज्ञासाओं और तर्कनाओं का समाधान है। यद्यपि एक विचार-क्रान्ति के समान युग में उदित होने के कारण इन दर्शनों में आध्यात्मिक उद्देश्य और व्यावहारिक प्रयोजन की समानता है, फिर भी इनके आधार-भूत सिद्धान्तों में मौलिक भेद है। भारतवर्ष एक विशाल देश है। इसके विभिन्न क्षेत्रों में अनेक विचारक विविध प्रकार से दार्शनिक विषयों पर चिन्तन कर रहे थे। सामान्यतः मनुष्य की भावनाओं में जितना साम्य सम्भव है उतना साम्य उसके विचारों में सम्भव नहीं। भेद एक प्रकार से तर्क और बुद्धि का स्वरूप अथवा लक्षण-सा प्रतीत होता है। दूसरे जीवन और चिन्तन की समस्याएं

अनेक और अत्यन्त कठिन हैं। उन पर निष्पक्ष भाव से भी अनेक प्रकार से विचार किया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन दर्शनों का विकास एक मानसिक क्रान्ति के युग की घटना है। अतः उस क्रान्ति के युग में अनेक विचारक विरोध और संघर्ष के प्रसंग में उत्पन्न समस्याओं का विविधप्रकार से समाधान कर रहे थे। अस्तु क्रान्ति की परिस्थिति में और बौद्धिक विचार की स्वाभाविक भेद-मुखी दृष्टि के कारण वैदिक परम्परा में इन विभिन्न दर्शनों का विकास हुआ जिनमें नैतिक प्रयोजन और आध्यात्मिक उद्देश्य की समानता होते हुए भी सिद्धान्तों में मौलिक मतभेद है। इन दर्शनों में न्याय तथा वैशेषिक दर्शन विशेष रूप से तर्क-प्रधान हैं। इसीलिए इन दर्शनों को विशेषतः 'विचार का समाधान' माना गया है। विद्वानों और मनीषियों में ही इन दर्शनों की परम्परा सीमित रही। विशेष रूप से बौद्धिक और तर्क प्रधान होने के कारण ये दर्शन साधारण जनता की सम्पत्ति न बन सके। प्रस्तुत भाग में 'विचार के समाधान' भूत इन्हीं दर्शनों का विवेचन किया जायगा।

२—परिचय, परम्परा और साहित्य

क्रान्ति-युग की तर्क-मुखी प्रवृत्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति न्याय और वैशेषिक के सम्प्रदायों में हुई। न्याय-शास्त्र का तो प्रमुख विषय ही बौद्धिक मीमांसा है। वैशेषिक शास्त्र तत्व-विवेचन में उस मीमांसा का प्रयोजन है। न्याय का प्रधान लक्ष्य विचार की यथार्थता का निर्णय है। विचार-संघर्ष के उस युग में तत्व-निर्णय के लिए तथा दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप देने के लिए न्याय की अत्यन्त अपेक्षा थी। अर्थशास्त्रकार कौटिल्य ने न्याय को सब विद्याओं का प्रदीप माना है। अस्तु, वैदिक और अवैदिक दोनों ही परम्पराओं में चिन्तन के विकास के साथ साथ न्याय-शास्त्र का भी विकास हुआ। इस सामान्य अर्थ में न्याय सभी दर्शन-सम्प्रदायों का अंग है। इसके

अतिरिक्त भारतीय दर्शन परम्परा में न्याय एक विशेष दर्शन सम्प्रदाय भी है। वैशेषिक दर्शन को इस न्याय दर्शन का समान-तन्त्र माना जाता है। वस्तुतः न्याय और वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों में सांख्य और योग के सिद्धान्तों की भांति बहुत साम्य है। इसीलिए आगे चल कर न्याय-वैशेषिक की विचार-धारा मिल कर एक हो गई। बहुत से अर्वाचीन ग्रन्थ न्याय-वैशेषिक के सामान्य ग्रन्थ हैं। इस संयुक्त परम्परा में न्याय के षोडश-रूप पदार्थ-विभाग की अपेक्षा अधिक युक्ति-संगत होने के कारण वैशेषिक का सप्त-विध पदार्थ-विभाग स्वीकृत कर लिया गया। यह सप्त-विध पदार्थ-विभाग न्याय-वैशेषिक की संयुक्त परम्परा को वैशेषिक की विशेष देन है। न्याय विशेष रूप से प्रमाण-शास्त्र है। अतः इस संयुक्त परम्परा में प्रमाण-मीमांसा न्याय से ग्रहण की गई है। संयुक्त परम्परा में प्राचीन वैशेषिक के प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणों के स्थान पर न्याय मत के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने गये हैं। न्याय-वैशेषिक का यह संयुक्त मत एक प्रकार का यथार्थवादी ईश्वर-वाद है। न्याय का ईश्वर योग के ईश्वर की भाँति केवल द्रष्टा नहीं है, वह जगत का स्रष्टा और विश्व का नियन्ता है। ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण मात्र है, उसका उपादान कारण पञ्चमहाभूतों के परमाणु है जो एक प्रकार से स्वतन्त्र सत्तावान् हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन कोरा प्रमाण-शास्त्र ही नहीं है, अन्य दर्शनों की भाँति इसमें भी निःश्रेयस को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। यह निःश्रेयस आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति-रूप है और तत्व-ज्ञान द्वारा प्राप्य है। उत्तर न्याय में ईश्वर की आराधना को निःश्रेयस की साधना में अधिक महत्व दिया गया है। यह निर्णय करना कठिन है कि उत्तर न्याय का साध्य ईश्वर है अथवा दुःख निवृत्ति रूप अपवर्ग।

न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गोतम माने जाते हैं। गोतम का **न्याय सूत्र** न्याय दर्शन का मूल ग्रन्थ है। **न्याय सूत्र** पर वात्स्यायन

(४थी शताब्दी) का प्रसिद्ध और प्रामाणिक **भाष्य** है। उद्योतकर (६ठी शताब्दी) ने **न्याय-वार्तिक** में **न्याय-भाष्य** में निर्दिष्ट सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया है। सर्व-दर्शन-टीका-कृत वाचस्पति मिश्र (६वीं शताब्दी) विरचित **न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीका** न्याय-नय की निकषमणि और नैयायिकों का भूषण है। **तात्पर्य-टीका** में न्याय के सूक्ष्म विषयों की मार्मिक मीमांसा की गई है। **तात्पर्य-टीका** के महत्व और गौरव का प्रमाण उदयनाचार्य (१०वीं शताब्दी) द्वारा रचित उसकी **तात्पर्य-टीका-परिशुद्धि** नामक व्याख्या है। उदयनाचार्य की **परिशुद्धि** के ऊपर वर्धमान (१३वीं शताब्दी) ने **न्याय-निबन्ध-प्रकाश** नामक उपटीका लिखी। वर्धमान के प्रकाश का विस्तार पद्मनाभ (१५वीं शताब्दी) ने **वर्धमानेन्दु** नामक ग्रन्थ में किया। शंकर मिश्र (१६वीं शताब्दी) का **न्याय-तात्पर्य-मण्डन, वर्धमानेन्दु** का ही मण्डन है। यह दीर्घ और अविच्छिन्न परम्परा न्याय शास्त्र के गौरव और उसके अध्ययन के प्रति मनीषियों की तत्परता का प्रमाण है। गंगेश उपाध्याय (१२वीं शताब्दी) की **तत्त्व-चिन्तामणि** से नवद्वीप के नव्य-न्याय सम्प्रदाय का आरम्भ हुआ। गंगेश के इस युगान्तरकारी ग्रन्थ पर अनेकों प्रसिद्ध टीकाएँ हैं जिनमें रघुनाथ शिरोमणि कृत **'दीधिति'** और गदाधर भट्टाचार्य की टीकाएं मुख्य मानी जाती हैं।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद मुनि माने जाते हैं। वैशेषिक शास्त्र एक प्रकार का परमाणुवाद है। अतः भोज्य पदार्थों में भी परमाणु रूप कणों के भक्षण के व्यंग के उद्देश्य से इनका नाम कणाद पड़ा; अथवा शिलोञ्छित अन्न के कणों के भक्षण के कारण इनका नाम कणाद पड़ा होगा। कणाद का **वैशेषिक-सूत्र** वैशेषिक दर्शन का मूल ग्रन्थ है। वैशेषिक सूत्र पर कोई प्राचीन और प्रामाणिक भाष्य उपलब्ध नहीं होता। सम्भव है कोई मूल भाष्य रहा हो किन्तु वह काल-कवलित हो गया। प्रशस्त पाद (४थी शताब्दी) का **पदार्थ-धर्म-**

संग्रह एक प्रकार से स्वतन्त्र ग्रन्थ है, वैशेषिक सूत्र पर भाष्य नहीं। विषय में समानता होते हुए भी विवेचित विषयों के क्रम में भेद है। शंकर मिश्र (१६वीं शताब्दी) ने अपने **उपस्कार** में मूल भाष्य के अभाव पर खेद प्रकट किया है और 'सूत्र' मात्र के आधार पर बिना भाष्य के अवलम्ब के वैशेषिक दर्शन की व्याख्या को ऐन्द्रजालिक के 'सूत्र' मात्र के आधार पर आकाशारोहण के समान साहस-पूर्ण कृत्य कहा है। अस्तु, किसी प्राचीन भाष्य के अभाव में प्रशस्त पाद का **पदार्थ-धर्म-संग्रह ही वैशेषिक सूत्र** के बाद दूसरा प्रामाणिक ग्रंथ है और भाष्य के समान ही माननीय समझा जाता है। **पदार्थ-धर्म-संग्रह** के ऊपर व्योम-शिवाचार्य की **व्योमवती**, श्रीधराचार्य (१०वीं शताब्दी) की **न्याय-कन्दली**, उदयनाचार्य (१०वीं शताब्दी) की **किरणावली** और श्रीवत्स (११वीं शताब्दी) की **लीलावती** चार प्रसिद्ध और श्रेष्ठ टीकाएं हैं। **वैशेषिक-सूत्र** के आधार पर वैशेषिक दर्शन की व्याख्या करने वाले ग्रन्थों में शंकर मिश्र का **उपस्कार** सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

न्याय-वैशेषिक के संयुक्त सम्प्रदाय का प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ शिवादित्य (१०वीं शताब्दी) की **सप्तपदार्थी** और लौगाक्षि भास्कर की **तर्क-कौमुदी** हैं। संयुक्त सम्प्रदाय के अर्वाचीन ग्रन्थों में विश्वनाथ (१७वीं शताब्दी) की **सिद्धान्त मुक्तावली** और अन्नम् भट्ट (१७वीं शताब्दी) का **तर्क-संग्रह** अत्यन्त लोक-प्रिय रचनाएँ हैं। आजकल इन ग्रंथों का उपयोग न्याय-शास्त्र की प्रवेशिकाओं के रूप में होता है। **न्याय-मुक्तावली** पर **दिनकरी** और **रामरुद्री** नाम की दो प्रसिद्ध टीकाएँ हैं। **तर्क-संग्रह** की अनेक टीकाओं में **दीपिका** और **न्याय बोधिनी** विशेष उल्लेखनीय हैं।

अध्याय २

न्याय-दर्शन

१—परिचय

न्याय दर्शन मुख्यतः एक प्रमाण-शास्त्र है। ज्ञान के साधन और ज्ञान की यथार्थता का निर्णय ही उसका मुख्य विषय है। किन्तु न्याय केवल प्रमाण-शास्त्र ही नहीं। ज्ञान-मीमांसा उसका मुख्य विषय होते हुए भी न्याय का एक तात्विक दृष्टि-कोण है और एक नैतिक लक्ष्य भी। दर्शन की दृष्टि से न्याय एक यथार्थवादी ईश्वरवाद है। इसके अनुसार जीव, जगत और ईश्वर तीन सत्य और सनातन सत्ताएं हैं। जगत ईश्वर की सृष्टि है। किन्तु उसकी वास्तविक सत्ता है; वेदान्त के विश्व की भाँति वह माया मात्र नहीं। सृजन की भांति ज्ञान के प्रसंग में भी जगत् की स्वतन्त्र सत्ता है। जगत् अथवा भौतिक पदार्थों का अस्तित्व ज्ञान अथवा ज्ञाता (जीव) के ऊपर निर्भर नहीं। ज्ञान का वस्तु-प्रकारत्व ही उसकी यथार्थता अथवा प्रमात्व है। अन्य दर्शनों की भाँति निःश्रेयस अथवा अपवर्ग (मोक्ष) हमारा चरम नैतिक लक्ष्य है। इस निःश्रेयस का स्वरूप आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति है और उसका मुख्य साधन तत्व-ज्ञान है। उत्तर न्याय में ईश्वरोपासना को भी अपवर्ग के साधनों में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

जिन १६ पदार्थों के स्वरूपाधिगम तथा पारस्परिक विवेकपूर्वक तत्व-ज्ञान से अपवर्ग रूप निःश्रेयस प्राप्त होता है उनका उल्लेख **न्याय सूत्र** के पहले सूत्र में ही किया गया है; वे इस प्रकार हैं—(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान।

(१) *प्रमाण*—प्रमा के करण (साधन) को 'प्रमाण' कहते हैं। यथार्थ-ज्ञान का नाम 'प्रमा' है। वस्तु के अनुरूप-प्रकार वाला ज्ञान 'यथार्थ ज्ञान' है। न्याय शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाण माने गये हैं। सांख्य के तीन प्रमाणों से एक 'उपमान' प्रमाण न्याय में अधिक माना गया है। इस दृष्टि से न्याय के ज्ञान-शास्त्र में हम सांख्य से कुछ विकास पाते हैं। इन प्रमाणों का विस्तृत विवेचन ज्ञान-मीमांसा के प्रसंग में किया जायगा।

(२) *प्रमेय*—प्रमाण के विषय को 'प्रमेय' कहते हैं। प्रमाण यथार्थ ज्ञान का साधन है; उस साधन से जिन अर्थों अथवा विषयों का ज्ञान होता है वे 'प्रमेय' कहलाते हैं। **न्याय-सूत्र** में प्रमेयों की संख्या १२ मानी गईं हैं; वे प्रमेय इस प्रकार हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (इन्द्रियों के विषय), बुद्धि अथवा ज्ञान, मन अथवा अन्तःकरण, प्रवृत्ति अथवा मन, वाणी और शरीर-कृत चेष्टा, दोष (राग-द्वेषादि) प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल, (सुख-दुःखानुभव), दुःख (पीड़ा, सन्ताप) और अपवर्ग (मोक्ष अर्थात् आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति। यह प्रमेय विषयों की पूर्ण सूची नहीं है। इसमें केवल उन १२ प्रमेयों की गणना की गई हैं जिनका ज्ञान मोक्ष के लिए आवश्यक है।

(३) *संशय*—अनिश्चय की अवस्था का नाम 'संशय' है। जब एक ही वस्तु के विषय में अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं तो मन में सन्देह उत्पन्न होता है कि उनमें कौन ठीक है। जैसे दूर कोई वस्तु दिखाई देने पर यह निश्चित नहीं होता कि 'यह स्थाणु है अथवा पुरुष'। इस अनिश्चय अथवा सन्देह की अवस्था को ही 'संशय' कहते हैं।

(४) *प्रयोजन*—कार्य के उद्देश्य का नाम 'प्रयोजन' है। मूर्ख मनुष्य भी किसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर ही कार्य में प्रवृत्त होता है, फिर बुद्धिमान् को तो बात ही क्या! न्याय दर्शन के अनुसार जीवन का चरम प्रयोजन आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति है।

(५) *दृष्टान्त*—एक सामान्य सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए जो उदाहरण दिया जाता है उसे 'दृष्टान्त' कहते हैं। वही उदाहरण दृष्टान्त बन सकता है जो दोनों पक्षों के लिए मान्य हो। 'पर्वत पर अग्नि है क्योंकि वहाँ धूम है' इस वाद के प्रसंग में रसोई का दृष्टान्त दिया जा सकता है, क्योंकि रसोई में धूम के साथ अग्नि की उपस्थिति प्रत्यक्ष-गम्य तथा सर्व-मान्य है।

(६) *सिद्धान्त*—किसी दर्शन में स्वीकृत मत को 'सिद्धान्त' कहते हैं। सांख्य का पुरुष साक्षी चैतन्य मात्र है तथा न्याय में चैतन्य आत्मा का नित्य गुण नहीं है ये दोनों मान्यताएं दोनों दर्शनों के 'सिद्धान्त' हैं।

(७) *अवयव*—अनुमान प्रमाण में जिन ५ वाक्यों की परम्परा द्वारा निष्कर्ष निकाला जाता है उन्हें 'अवयव' कहते हैं। अवयव का अर्थ अंग है। ये अवयव संख्या में पाँच हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। ये अवयव अनुमान के अंग हैं, अतः अनुमान प्रमाण के प्रसंग में इनकी पूर्ण व्याख्या की जायगी।

(८) *तर्क*—किसी भले प्रकार से अज्ञात विषय के सम्यक् ज्ञान के लिए जो ऊहा अथवा कारण की कल्पना की जाती है उसे 'तर्क' कहते हैं। यह यथार्थ ज्ञान का अनुग्राहक है।

(९) *निर्णय*—पक्ष और प्रतिपक्ष का सम्यक् विवेचन कर प्रमाणों द्वारा अर्थ-निश्चय 'निर्णय' कहलाता है।

(१०) *वाद*—न्याय-नियमों के अनुसार तत्व-निर्णय के लिए जो पक्ष-प्रतिपक्ष के ग्रहण-पूर्वक विवाद होता है वह 'वाद' है। प्रमाण और तर्क इसके साधन हैं।

(११) *जल्प*—व्यर्थ के विवाद का नाम 'जल्प' है। इसका उद्देश्य तत्व-निर्णय न होकर प्रतिपक्ष पर किसी प्रकार विजय प्राप्त करना। छल, जाति और निग्रहस्थान इसके साधन हैं।

(१२) *वितण्डा*—प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित जल्प का नाम 'वितण्डा' है। जल्प में दोनों पक्ष न्याय्य-अन्याय्य किसी विधि से अपने पक्ष की स्थापना तथा विरुद्ध पक्ष का खण्डन कर विजय की चेष्टा करते हैं। वितण्डा में केवल विरुद्ध पक्ष का खण्डन ही होता है।

(१३) *हेत्वाभास*—आभास का अर्थ मिथ्या प्रतीति है। अनुमान की सिद्धि हेतु द्वारा की जाती है। जहाँ हेतु का आभास मात्र होता है अर्थात् जहाँ हेतु दिखाई देता है किन्तु वास्तविक हेतु नहीं होता उसे 'हेत्वाभास' कहते हैं। यह पाँच प्रकार का होता है। अनुमान के प्रसंग में इसका विवेचन किया जायगा।

(१४) *छल*—अभीष्ट से भिन्न अर्थ की कल्पना द्वारा किसी के वचन का विघात 'छल' कहलाता है। जैसे 'नव-कम्बलोऽयं' माणवकः, वाक्य में 'माणवक के पास नवीन कम्बल है' इस अभीष्ट अर्थ के स्थान पर 'माणवक के पास नौ कम्बल हैं' इस अर्थ की कल्पना कर के 'माणवक के पास एक ही कम्बल है, नौ नहीं' इस तर्क द्वारा उसका खण्डन करना 'छल' है।

(१५) *जाति*—जाति एक पारिभाषिक शब्द है। अस्थिर तर्क का नाम 'जाति' है। किसी प्रकार के भी अप्रासंगिक साधर्म्य या वैधर्म्य द्वारा खण्डन करना 'जाति' है।

(१६) *निग्रह स्थान*—तर्क-प्रसंग में जिस स्थान पर आकर पराजय स्वीकार करनो पड़ता है उसे 'निग्रह स्थान' कहते हैं। विप्रतिपत्ति (विपरीत अर्थ-ग्रहण) अथवा अप्रतिपत्ति (अर्थ का अग्रहण) दो मुख्य पराजय के आधार होते हैं।

२—ज्ञान-मीमांसा

न्याय दर्शन के आधार-भूत उक्त १६ पदार्थों में प्रमाण सर्व प्रथम है। यद्यपि अन्य दर्शनों की भांति न्याय में भी निःश्रेयस को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है किन्तु वह निःश्रेयस तत्व-

ज्ञान द्वारा प्राप्य है। यह तत्व-ज्ञान प्रमाणादि षोडश पदार्थों के ज्ञान-पूर्वक प्राप्त होने वाला यथार्थ ज्ञान है। प्रमाण यथार्थ ज्ञान के साधन हैं। अतः प्रमाण-मीमांसा का न्याय दर्शन में विशेष स्थान है। न्याय दर्शन के अनुसार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है। मोक्षावस्था में आत्मा के चैतन्य का विलय हो जाता है। जीवन काल में आत्मा का यह चैतन्य दीपक के आलोक की भांति पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करता है। प्रकाशन के साथ साथ पदार्थों के स्वरूप का अनुभव आत्मा में होता है; इसी अनुभव का नाम 'ज्ञान' है। यह अनुभव दो प्रकार का होता है—यथार्थ और अयथार्थ। वस्तु का जैसा वास्तविक स्वरूप है उसके तत्प्रकारक ज्ञान को 'यथार्थ-ज्ञान' माना जाता है। वस्तु के वास्तविक स्वरूप से भिन्न-प्रकारक ज्ञान को 'अयथार्थ' ज्ञान कहते हैं। यथार्थ ज्ञान 'प्रमा' और अयथार्थ ज्ञान 'अप्रमा' कहलाता है। यथार्थ ज्ञान के साधन 'प्रमाण' कहलाते हैं। अयथार्थ ज्ञान चार प्रकार का होता है—स्मृति, संशय, भ्रम और तर्क। 'स्मृति' पूर्वानुभूत ज्ञान की आत्मा में आवृत्ति है। इसमें सदा दोष की आशंका रहती है; अतः इसे निश्चय रूप से यथार्थ ज्ञान नहीं माना जा सकता। 'संशय' तो स्पष्ट रूप से ही सन्दिग्ध ज्ञान है। 'भ्रम' में यद्यपि तत्काल में दोष का भान नहीं होता किन्तु शीघ्र ही उसकी अयथार्थता प्रमाणित हो जाती है। तर्क ऊहा मात्र है। प्रत्यक्ष अनुभव के विना तर्कोपपत्ति की यथार्थता का निश्चय अपेक्षित रह जाने के कारण तर्क भी निश्चित रूप से यथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत नहीं है।

(१) प्रत्यक्ष—

यथार्थ ज्ञान के साधन भूत प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इनमें प्रत्यक्ष सबसे ज्येष्ठ प्रमाण है क्योंकि वह अन्य प्रमाणों का पूर्ववर्ती और आधार है। न्याय-परिभाषा के अनुसार इन्द्रियों के विषयों के साथ सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता

है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इसके साथ साथ प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आत्मा और मन का सन्निकर्ष भी अपेक्षित है। उनके अभाव में केवल इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य। ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान सार्व-कालिक और सर्व-विषयक होने कारण 'नित्य' है। मनुष्य का प्रत्यक्ष ज्ञान 'अनित्य' है। यह अनित्य मानवीय प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—लौकिक और अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष का विभाजन दो प्रकार से किया जाता है। एक विभाजन के अनुसार लौकिक प्रत्यक्ष के बाह्य और आन्तर दो भेद हैं। वृक्षादि बाह्य-पदार्थ-विषयक प्रत्यक्ष 'बाह्य' है। हर्ष, शोकादि आन्तरिक-पदार्थ-विषयक प्रत्यक्ष 'आन्तर' है। दूसरे विभाजन के अनुसार यह उभय-विध लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—निर्विकल्पक और सविकल्पक। सन्निकर्ष के प्रथम क्षण में पदार्थ की सत्ता मात्र का जो बोध होता है उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। यह अप्रकारक ज्ञान होता है क्योंकि इसमें किसी प्रकार विशेष के रूप में वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता। सविकल्पक प्रत्यक्ष वस्तु का प्रकार-विशिष्ट रूप से ग्रहण है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष का एक भेद 'प्रत्यभिज्ञा' भी है। पूर्वानुभूत पदार्थ का पुनः तद्रूप से अभिज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है, जैसे 'यह वही भिखारी है जो कल आया था।'

अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है—सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज। अलौकिक प्रत्यक्ष में किसी असाधारण सन्निकर्ष द्वारा उन विषयों का प्रत्यक्ष होता है जो इन्द्रियों के साधारण संनिकर्ष द्वारा ग्राह्य नहीं है। सामान्य-लक्षण द्वारा सामान्य अथवा जाति का ग्रहण होता है। न्याय मतानुसार जाति केवल एक शब्द अथवा कल्पना नहीं है, वरन् वह एक वास्तविक पदार्थ है और उसका सामान्य-लक्षण द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। 'मनुष्य' के लौकिक प्रत्यक्ष के साथ साथ 'मनुष्यत्व' का भी अलौकिक प्रत्यक्ष होता है।

ज्ञान-लक्षण द्वारा एक असाधारण-सन्निकर्ष-पूर्वक ऐसे विषय का बोध होता है जो साधारण रूप से सन्निकृष्ट नहीं होता। भ्रम की अवस्था में शुक्ति में रजत का प्रत्यक्ष ज्ञान-लक्षण-जन्य ही होता है। कमल कोमल **दिखाई देता** है इस ज्ञान में कमल की कोमलता का ज्ञान स्पर्श-जन्य न होने के कारण ज्ञान-लक्षण-सन्निकर्ष द्वारा प्राप्त अलौकिक प्रत्यक्ष है। योगज प्रत्यक्ष द्वारा अतीन्द्रिय और अलौकिक पदार्थों का साक्षात् ज्ञान होता है। सिद्ध पुरुषों, मुक्तों और युक्तों को अलौकिक आत्म-शक्ति द्वारा देवता, परमाणु, परमेश्वर आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष बोध होता है जो लौकिक प्रत्यक्ष में सम्भव नहीं।

(२) अनुमान—

क—अनुमान का स्वरूप—प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर किसी अज्ञात पदार्थ के विषय में ज्ञान अनुमान कहलाता है, जैसे-भूमि को गीली देख कर हम प्रत्यक्ष न देखने पर भी वर्षा का अनुमान कर लेते हैं। यह अनुमान तीन प्रकार का होता है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। **न्याय भाष्य** में इनकी दो प्रकार से व्याख्या की गई है। एक के अनुसार कारण के आधार पर कार्य का अनुमान 'पूर्ववत्' अनुमान है, जैसे बादलों से वर्षा का अनुमान; कार्य से कारण का अनुमान 'शेषवत्' अनुमान है, जैसे नदी में जल-वृद्धि से वर्षा का अनुमान; और सामान्य-दर्शन के आधार पर अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान है, जैसे सूर्य की भिन्न-भिन्न स्थितियों के सामान्य दर्शन से सूर्य की अप्रत्यक्ष गति का अनुमान। दूसरी व्याख्या के अनुसार कारण से कार्य का तथा कार्य से कारण का उभयविध अनुमान 'पूर्ववत्' है; निषेध-पूर्वक अनुमान 'शेषवत्' अनुमान है, जैसे शब्द, द्रव्य, कर्म, सामान्य आदि कुछ नहीं है अतः वह गुण है जो एक मात्र अवशिष्ट पदार्थ है; और प्रत्यक्ष विषयों के साम्य के आधार पर अतीन्द्रिय पदार्थ-विषयक अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान है, जैसे प्रत्येक कार्य का एक कर्त्ता

है इस प्रत्यक्ष के आधार पर साम्य द्वारा सृष्टि-कर्ता अप्रत्यक्ष ईश्वर का अनुमान।

अनुमित ज्ञान का अन्य जन को अवगम कराने के लिए उसे जो भाषा का आवरण दिया जाता है उसे 'न्याय' कहते हैं। अनुमान-प्रक्रिया के प्रत्येक चरण को अन्य जन के स्पष्ट अवगम के लिए पृथक्-पृथक् व्यक्त किया जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार पूर्ण अनुमान के पाँच चरण हैं। ये चरण अनुमान के अंग हैं और न्याय के पञ्चावयव के नाम से प्रसिद्ध हैं। न्याय के ये पांच अवयव इस प्रकार हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

(१) *प्रतिज्ञा*—अनुमान द्वारा जो सिद्ध करना अभीष्ट है वह हमारा साध्य है। साधन के पूर्व साध्य का निर्देश 'प्रतिज्ञा' कहलाता है।

(२) *हेतु*—साध्य को सिद्ध करने के लिए जो कारण दिया जाता है उसे 'हेतु' कहते हैं।

(३) *उदाहरण*—हेतु और साध्य की व्याप्ति के निर्वचन और उसके प्रत्यक्ष दृष्टान्त को 'उदाहरण' कहते हैं।

(४) *उपनय*—हेतु और उदाहरण का साध्य के प्रसंग में प्रयोजन 'उपनय' है।

(५) *निगमन*—हेतु के अपदेशपूर्वक प्रतिज्ञा का पुनर्वचन 'निगमन' है।

उदाहरण के लिए—

पर्वत अग्निमान् है—यह 'प्रतिज्ञा' है।
क्योंकि वह धूमवान् है—यह 'हेतु' है।
जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है,
जैसे रसोई में—यह 'उदाहरण' है।
यहाँ भी ऐसा ही है—यह 'उपनय' है।

अतः (धूमवान् होने के कारण) पर्वत अग्निमान् है—यह 'निगमन' है।

उक्त अनुमान पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उदाहरण के आधार पर ही हेतु द्वारा साध्य की सिद्धि होती है। उदाहरण में हेतु (धूम) के साथ साध्य (अग्नि) की व्याप्ति का सामान्य निर्वचन और प्रत्यक्ष उल्लेख किया जाता है। अस्तु वस्तुतः व्याप्ति ही अनुमान का मुख्य आधार है। दो वस्तुओं की सार्वभौम अनुगति को 'व्याप्ति' कहते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव में सदा एक वस्तु के भाव के साथ अन्य की उपस्थिति अथवा सदा एक के अभाव के साथ अन्य की अनुपस्थिति 'व्याप्ति' कहलाती है। भावात्मक संबन्ध को 'अन्वय व्याप्ति' और अभावात्मक सम्बन्ध को 'व्यतिरेक व्याप्ति' कहते हैं। व्याप्ति के अन्वय-व्यतिरेक प्रकार के आधार पर अनुमान की तीन प्रक्रियाएं हैं—केवलान्वयी, केवल-व्यतिरेकी और अन्वय-व्यतिरेकी। केवल अन्वय-व्याप्ति के आधार पर अनुमान 'केवलान्वयी' अनुमान कहलाता है; यथा घट अभिधेय है, क्योंकि वह प्रमेय है। यहाँ प्रमेयता के साथ अभिधेयता की केवल अन्वय-व्याप्ति ही सम्भव है। कोई वस्तु अ-प्रमेय होने के कारण अभिधेय न हो ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति असम्भव है, क्योंकि अप्रमेय अर्थात् ज्ञान की अविषय-भूत वस्तु की कल्पना ही असम्भव है। केवल व्यतिरेक-व्याप्ति के आधार पर अनुमान 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' कहलाता है; यथा—पृथ्वी अन्य भूतों से भिन्न है, क्योंकि वह गन्धवती है। यहाँ गन्धवत्ता की अन्य भूतों में केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही सम्भव है। अन्य समस्त भूतों में गन्ध का अभाव होने के कारण अन्वयी उदाहरण असम्भव है। अन्वय और व्यतिरेक उभय-विध व्याप्तियों के आधार पर अनुमान 'अन्वय-व्यतिरेकी' अनुमान कहलाता है; यथा—धूम के भाव के साथ साथ सदा अग्नि की सत्ता तथा धूम के अभाव के साथ साथ सदा अग्नि की असत्ता के अनुभव के आधार पर धूम से अग्नि का अनुमान।

ख—हेत्वाभास—

अनुमान में हेतु द्वारा साध्य को सिद्धि की जाती है। उपयुक्त 'हेतु' इष्ट साध्य की सिद्ध करता है। जो हेतु अपने इस उद्देश्य में असफल रहता है वह अयुक्त हेतु है। यह अयुक्त हेतु युक्त हेतु के समान प्रतीत हो सकता है, किन्तु वास्तव में वह हेतु का आभास मात्र है, साध्य का साधक युक्त हेतु नहीं। ऐसे अयुक्त हेतु पर आश्रित न्याय को 'हेत्वाभास' कहते हैं, क्योंकि ऐसे अनुमान में साध्य-साधन में असफल होने के कारण प्रस्तुत हेतु हेतु का आभास मात्र है।

न्याय दर्शन में पाँच प्रकार के हेत्वाभास माने गये हैं—

(१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) सत्प्रतिपक्ष, (४) बाधित और (५) असिद्ध।

(१) *सव्यभिचार*—अपने अभीष्ट साध्य के क्षेत्र से बाहर अति-चार करने वाले हेतु पर आश्रित अनुमान में 'सव्यभिचार' हेत्वाभास की आपत्ति होती है। युक्त हेतु को एकान्तिक होना चाहिये अर्थात् साध्य के बाहर उसकी व्याप्ति का अतिचार नहीं होना चाहिये। उदाहरणार्थ —मनुष्य बुद्धिमान है, क्योंकि वह द्विपद है; इस अनुमान में द्विपदत्व हेतु का मनुष्य के बाहर पशुओं में भी अतिचार है।

(२) *विरुद्ध*—जो हेतु अपने इष्ट साध्य की सिद्धि न करके उसके विपरीत साध्य की सिद्धि करता है वह 'विरुद्ध' हेत्वाभास का कारण होता है। यथा—शब्द नित्य है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है। यह उत्पन्नत्व हेतु शब्द की नित्यता का नहीं वरन् अनित्यता का साधक है।

(३) *सत्प्रतिपक्ष*—जब पक्ष-साधक अनुमान के विपरीत विपक्ष-साधक अनुमान की सम्भावना उपस्थित होती है तो 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभास होता है। यथा—धर्म अच्छा है, क्योंकि वह मोक्ष का कारण है; धर्म बुरा है; क्योंकि वह पाप का आच्छादन है।

(४) बाधित—सत्प्रतिपक्ष में प्रतिपक्षी अनुमान के द्वारा पूर्व साध्य का खण्डन होता है। जब अनुमान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण द्वारा उसका खण्डन होता है तो 'बाधित' हेत्वाभास कहलाता है। यथा—अग्नि शीतल है, क्योंकि वह द्रव्य है; इस अनुमान का बाध अग्नि की उष्णता के प्रत्यक्ष से होता है। ईश्वर नहीं है, क्योंकि वह दिखाई नहीं देता; इस अनुमान का बाध ईश्वर की सत्ता का विधान करने वाली श्रुतियों से होता है।

(५) असिद्ध—जो हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में स्वतः असफल रहता है वह 'असिद्ध' हेत्वाभास का कारण होता है। असिद्ध हेत्वाभास तीन प्रकार का होता है—(क) आश्रयासिद्ध, (ख) स्वरूपासिद्ध और (ग) व्याप्यत्वासिद्ध। (क) जिस साध्य का आश्रय ही असिद्ध होता है उसे 'आश्रयासिद्ध' कहते हैं, यथा-गगनारविन्द सौरभ-युक्त है, क्योंकि उसमें अरविन्दत्व है। इसमें सौरभ का आश्रय गगनारविन्द ही असिद्ध है। (ख) जो स्वरूप से असिद्ध है; यथा—शब्द गुण चाक्षुषत्व नहीं है, वरन् श्रावकत्व है। (ग) उपाधि सहित हेतु व्याप्यत्वासिद्ध का कारण होता है। यथा—पर्वत धूम-युक्त है, क्योंकि उसमें अग्नि है। इसमें आर्द्रेन्धन-संयोग उपाधि है।

(३) उपमान

सादृश्य ज्ञान के आधार पर प्राप्त होने वाला ज्ञान 'उपमान' कहलाता है। उदाहरण के लिए—'गवय' पदार्थ को न जानने वाला कोई मनुष्य किसी आरण्यक पुरुष से 'गवय गौ के सदृश है' यह सुन कर वन में जाकर गौ के सादृश्य के आधार पर गवय को पहचानता है तो यह ज्ञान 'उपमान' कहलाता है। इस ज्ञान में सादृश्य के प्राधान्य के कारण उपमान को न्याय दर्शन में पृथक् प्रमाण माना गया है। केवल प्रत्यक्ष के आधार पर गवय-दर्शन मात्र से यह ज्ञान असम्भव है। अतः यह प्रत्यक्ष से भिन्न है। व्याप्ति-ज्ञान के अभाव के कारण यह अनुमान के अन्तर्गत भी नहीं है। आरण्यक पुरुष के वचन के श्रवण

मात्र से उत्पाद्य न होने के कारण यह शाब्द ज्ञान भी नहीं है। अतः उपमान स्वतन्त्र प्रमाण है।

(४) शब्द

आप्त वाक्य को 'शब्द' कहते है। यथार्थ-वक्ता का नाम 'आप्त' है। वाक्य एक सार्थक पद-समूह है। इस वाक्य के अर्थ-ग्रहण में आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि तीन कारण हैं। अर्थ-बोध के लिए एक पद को दूसरे पद की अपेक्षा आकांक्षा है। अर्थ की सामर्थ्य और उसका अबाध योग्यता है। पदों का विलम्ब-रहित उच्चरण 'सन्निधि' है। आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से रहित वाक्य अर्थ बोधक नहीं होता।

शब्द बोध का साधक वाक्य दो प्रकार का होता है—वैदिक और लौकिक। ईश्वरोक्त होने के कारण वैदिक वाक्य सर्वथा प्रमाण है। वेद ईश्वर का वचन है, अतः सदा सत्य है। लौकिक वाक्य सभी प्रमाण नहीं होते। केवल आप्तोक्त लौकिक वाक्य प्रमाण होता है, क्योंकि वह यथार्थ का बोधक होता है।

३—तत्व-मीमांसा

प्रमाण के बाद न्याय के षोडश पदार्थों में प्रमेय सबसे महत्व-पूर्ण है। प्रमेय के अन्तर्गत प्रमाण अथवा यथार्थ ज्ञान के विषयभूत सभी तत्वों का समावेश है। ये प्रमेय अनेक हैं। **न्याय सूत्र** में निःश्रेयस के लिए जिनका ज्ञान आवश्यक है उन १२ प्रमेयों की गणना की गई है। प्रमेय-विचार ही न्याय की तत्व-मीमांसा है। इन प्रमेयों में आत्मा प्रथम और प्रमुख है। वैशेषिक की भूत-तत्व तथा परमाणु की कल्पना और ईश्वर को मिला देने पर न्याय की यह तत्व-मीमांसा पूर्ण हो जाती है। इन १२ प्रमेयों में इन्द्रियों के विषय-भूत 'अर्थ' प्रमेय में भूत-तत्व का समावेश है। कर्म, फल और जन्म-परम्परा के

नियामक के रूप में ईश्वर का भी इनमें अन्तर्भाव है। अस्तु न्याय के तत्व-शास्त्र में भूत जगत, जीव और ईश्वर तीन प्रमुख सत्ताएं स्वीकृत की गई हैं। जगत् जड़ है। वह परमाणुओं से निर्मित है और ईश्वर की सृष्टि है। जीव आत्मा हैं और ईश्वर जगत् का निमित्त कारण तथा विश्व का नियन्ता है।

न्याय सूत्र में परिगणित १२ प्रमेय इस प्रकार हैं--(१) आत्मा, (२) शरीर, (३) इन्द्रिय, (४) अर्थ, (५) बुद्धि, (६) मन, (७) प्रवृत्ति, (८) दोष, (९) प्रेत्यभाव, (१०) फल, (११) दुःख और (१२) अपवर्ग।

(१) *आत्मा*—प्रमेयों में आत्मा प्रथम और प्रधान है, क्योंकि वही प्रमाता भी है। **न्याय-सूत्र** के अनुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के लिंग हैं। उत्तर न्याय में आत्मा को केवल ज्ञान का अधिकरण माना गया है। किन्तु न्याय की मूल धारणा के अनुसार आत्मा ज्ञान के साथ साथ भावना और कर्म का भी अधिकरण है। राग-द्वेष और सुख-दुःख भावना के अन्तर्गत तथा इच्छा और प्रयत्न कर्म के अन्तर्गत आते हैं। अस्तु आत्मा ज्ञान का अधिकरण, भावना का आश्रय और कर्म का प्रेरक है। यह आत्मा शरीर, इन्द्रिय आदि सब से भिन्न, उनका ज्ञाता और अधिष्ठाता तथा समस्त कर्म का प्रेरक है। वस्तुतः कर्म-प्रेरणा के आधार पर ही आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। जिस प्रकार रथ की गति से उसके संचालक सारथी का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार शरीर, इन्द्रियादि की गति से उनके प्रेरक आत्मा का अनुमान किया जाता है। कर्म-प्रेरणा के साथ साथ चैतन्य भी शरीरादि से आत्मा के भेद का चिह्न है। मृत देहों में व्यभिचार के कारण चैतन्य शरीर आदि का गुण नहीं है। किन्तु यह चैतन्य आत्मा का नित्य स्वरूप नहीं, आगन्तुक गुण मात्र है। आत्मा का चैतन्य केवल संसृति-व्यापी है;

अपवर्ग अथवा मोक्ष की अवस्था में आत्मा का चैतन्य विलीन हो जाता है। मुक्त आत्मा चैतन्य-विहीन है। मोक्ष में आत्मा का जड़ तत्व से विवेचक गुण क्या है, यह विचारणीय है।

(२) *शरीर*—आत्मा भोग और ज्ञान का अधिकरण है। वह उपभोक्ता और ज्ञाता है। शरीर उसका भोगायतन है। वह चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय है। ईप्सित पदार्थ को प्राप्त करने तथा त्याज्य से बचने की सक्रिय कामना चेष्टा रूप से शरीर में ही प्रवर्तित होती है। इन्द्रियाँ भी शरीर में ही आश्रित रहती हैं। शरीर के स्वस्थ रहने पर वे स्वस्थ रहती हैं; उसके उपहत होने पर वे उपहत हो जाती हैं। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के उत्पन्न सुख-दुःख का संवेदन भी शरीर में ही होता है। अतः वह इन (अर्थों) का भी आश्रय है।

(३) *इन्द्रिय*—इन्द्रियाँ भोग और ज्ञान के साधन हैं। घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र भेद से इन्द्रियाँ पाँच हैं। इनके द्वारा क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द का ग्रहण होता है। इसके अतिरिक्त पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी हैं।

(४) *अर्थ*—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द जो पृथ्वी आदि के गुण हैं इन्द्रियों के अर्थ अथवा विषय हैं। भौतिक वस्तुओं का ग्रहण और ज्ञान इन गुणों के ही रूप में होता है।

(५) *बुद्धि*—उपलब्धि अथवा ज्ञान का ही नाम बुद्धि है। ज्ञान आत्मा का धर्म और लक्षण है। साथ ही वह ज्ञान का विषय भी है। ज्ञान के विषय भूत इस ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं।

(६) *मन*—भारतीय दर्शन में मन की कल्पना अद्‌भुत है। मन एक भौतिक तत्व है और आकार में अणु है। अणु होने के कारण एक काल में एक इन्द्रिय के साथ ही उसका सन्निकर्ष होता है और इसी कारण आत्मा के सामान्यतः विभु और व्यापक होने पर भी उसमें एक काल में एक ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह युगपत्

(एक साथ) ज्ञान की अनुत्पत्ति ही मन का लिंग है। एक साथ अनेक ज्ञानों के ग्रहण की प्रतीति मन की तीव्र गति के कारण होती है।

(७) *प्रवृत्ति*—मन, वाणी और शरीर का संचालन ही प्रवृत्ति है। अस्तु आत्मा की प्रेरणा से होने वाली विचार, वचन और कर्म की चेष्टाएं प्रवृति के प्रमुख रूप हैं।

(८) दोष—प्रवृत्ति के हेतु को दोष कहते हैं। दोष में राग और द्वेष दोनों ही सम्मिलित होते हैं। आत्मा के शुद्ध निष्क्रिय रूप को विकार-ग्रस्त करने के कारण राग-द्वेष दोष माने गये हैं। समस्त प्रवृत्ति राग-द्वेष-मूलक ही है। राग और द्वेष मनुष्य की सब चेष्टाओं की मूल प्रेरणायें हैं।

(९) *प्रेत्यभाव*—मरण के अनन्तर आत्मा का अन्य देह धारण कर उत्पन्न होना अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण करना प्रेत्यभाव कहलाता है। यह पुनर्जन्म प्रवृत्ति अथवा कर्म का फल है। जन्म-मरण की यह परम्परा अनादि है, यद्यपि अनन्त नहीं। इसके आदि की व्याख्या नहीं की जा सकती; किन्तु अपवर्ग (मोक्ष) में इसका अन्त सम्भव है।

(१०) *फल*—प्रवृत्ति तथा दोष से उत्पन्न होने वाला अर्थ फल है। राग-द्वेष रूप दोष से प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति का फल जन्म का भोग है। यह फल संवेदन रूप होता है।

(११) *दुःख*—संवेदन का स्वरूप दुःख है। न्याय के अनुसार समस्त संवेदन दुःख रूप हैं। इसीलिए आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति-रूप अपवर्ग को आत्मा की चैतन्य-रहित अथवा संवेदन-हीन अवस्था माना गया है। सुख का भी दुःख में ही अन्तर्भाव है, क्योंकि परिणाम में सुख भी दुःख ही है।

(१२) *अपवर्ग*—उस दुःख से अत्यन्त विमुक्ति का नाम अपवर्ग है। यह अपवर्ग नितान्त संवेदनहीन है और संवेदन-हीन होने के कारण ही दुःख-विमुक्ति है।

(१३) ईश्वर—न्याय एक ईश्वरवादी दर्शन है। न्याय की ईश्वर विषयक कल्पना योग की अपेक्षा विकसित है। न्याय का ईश्वर योग के पुरुष-विशेष की भाँति जगत का निरपेक्ष द्रष्टा मात्र नहीं वरन् वह जगत् का स्रष्टा है। वह सर्वज्ञ ही नहीं, सर्वशक्तिमान् भी है। अपने अनन्त ज्ञान और शक्ति से वह जगत् की सृष्टि और विश्व का शासन करता है। किन्तु ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं। जगत् का उपादान कारण पञ्चमहाभूत अथवा उनके परमाणु है। वैशेषिक दर्शन की भाँति परमाणु-वाद न्याय की जगत् विषयक कल्पना का भी आधार है। ये परमाणु स्वरूप से अतीन्द्रिय और क्रियाहीन हैं। निष्क्रिय परमाणु स्वतः संचरित होकर सृष्टि-क्रम का आरम्भ नहीं कर सकते। ईश्वर निष्क्रिय परमाणुओं में क्रिया का संचार कर सृष्टि का आरम्भ करता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर विश्व का नियन्ता है। वह अपने अनन्त ज्ञान और शक्ति से अनन्त जीवों के अनन्त अदृष्ट, फलादि के आधार पर जीवों के जन्म-जन्मान्तर की व्यवस्था करता है।

न्याय मुख्यतः एक प्रमाण-शास्त्र है, अतः उसमें ईश्वर की सिद्धि के भी प्रमाण देने की चेष्टा की गई है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान के आधार पर 'जगत् के प्रत्येक कार्य पदार्थ का एक कर्ता है, जगत् भी एक महान् कार्य है, अतः उसका भी एक कर्ता होना चाहिए।' जिस प्रकार कुम्भकार घट का निर्माण-कर्ता है उसी प्रकार ईश्वर जगत् का कर्त्ता अथवा रचयिता है। दूसरे, संसार के जीवों के अदृष्ट, फलादि के अनुरूप जन्म-जन्मान्तर की व्यवस्था करने वाला एक शासक भी जगत् के कर्ता की भांति ही अपेक्षित है। अनन्त ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही इस अनन्त रहस्यों से पूर्ण जगत् की सृष्टि तथा अनन्त जीवों के अनन्त अदृष्ट, फलादि पर आश्रित संसार का शासन कर सकता है। न्याय कुसुमाञ्जलि-कार ने सृजन के साथ-साथ ईश्वर को जगत् की धृति और

उसके विनाश का कारण भी माना है। ईश्वर ही जगत् की सृष्टि करता है, वही उसका धारण भी करता है और अन्त में वही उसके प्रलय का भी कारण है। इसके अतिरिक्त योग के समान न्याय में भी ईश्वर को प्रथम गुरु अथवा परम गुरु माना गया है। जगत् के आदि प्रवर्तक होने के साथ-साथ ईश्वर अखिल ज्ञान और समस्त कलाओं का भी प्रथम प्रवर्तक है। नित्य होने के कारण उसका ज्ञान अनादि तथा समस्त उत्तर ज्ञान का आधार है। इन बौद्धिक प्रमाणों के अतिरिक्त श्रुति ईश्वर की सत्ता का सबसे प्रबल प्रमाण है। श्रुति ईश्वर का वचन है, अतः वह सदा सत्य है। श्रुति में ईश्वर का उल्लेख है अतः ईश्वर की सत्ता माननीय है। इस तर्क में एक अन्योन्याश्रय-सा प्रतीत होता है, किन्तु श्रुति और ईश्वर दोनों के नित्य और अनादि होने के कारण यह अनिवार्य है।

जगत् का स्रष्टा और विश्व का नियन्ता होने के साथ-साथ ईश्वर अपवर्ग अथवा मोक्ष का भी उत्तम साधन है। यद्यपि न्याय-सूत्र में तत्व-ज्ञान को ही निःश्रेयस रूप मोक्ष का मुख्य साधन माना गया है, आगे चल कर न्याय-दर्शन में मोक्ष के साधनों में ईश्वर की उपासना को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उत्तर न्याय में सूक्ष्म तर्क रूपों का जितना विकास हुआ है उतना ही ईश्वर की उपासना का महत्व भी बढ़ता गया है, यह एक अनोखी बात है। उत्तर न्याय के सभी ग्रन्थ ईश्वर की कवित्वपूर्ण वन्दना से आरम्भ होते हैं। उदयनाचार्य की 'न्याय कुसुमाञ्जलि' का मुख्य विषय ईश्वर प्रतिपादन ही है। उन्होंने ईश्वर की उपासना को स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति का साधन माना है।

४—मोक्ष मीमांसा

यद्यपि न्याय दर्शन मुख्य-रूप से एक प्रमाण-शास्त्र है, अन्य दर्शनों की भांति न्याय में भी निःश्रेयस को जीवन का परमार्थ माना

गया है। यह निःश्रेयस ही न्याय का अपवर्ग अथवा मोक्ष है। इस अपवर्ग का लक्षण आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति है। यह दुःख-निवृत्ति ही जीवन का परम प्रयोजन है। न्याय दर्शन के अनुसार जीवन सर्वतः दुःख-पूर्ण है। जगत् में सुख की जो क्षणिक प्रतीति होती है उसका परिणाम भी अन्त में दुःख ही होता है। जीवन और जगत् का यह दुःख एक प्रकार से अनादि और अनन्त है। क्योंकि जन्म-परम्परा अनादि और अनन्त है तथा जन्म का लक्षण ही दुःख है। जीवन का स्वरूप कर्म और उसका लक्षण प्रवृत्ति है। नैतिक नियम के अनुसार कर्म का फल होता है इस फल के भोग के लिए जीव को निरन्तर जन्म-परम्परा में संसरण करना पड़ता है। जन्म-चक्र की मूल-भूत कर्म-प्रवृत्ति की प्रेरणा हमारे स्वाभाविक राग और द्वेष में है। राग-द्वेष हमारे स्वभाव के दोष हैं; हमारे सभी कर्म इनसे प्रेरित होते हैं। राग और द्वेष का मूल अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान में है। अज्ञान के कारण ही स्वरूप से निष्क्रिय आत्मा अपने को कर्ता मानती है। कर्तृत्व के अहंकार का फल भोक्तृत्व है जो जन्म-परम्परा में सम्पन्न होता है। अस्तु अज्ञान हमारे बन्धन और दुःख का मूल कारण है। मिथ्या-ज्ञान रूप अज्ञान का निवारण तत्व-ज्ञान से ही हो सकता है। प्रथम **न्याय सूत्र** में ही तत्व-ज्ञान को निःश्रेयस का कारण बताया गया है। बन्धन-शृंखला की प्रथम कड़ी के भंग होने पर सम्पूर्ण शृंखला ही भंग हो जाती है। कारण के नष्ट होने पर कार्य भी नष्ट हो जाता है। अज्ञान के दूर होने पर उसके परिणाम-भूत कार्य उत्तरोत्तर उच्छिन्न होते जाते हैं। मिथ्या-ज्ञान के दूर होने पर आत्मा का राग-द्वेष-रूप दोष नष्ट होता है। राग-द्वेष ही कर्म की प्रेरणा है। अतः उनके उच्छिन्न होने पर प्रवृत्ति का अन्त हो जाता है। कर्म-रूप प्रवृत्ति का अन्त होने पर उसका फल-रूप जन्म भी नहीं होता; जन्म के अभाव में दुःख का भी अभाव हो जाता है। इस प्रकार तत्व-ज्ञान का अन्तिम परिणाम दुःख-निवृत्ति होता है। यह दुःख-निवृत्ति ही न्याय का निःश्रेयस अथवा अपवर्ग है।

यह अपवर्ग आत्मा की निष्क्रिय अथवा चैतन्य-हीन अवस्था है। अस्तु, एक प्रकार से अपवर्ग लौकिक जीवन का आध्यात्मिक अनुभव में उत्कर्ष नहीं वरन् उसका अन्त है। लोक-जीवन का स्वरूप कर्म और चेतना है। न्याय के अपवर्ग में दोनों का अन्त हो जाता है। न्याय के अनुसार चैतन्य आत्मा का नित्य गुण नहीं है। कर्म अज्ञान-मूलक है और जन्मान्तर तथा दुःख का कारण है। अस्तु अपवर्ग में आत्मा के कर्तृत्व और ज्ञातृत्व दोनों का अन्त हो जाता है। कदाचित् न्याय के अनुसार चैतन्य का साक्षित्व भी दुःख का कारण होगा, इसीलिए न्याय में सांख्य के विपरीत कर्तृत्व के साथ-साथ चेतना का अभाव भी अपवर्ग में अभीष्ट माना गया है। प्राचीन-न्याय में तत्व-ज्ञान को ही अपवर्ग का मुख्य साधन माना गया है। किन्तु उत्तर न्याय में ईश्वर की उपासना को भी अपवर्ग-साधना में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। तत्व-ज्ञान के लिए आत्म-संस्कार अपेक्षित है। अतः **न्याय सूत्र** में यम, नियमादि का अवलम्ब लेने का स्पष्ट शब्दों में आदेश किया गया है। अस्तु न्याय की मोक्ष-साधना में ज्ञान, भक्ति और योग तीनों का सामंजस्य किया गया है। जीवन चेतनापूर्ण है, अतः न्याय का यह अचेतन अपवर्ग मृत्यु के अनन्तर ही सम्भव है। न्याय का अपवर्ग विदेह-मुक्ति है; जीवन्मुक्ति की कल्पना न्याय-मत के अनुकूल संगत नहीं है।

अध्याय ३

वैशेषिक दर्शन

१—परिचय

वैशेषिक दर्शन न्याय का समान-तन्त्र माना जाता है। यद्यपि न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शनों का आरम्भ स्वतन्त्र सम्प्रदायों के रूप में हुआ था, उनके मूल सिद्धान्तों में बहुत कुछ समानता होने के कारण आगे चल कर वे दोनों एक सामान्य दर्शन सम्प्रदाय के रूप में समन्वित हो गये। दोनों सम्प्रदायों के संस्थापक दो पृथक्-पृथक् ऋषि थे और दोनों के स्वतन्त्र सूत्र ग्रन्थ पाए जाते हैं। किन्तु आगे चल कर गंगा-यमुना की धाराओं की भाँति एक ही विचार-भूमि पर दोनों का विकास समान दिशा में हुआ और अन्त में दोनों धाराओं के संगम से न्याय-वैशेषिक का एक सामान्य सम्प्रदाय निर्मित हुआ। न्याय दर्शन प्रधानतः एक प्रमाण-शास्त्र है। अतः इस समन्वित दर्शन में ज्ञान-मीमांसा अधिकांश न्याय से ग्रहण की गई है। वैशेषिक दर्शन में तत्व-मीमांसा प्रधान है, वही इस सामान्य सम्प्रदाय का भी आधार है। निःश्रेयस की कल्पना दोनों सम्प्रदायों में मिलती है और दोनों की वह कल्पना एक ही है। दोनों के अनुसार निःश्रेयस का लक्षण आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति है। इस दुःख विमोक्ष-रूप अपवर्ग का साधन दोनों में समान रूप से तत्व-ज्ञान माना गया है। प्रमाण-शास्त्र का विवेचन और तत्व-मीमांसा न्याय दर्शन के प्रसंग में पर्याप्त रूप से की जा चुकी है; अतः यहाँ उसकी आवृत्ति अनावश्यक है। प्रमाण-शास्त्र के विषय में इतना जान लेना आवश्यक है कि प्राचीन वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माने गये हैं, उपमान, शब्द आदि अन्य प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव माना गया

है। किन्तु न्याय-वैशेषिक के समन्वित सम्प्रदाय में न्याय-मत के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाण माने गये हैं। तत्व-मीमांसा के विषय में कोई भेद नहीं है। जीव, जगत् और ईश्वर तीनों ही चरम सत्ताएँ हैं। जगत् भौतिक परमाणुओं से निर्मित है। यह परमाणु-वाद वैशेषिक दर्शन की विशेषता है। परमाणु को 'विशेष' कहते हैं इसी आधार पर इस दर्शन को 'वैशेषिक' संज्ञा है। परमाणु जड़ और अचल हैं। ईश्वर सर्व प्रथम परमाणुओं का आयोजन कर सृष्टि-क्रम का आरम्भ करता है। वह सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान तथा जगत् का स्रष्टा और विश्व का नियन्ता है। जीव का लक्षण चैतन्य है। किन्तु यह चैतन्य आत्मा का नित्य गुण नहीं है। अपवर्ग की अवस्था में इसका अभाव हो जाता है। अपवर्ग में दुःख की हानि ही नहीं, चेतना का भी विलय हो जाता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार यह दुःख-निवृत्ति-रूप अपवर्ग ही जीवन का परमार्थ है। न्याय और वैशेषिक दोनों ही सम्प्रदायों में तत्व-ज्ञान अपवर्ग का साधन है। यह तत्व-ज्ञान पदार्थों के स्वरूप-ज्ञान तथा विवेक से उदय होता है। न्याय सूत्र में ये पदार्थ १६ माने गये हैं। उनका निरूपण पीछे हो चुका है। वैशेषिक सूत्र में पदार्थों के सात विभाग किये हैं। न्याय के १६ पदार्थों में कई पदार्थ 'प्रमाण' के अन्तर्गत ही माने जा सकते हैं। भाष्यकार के अनुसार आन्वीक्षिकी (न्याय विद्या) को अध्यात्म-विद्या से पृथक् करने के लिए उसके पृथक् प्रस्थान-भूत संशय आदि पदार्थों का पृथक् वचन और विवेचन किया गया है। किन्तु आगे चल कर वैशेषिक का सप्तविध पदार्थ विभाजन अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ। अतः न्याय-वैशेषिक के समन्वित सम्प्रदाय में न्याय के षोडश पदार्थों का परित्याग कर वैशेषिक के अनुसार सप्त पदार्थों का अंगीकरण किया गया। यह सप्तविध पदार्थ-विभाजन वैशेषिक दर्शन का सर्वस्व है। वैशेषिक के विशेष रूप के उद्घाटन के लिए सप्त पदार्थों की मीमांसा पर्याप्त है।

२—पदार्थ मीमांसा

वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत सात पदार्थ इस प्रकार हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय और (७) अभाव। विश्व की समस्त भौतिक और मानसिक सत्ताएँ इन सात पदार्थों के ही अन्तर्गत हैं।

(१) *द्रव्य-निरूपण*—जो क्रिया-गुण-वान् है और जो वस्तुओं का समवायी (उपादान) कारण है उसे 'द्रव्य' कहते हैं। द्रव्य कर्म और गुण का आश्रय है तथा वस्तुओं का उपादान कारण है। द्रव्यों की संख्या नौ है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। 'पृथ्वी' रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणों से युक्त द्रव्य है। गन्ध पृथ्वी का विशेष गुण है। 'जल' रूप, रस और स्पर्श गुणों से युक्त द्रव्य है। रस जल का विशेष गुण है। रूप और स्पर्श गुणों से युक्त द्रव्य का नाम 'तेज' है। रूप तेज का विशेष गुण है। वायु स्पर्शवान् द्रव्य है। पृथ्वी, जल और तेज की भाँति वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। वायु का स्पर्श प्रत्यक्ष होता है तथा पत्रादि की गति से उसका अनुमान होता है। शब्द गुण से युक्त द्रव्य 'आकाश' है। शब्द आकाश का विशेष गुण है। आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता। शब्द से आकाश का अनुमान किया जाता है। भूत, वर्तमान और भविष्यत् के व्यवहार का हेतु 'काल' है। प्राची, प्रतीची आदि के व्यवहार का हेतु 'दिक्' है। ज्ञान, भावना और कर्म का आश्रय 'आत्मा' है। वैशेषिक दर्शन में न्याय के अभिमत सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि आत्मा के लिंग माने गये हैं; किन्तु इनके साथ साथ प्राणापान, निमेषोन्मेष, जीवन, मनोगति आदि की भी आत्मा के लिंगो में गणना की गई है। इससे प्रतीत होता है कि वैशेषिक की आत्मा मानसिक जीवन के साथ-साथ भौतिक जीवन का भी आश्रय है। ज्ञान, भावना और कर्म के आश्रय होने के साथ-साथ वह जीवन-तत्व भी है। सुखादि की उपलब्धि का साधन 'मन' है। सुखादि

आन्तरिक विषयों का ज्ञान बाह्य इन्द्रियों के द्वारा सम्भव नहीं है। जिस अन्तरिन्द्रिय के द्वारा यह ज्ञान होता है उसे 'मन' कहते हैं। इसी-लिए मन की 'अन्तःकरण' संज्ञा है।

उक्त नौ द्रव्यों में प्रथम चार द्रव्य अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज और वायु दो प्रकार के होते हैं, नित्य और अनित्य। ये चारों द्रव्य परमाणु रूप में नित्य हैं तथा स्थूल कार्य रूप में अनित्य हैं। कार्य परमाणुओं का संघात है। उसका क्षय और विलय होता है, वही उसके संघात रूप का विनाश है। परमाणु अविभाज्य अतः अक्षय है। इसलिए परमाणु रूप द्रव्य नित्य है। आकाश, काल और दिक् ये तीन पदार्थ विभु और नित्य हैं, क्योंकि ये अविभाज्य और अखण्ड हैं। यद्यपि आकाश, काल आदि का घटाकाश, मठाकाश आदि रूप में तथा काल का क्षण, दिवस, मास, वर्षादि रूप में विभाजित प्रयोग होता है, किन्तु यह व्यावहारिक उपचार मात्र है, वास्तविक नहीं। वस्तुतः आकाश, काल और दिक् एक-एक और अखण्ड हैं; अखण्ड होने के कारण नित्य, और सर्वव्यापक होने के कारण 'विभु' है। आत्मा यद्यपि नित्य और विभु है, किन्तु वह एक नहीं, अनेक हैं। आत्मा के दो प्रकार हैं—जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा तो एक ही है। किन्तु जीवात्मा अनेक हैं। सांख्य के पुरुष के बहुत्व के जो कारण हैं वे ही जीवन, मरण, व्यवहार और मोक्ष विषयक कारण वैशेषिक की जीवात्मा के अनेकत्व के भी हैं। प्रत्येक शरीर में एक आत्मा है, यद्यपि वह विभु और नित्य है। यह आत्मा ज्ञान, भावना तथा कर्म का आश्रय है, साथ ही जीवन-तत्व भी है। जीवन और बन्धन काल में चैतन्य आत्मा का लक्षण है, किन्तु अपवर्ग में चैतन्य का विलय हो जाता है। मन स्वरूप से भौतिक और आकार में अणु है। अणु होने के कारण नित्य है किन्तु अणुत्व के कारण अव्यापक भी है। प्रत्येक शरीर में एक मन है' जो इन्द्रियों के साथ क्रमशः आत्मा का सन्निकर्ष स्थापित कर अयुगपद् ज्ञान-व्यक्तियों के उद्भव का साधन होता है।

(२) *गुण-निरूपण*—द्रव्य में आश्रित रहने वाला, स्वयं गुण-रहित तथा संयोग विभाग में निरपेक्ष रूप से अकारण-भूत पदार्थ 'गुण' है। गुण द्रव्य में आश्रित रहता है। द्रव्य से पृथक् उसका अस्तित्व असम्भव और अकल्पनीय है। गुण स्वयं अन्य गुण का आश्रय नहीं हो सकता, अन्यथा वह द्रव्य से अविवेच्य होगा। गुण स्वतन्त्र रूप से संयोग और विभाग का कारण नहीं हो सकता, यद्यपि कर्म के साथ सापेक्ष रूप से वह उनका कारण हो सकता है। वैशेषिक दर्शन में २४ गुणों की गणना की गई है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। चक्षुरिन्द्रिय मात्र से ग्राह्य गुण का नाम 'रूप' है। वह शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र भेद से सात प्रकार का होता है; तथा पृथ्वी, जल और तेज में आश्रित होता है। रसना से ग्राह्य गुण का नाम 'रस' है। वह मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त भेद से छः प्रकार का होता है; तथा पृथ्वी और जल में आश्रित होता है। घ्राण से ग्राह्य गुण 'गन्ध' है। गन्ध दो प्रकार की होती है—सुरभि और असुरभि; तथा केवल पृथ्वी का गुण है। त्वगिन्द्रिय मात्र से ग्राह्य गुण 'स्पर्श' है। वह तीन प्रकार का होता है—शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत; तथा पृथ्वी, जल, तेज और वायु में व्याप्त रहता है। एकत्व आदि का व्यवहार हेतु गुण 'संख्या' है। वह सभी द्रव्यों में व्याप्त रहता है। मान के व्यवहार का असाधारण कारण 'परिमाण' है। वह सभी द्रव्यों में रहता है और चार प्रकार का है—अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व। वस्तुओं के पृथक् पृथक् व्यवहार का असाधारण कारण 'पृथक्त्व' है। वह सब द्रव्यों में व्याप्त है। वस्तुओं के संयुक्त व्यवहार का हेतु 'संयोग' है; वह सभी द्रव्यों में व्याप्त है। संयोग का नाशक गुण 'विभाग' है। वह सभी द्रव्यों में व्याप्त है। पर और अपर के असाधारण कारण 'परत्व' और 'अपरत्व' हैं। ये पृथ्वी, जल,

तेज, वायु और मन में रहते हैं। ये दिक् और काल सम्बन्ध से दो प्रकार के हैं। प्रथम पतन का असमवायी कारण 'गुरुत्व' है। यह पृथ्वी और जल में रहता है। प्रथम स्रवण का असमवायी कारण 'द्रवत्व' है। यह पृथ्वी, जल और तेज में रहता है। यह दो प्रकार का है—सांसिद्धिक और नैमित्तिक-सांसिद्धिक द्रवत्व जल में रहता है और नैमित्तिक पृथ्वी तथा तेज में। चूर्ण आदि के पिण्डी-भाव का हेतु-भूत गुण 'स्नेह' कहलाता है। यह केवल जल में रहता है। श्रोत्र से ग्राह्य गुण 'शब्द' है। वह केवल आकाश में रहता है। जीवन के समस्त व्यवहार का हेतु-भूत गुण 'बुद्धि' है। बुद्धि का अर्थ ज्ञान है। बुद्धि गुण के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शन में ज्ञान-मीमांसा और प्रमाण-निरूपण किया जाता है। सामान्यतः न्याय के समान होने के कारण इसकी यहाँ आवृत्ति अपेक्षित नहीं। अनुकूल अनुभव का नाम 'सुख' है और प्रतिकूल अनुभव का नाम 'दुःख' है। 'इच्छा' का अर्थ कामना है। 'द्वेष' का अर्थ क्रोध है। 'प्रयत्न' क्रिया की चेष्टा है। सुख और दुःख का परिणाम राग-द्वेष होते हैं जो कामना के मूल बनकर प्रयत्न की प्रेरणा बनते हैं। शास्त्र में विहित कर्म से उत्पन्न होने वाला फल 'धर्म' है और शास्त्र में निषिद्ध कर्म से उत्पन्न होने वाला फल 'अधर्म' है। बुद्धि से लेकर अधर्म तक के आठ गुण केवल आत्मा के विशेष गुण हैं। 'संस्कार' तीन प्रकार का होता है—वेग, भावना और स्थिति-स्थापक। वेग का संस्कार पृथ्वी, जल, वायु, तेज और मन में रहता है। अनुभव से उत्पन्न और स्मृति का कारण भावना-संस्कार है। भावना केवल आत्मा में रहती है। किसी वस्तु को अपनी पूर्वावस्था में लाने वाला संस्कार 'स्थिति-स्थापक' कहलाता है। यह पार्थिव द्रव्यों में रहता है।

(३) *कर्म-निरूपण*— एक द्रव्य में रहने वाला, स्वयं गुण-रहित तथा संयोग-विभाग में निरपेक्ष कारण-भूत पदार्थ 'कर्म' है। एक कर्म एक ही द्रव्य में रहता है। कर्म स्वयं गुण-हीन है अर्थात् उसमें ऊपर

वर्णित २४ गुणों का अभाव है। गुण के विपरीत कर्म स्वतन्त्र रूप से संयोग और विभाग का कारण हो सकता है। कर्म पांच प्रकार का होता है—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। ऊर्ध्व देश से संयोग का हेतु 'उत्क्षेपण' है। अधोदेश से संयोग का हेतु 'अपक्षेपण' है। शरीर के निकटतर संयोग का हेतु 'आकुञ्चन' है। शरीर से दूरतर संयोग का कारण 'प्रसारण' है। इसके अतिरिक्त अन्य सब कर्म 'गमन' के अन्तर्गत है। ये पाँचों प्रकार के कर्म केवल मूर्त और मित द्रव्यों में रहते हैं। अतः आकाश, काल, दिक और आत्मा में कर्म सम्भव नहीं है। कर्म सामान्यतः गति है। इस गति का अर्थ एक द्रव्य का जहां उसकी सत्ता है उस स्थान से अन्य स्थान की ओर सञ्चरण है जहाँ उसका अभाव है। मूर्त पदार्थ परिमित होने के कारण सर्व व्यापक नहीं होते, अतः भाव-देश से अभाव-देश की ओर उनकी गति सम्भव है। आकाशादि विभु द्रव्यों के सर्व व्यापक होने के कारण उनकी गति सम्भव नहीं है। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ वे व्याप्त न हों और जहाँ की ओर उनके गमन की कल्पना की जाय।

(४) *सामान्य निरूपण*—नित्य, एक और अनेकानुगत पदार्थ का नाम 'सामान्य' है। अनेक व्यक्तियां में अनुगत एक सामान्य तत्व ही 'सामान्य' है; यथा—अनेक मनुष्यों में अनुगत 'मनुष्यत्व'। सामान्य एक नित्य तत्व है, क्योंकि इसका नाश नहीं होता। अनन्त मनुष्यों का जन्म-मरण होता है, किन्तु मनुष्यत्व सदा अक्षुण्ण रहता है। व्यक्तियों के विनाश से सामान्य का नाश नहीं होता। न्याय के समान वैशेषिक दर्शन में भी सामान्य की स्वतन्त्र और वास्तविक सत्ता मानी गई है। सामान्य एक शब्द अथवा कल्पना मात्र नहीं है, वरन् वह एक वास्तविक पदार्थ है। जिस प्रकार मनुष्य की सत्ता है उसी प्रकाश मनुष्यत्व का भी स्वतन्त्र अस्तित्व है, यद्यपि मनुष्यत्व सामान्य का ज्ञान मनुष्य व्यक्ति के ज्ञान के साथ ही होता है। पर, परम्पर और अपर भेद से सामान्य तीन प्रकार का होता है। उच्चतम

सामान्य 'पर' है। पर सामान्य केवल 'सत्ता' है। 'अपर' सामान्य घटत्वादि है। मध्यवर्ती सामान्य 'परापर' कहलाते हैं। व्याप्ति भेद से वे सापेक्ष रूप से पर तथा अपर हो सकते हैं। सामान्य पदार्थ केवल द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है।

(५) *विशेष-निरूपण*—परमाणु-रूप नित्य-द्रव्यों में रहने वाला परमाणुओं और पदार्थों का व्यावर्तक अर्थात् उनको पृथक् करने वाला पदार्थ 'विशेष' कहलाता है। इस विशेष पदार्थ की महत्ता के कारण वैशेषिक दर्शन का यह नाम-करण हुआ। परमाणु तथा मन, आत्मा आदि नित्य द्रव्य अनन्त हैं। अतः विशेष भी अनन्त हैं। विशेष पदार्थ सामान्य का अत्यन्त विपरीत है। सामान्य जितना व्यापक है, विशेष उतना ही सीमित है। सामान्य अनेकानुगत है और विशेष एक व्यक्ति विशेष में सीमित है, चाहे वह व्यक्ति परमाणु हो अथवा आत्मा अथवा मन। अस्तु, व्यक्तियों का व्यावर्तक विशेष लक्षण ही 'विशेष' है। प्रत्येक परमाणु स्वरूप से भिन्न है। भिन्न परमाणुओं से निर्मित होने के कारण हो विविध पदार्थ एक दूसरे से भिन्न हैं। आत्मा, आकाश आदि अविभाज्य और परमाणुहीन पदार्थों में भी विशेष पदार्थ व्याप्त है। उस विशेष पदार्थ के कारण ही एक आत्मा दूसरी आत्मा से भिन्न है और आकाश अन्य द्रव्यों से भिन्न है। अस्तु, विशेष स्वजातीय और विजातीय द्रव्यों से व्यावर्तन का हेतु है।

आत्मा, आकाश आदि नित्य द्रव्यों के अतिरिक्त परमाणु विशेष का मुख्य आश्रय है। परमाणुओं में भेद के कारण ही जगत् के भौतिक पदार्थों में भेद है। परमाणु-वाद वैशेषिक का एक मुख्य सिद्धान्त है। भौलिक पदार्थ मूर्त और संघात रूप है। अतः वे विभाज्य हैं। संघातों के इस विभाजन प्रसंग में दो ही विकल्प हैं। यह विभाजन क्रम अनन्त हो सकता है अथवा सान्त। विभाजन परम्परा के अनन्त होने पर अनवस्था के दोष की आपत्ति होती है; दूसरे प्रत्येक वस्तु के समान रूप से अनन्त विभाग युक्त होने के कारण राई और पर्वत की

समानता का दोष उपस्थित होता है। अतः इस विभाजन-परम्परा को सान्त मानना ही अधिक संगत है। इसके सान्त मानने पर जिस अल्पतम खण्ड से इस परम्परा का अन्त होता है उसे 'परमाणु' कहते हैं। परमाणु विभाजन-परम्परा की अवधि है। अतः वह अविभाज्य है और अविभाज्य होने के कारण नित्य है। पृथ्वी, जल, वायु और तेज चार ही द्रव्य मूर्त तथा विभाज्य हैं, अतः इन्हीं के परमाणु होते हैं। इन चार द्रव्यों के परमाणुओं से भौतिक सृष्टि होती है। परमाणु जड़ और स्वतः गति-हीन हैं। ईश्वर निश्चेष्ट परमाणुओं का संयोजन कर सृष्टि का आरम्भ करता है। दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक बनता है। परमाणु और द्वयणुक दोनों ही अदृश्य और अतीन्द्रिय हैं। तीन द्वयणुकों के संयोग से त्रसरेणु बनता है जो अल्पतम मूर्त और दृश्य परिमाण है। त्रसरेणुओं के संयोग से स्थूल और भूत पदार्थों का निर्माण होता है। त्रसरेणु का आकार सूर्य की किरण में उड़ते हुए रेणु-कण के बराबर माना जाता है। वह अल्पमम दृश्य तत्व है।

(६) *समवाय-निरूपण*—नित्य सम्बन्ध का नाम 'समवाय' है। 'संयोग' से तुलना कर समवाय का अर्थ समझा जा सकता है। संयोग एक बाह्य और आगन्तुक सम्बन्ध है। एक काल विशेष में कर्म द्वारा दो पृथक् भूत पदार्थों का संयोग होता है। इस संयोग का आरम्भ है, अतः इसका अन्त भी है। सान्त होने के कारण संयोग अनित्य सम्बन्ध है। इसके विपरीत समवाय अनादि और अनन्त सम्बन्ध है। किसी काल विशेष में उसका आरम्भ नहीं होता, अतः उसका अन्त भी अकल्पनीय है। वह सर्वदा वर्त्तमान सम्बन्ध है, अतः नित्य है। समवाय उन दो पदार्थों का सम्बन्ध है जिसमें एक की सत्ता पर ही अन्य की स्थिति सम्भव है तथा जिनमें एक के बिना दूसरे की स्थिति और कल्पना असम्भव है। अवयव और अवयवी, द्रव्य और गुण, क्रिया और गुण, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्य-द्रव्य का सम्बन्ध 'समवाय' है।

(७) *अभाव निरूपण*—उक्त छः पदार्थ भावात्मक हैं। द्रव्य, गुण, कर्म आदि का निरूपण उनकी सत्ता के सम्बन्ध में किया गया है। अभाव एक निषेधात्मक कोटि है, उसका सम्बन्ध असत्ता से है। जिस प्रकार वस्तुओं का सत्ता का निरूपण किया जाता है उसी प्रकार उनकी असत्ता का निरूपण भी सम्भव है। 'भूमि में घट वर्तमान है' इसमें हमें घट की सत्ता का ज्ञान होता है। उसी प्रकार 'भूमि में घट नहीं है' इसमें हमें घट की असत्ता अथवा उसके अभाव का ज्ञान भी होता है। यह अभाव चार प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। उत्पत्ति के पूर्व कार्य-वस्तु का अभाव 'प्रागभाव' है। यह अनादि और सान्त है। उत्पन्न वस्तु के विनाश के अनन्तर उसका अभाव 'प्रध्वंसाभाव' है। यह सादि और अनन्त है। वस्तु का त्रैकालिक अभाव 'अत्यन्ताभाव' है। यह अनादि और अनन्त है। एक वस्तु में दूसरी का अभाव 'अन्योन्याभाव' है। यह भी अनादि और अनन्त है।

भाग ६

विचार और विश्वास का समाधान

(सांख्य और योग दर्शन)

अध्याय १

सांख्य-योग

१—प्रस्तावना

भारतीय परम्परा में धर्म और दर्शन का समन्वय आरम्भ से ही रहा है। वेद हमारे धार्मिक विश्वास के आधार और दार्शनिक विचार के मूल स्रोत हैं। जैन और बौद्ध धर्मों की क्रान्ति भी हमारे विचार-जगत और विश्वास-लोक दोनों में हलचल उत्पन्न करने वाली क्रान्ति थी। पुराण, महाभारत आदि स्मृति-साहित्य के रूप में वैदिक धर्म का एक लोकानुकूल संस्करण उपस्थित कर वैदिक परम्परा के प्रतिष्ठापकों ने लोक के 'विश्वास का समाधान' किया। मनीषी मुनियों ने न्याय और वैशेषिक का विकास कर 'विचार का समाधान' करने का भी प्रयत्न किया। स्मृति साहित्य ने लोक की धार्मिक रुचि का रंजन किया; न्याय-वैशेषिक ने मनीषियों की दार्शनिक जिज्ञासा का समाधान किया। किन्तु वैदिक परम्परा की वास्तविक रक्षा के लिए धर्म और दर्शन के एक समन्वित रूप में उसका संस्करण अपेक्षित था। इस समन्वय का स्पष्ट रूप तो पूर्व और उत्तर मीमांसाओं के आविर्भाव में ही दृष्टिगोचर होता है। किन्तु इसकी एक महत्वपूर्ण पीठिका हमें सांख्य-योग के रूप में मिलती है। सांख्य न तो स्मृति धर्म की भाँति कोरे लोक-विश्वास का विषय है और न वह न्याय-वैशेषिक की भांति केवल बौद्धिक विवेचन है। वह एक अध्यात्म-दर्शन है। योग उसका व्यावहारिक पूरक है। अस्तु सांख्य-योग में हमें प्राचीन विचार और विश्वास के समन्वित समाधान का पूर्व-रूप मिलता है। सांख्य-योग के रूप में **'विचार और विश्वास के समाधान'** के इस पूर्व प्रयास का निरूपण भाग ६ का विषय है।

सांख्य-योग न्याय-वैशेषिक की भांति केवल बौद्धिक दर्शन नहीं है। तर्क और न्याय पर आश्रित होने पर भी उसके तत्व हमारी आस्था का अवलम्बन रहे हैं। सांख्य के निरीश्वर तथा योग में ईश्वर के गौण होने के कारण सांख्य-योग यद्यपि स्पष्टतः धर्म का रूप ग्रहण न कर सका, तो भी उसका आध्यात्मिक रूप भारतीय धर्मों को सदा प्रभावित करता रहा है। प्रकृति, पुरुष, त्रिगुण, सर्ग आदि की सांख्य कल्पनाएं और योग की साधन प्रक्रियाएं सभी मुख्य सम्प्रदायों में स्वीकृत तथा अन्तर्भूत हुई हैं।

सांख्य अत्यन्त प्राचीन मत है। योग की क्रियाओं का संकेत भी उपनिषदों में मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से कदाचित् सांख्य-योग के रूप में प्राचीन 'विचार और विश्वास का समाधान' स्मृति साहित्य के 'विश्वास-समाधान' और न्याय-वैशेषिक के 'विचार-समाधान' से पूर्ववर्ती प्रयास है। यह सम्भव है कि वैदिक परम्परा में धर्म और दर्शन का समन्वय होने के कारण विचार और विश्वास के समन्वित समाधान के रूप में ही वैदिक परम्परा के संरक्षण का प्रयास पहले आरम्भ हुआ हो। किन्तु क्रान्ति काल की अव्यवस्था के कारण इस समन्वित प्रयास के स्वरूप और सफलता तत्काल में स्पष्ट लक्षित न हो सके हों, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। महाभारत और पुराणों में सांख्य-योग के उल्लेख से उनकी पूर्ववर्तिता प्रमाणित होती है। वेदान्त सूत्र में भी सांख्य-योग का खण्डन है। किन्तु लोक-जीवन में विश्वास का अधिक महत्व होने के कारण लोक-धर्म के रूप में वैदिक परम्परा के संरक्षण का प्रयास स्मार्त साहित्य की विशाल सृष्टि कर प्राथमिकता के महत्व का भागी हुआ। मनीषियों को अधिक प्रभावित करने के कारण न्याय-वैशेषिक की परम्परा भी बौद्धिक समाज में प्रतिष्ठित हुई। सांख्य-योग न स्पष्टतः बौद्धिक था और न पूर्णतः लौकिक, यद्यपि उसमें दोनों के तत्वों का पर्याप्त समन्वय था। अतः वह न लोक के विश्वास का भाजन बन सका और न मनीषियों के

सन्तोष का विषय। सांख्य की परम्परा के विच्छिन्न और विलुप्त होने का कदाचित यही कारण हो। सांख्य की निरीश्वरवादिता भी उसके लोक-प्रिय होने में बाधक रही हो, यह सम्भव है। योग में ईश्वर की कल्पना अधूरी रहने के कारण सांख्य-योग का समन्वित सम्प्रदाय भी अधिक प्रचलित न हो सका। सांख्य के उपयोगी तत्व तथा योग की साधना-विधियाँ अनेक दर्शनों में अन्तर्भूत करली गईं। व्यावहारिक उपयोग के कारण योग का महत्व सदा मान्य रहा है। अस्तु, स्मृति-धर्म के 'विश्वास-समाधान' और न्याय-वैशेषिक दर्शन के 'विचार-समाधान' के पश्चात ही सांख्य-योग के रूप में 'विचार और विश्वास के समन्वित समाधान' का स्वरूप स्पष्ट हो सका। किन्तु जहां सांख्य-योग में विचार और विश्वास के तत्वों का समन्वय है वहाँ उन तत्वों की अपूर्णता और अपर्याप्ति के कारण यह प्रयास अधूरा ही रहा। उपयोगी होने के कारण अन्य सम्प्रदायों ने इन तत्वों का अन्तर्भाव कर लिया, किन्तु सांख्य-योग वैदिक परम्परा के संरक्षण की सीमा और उसके प्रतिष्ठापन का पर्यवसान न बन सका। जैन और बौद्ध धर्मों के उदय से उत्पन्न क्रान्ति के विरुद्ध वैदिक परम्परा के रक्षण के क्रमिक प्रयास का वास्तविक पर्यवसान पूर्व और उत्तर मीमांसाओं के आविर्भाव में हुआ।

२—परिचय, परम्परा और साहित्य

क्रान्ति की परिस्थितियों और बुद्धि की भेद-मुखी वृत्ति के कारण विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय हुआ। किन्तु भेद मात्र बुद्धि के स्वरूप का सर्वस्व नहीं है। यद्यपि भावना के इतना साम्य बुद्धि के प्रयासों में सम्भव नहीं है, फिर भी एकत्व की खोज ही भावना की भाँति विचार का भी चरम लक्ष्य है। अस्तु, दो विचारकों का दृष्टि-कोण भी समान हो सकता है। विश्व-चिन्तन के इतिहास में ऐसा अनेक बार हुआ है। भारतीय चिन्तन में सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक के

सिद्धान्तों का साम्य इसी विचार-साम्य का सूचक है। साम्य के कारण इन दर्शन-युग्मों का विवेचन एक साथ किया जाता है। यद्यपि सांख्य और योग के प्रवर्तक और उनकी परम्पराएं भिन्न-भिन्न हैं किन्तु उनके दार्शनिक सिद्धान्तों में बड़ा साम्य है। वस्तुतः एक ईश्वर की कल्पना को छोड़ कर यगो का तत्व-दर्शन सांख्य के बिल्कुल समान है। अतः योग को सेश्वर सांख्य कहा जाता है। एक प्रकार से योग सांख्य का व्यावहारिक पूरक है। इसी साम्य के आधार पर १६वीं शताब्दी में विज्ञान भिक्षु ने सांख्य और योग का समन्वय करने का प्रयास किया था।

ऐतिहासिक दृष्टि से सांख्य दर्शनों में बहुत प्राचीन और महत्व-पूर्ण है। श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्य का इतना महत्व इसका प्रमाण है। बादरायण ने अपने **वेदान्त सूत्र** में भी खण्डन के लिए अनेक मतों में सांख्य को प्रमुखता दी है। सांख्य की प्राचीन परम्परा का लोप भी उसकी प्राचीनता की ओर संकेत करता है। सभी दर्शनों के मूल ग्रन्थ 'सूत्र' माने जाते हैं। परम्परा के अनुसार सांख्य सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक महामुनि कपिल हैं और उनका **सांख्य-प्रवचन सूत्र** इस दर्शन का मूल ग्रन्थ है। एक दूसरा ग्रन्थ **तत्व-समास** भी कपिल कृत माना जाता है। आधुनिक विद्वानों को इस परम्परा के सत्य में संदेह है। कहा जाता है कि सांख्य का मूल ग्रन्थ **सांख्य-सूत्र** था। किसी प्रकार उसका लोप हो जाने के कारण शिष्यों के अनुरोध से मुनिवर कपिल ने मूल सांख्य सूत्र का पुनः **प्रवचन** किया जो **सांख्य-प्रवचन-सूत्र** के रूप में उपलब्ध है। **तत्व-समास** सांख्य के तत्वों का संक्षेप में वर्णन है। सांख्य सम्प्रदाय की उक्त परम्परा-श्रुति मूल **सांख्य-सूत्र** के लोप को प्रमाणित करती है तथा वर्तमान, रूप में उपलब्ध **सांख्य-प्रवचन सूत्र** एक अर्वाचीन कृति है, विद्वानों के इस आग्रह का समर्थन करती है। विज्ञान भिक्षु (१६वां शताब्दी) के पूर्व इस सूत्र का कोई भाष्य भी उपलब्ध नहीं होता और शंकराचार्य (८वीं

शताब्दी) तक इस ग्रन्थ के सूत्रों का कोई उल्लेख और प्रसंग प्राप्त नहीं होता। आधुनिक विद्वान इसे १४वीं शताब्दी की कृति मानते हैं। यह सम्भव है कि वर्तमान **सांख्य-प्रवचन-सूत्र** में कुछ प्राचीन और मूल सूत्र भी हों, किन्तु इसका वर्तमान रूप निस्संदेह एक अर्वाचीन कृति है। कपिल के शिष्य आसुरि की भी कोई रचना उपलब्ध नहीं होती। ईश्वरकृष्ण कृत **सांख्य-कारिका** के उपसंहार से विदित होता है कि आसुरि के शिष्य पञ्चशिख ने सांख्य दर्शन को एक व्यवस्थित रूप दिया था। प्रसिद्ध **षष्टितन्त्र** इन्हीं पञ्चशिख की रचना कही जाती है, यद्यपि इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। सांख्य दर्शन का सब से प्रसिद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण कृत **सांख्य-कारिका** है। शंकराचार्य ने **सांख्य-कारिका** को उद्धृत किया है और परमार्थ नामक एक बौद्ध भिक्षु ने ६ठी शताब्दी में चीनी भाषा में इसका अनुवाद किया था। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि **सांख्य-कारिका** ईसा की पहली और पाँचवीं शताब्दी के बीच की रचना है। **सांख्य-कारिका** सांख्य सम्प्रदाय का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है; अतः इसके ऊपर अनेक टीकाएं हुई हैं। ७० सुन्दर आर्याओं में समस्त सांख्य दर्शन का सार इसमें संग्रहीत है। इसकी टीकाओं में **माठर-वृत्ति** सबसे प्राचीन मानी जाती है। गौडपाद (८वीं शताब्दी) का प्रसिद्ध **कारिका-भाष्य** इसी **माठर-वृत्ति** पर आश्रित माना जाता है। वाचस्पति मिश्र (९वीं शताब्दी) विरचित **सांख्य-तत्व-कौमुदी** अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण टीका है। अर्वाचीन ग्रन्थों में अनिरुद्ध (१५ वीं शताब्दी) कृत **सांख्य-वृत्ति** और विज्ञान भिक्षु (१६ वीं शताब्दी) कृत **सांख्य-प्रवचन-भाष्य** महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। विज्ञान भिक्षु का **सांख्य-सार** सरल और संक्षिप्त रूप में सांख्य के तत्वों का संग्रह है।

योग सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुनिवर पतञ्जलि माने जाते हैं। उनका **योग-सूत्र** योग दर्शन का मूल ग्रन्थ है। **योग-सूत्र** के विषय में

सांख्य-प्रवचन-सूत्र के जैसी परम्परायें और सन्देह नहीं हैं। योग सूत्र दार्शनिक सूत्रों में आकार में सबसे लघु, रचना में सबसे स्पष्ट और शैली में सबसे सरल है। लगभग २०० सूत्रों में समस्त योग दर्शन का सार इसमें संग्रहीत है। सरल और संक्षिप्त होने के कारण योग सूत्र बड़ा लोकप्रिय ग्रन्थ है। योग सूत्र में चार अध्याय हैं जो **पाद** कहलाते हैं। पहला पाद 'समाधि पाद' कहलाता है; इसमें समाधि के स्वरूप और लक्ष्य का निर्देश किया गया है। दूसरा पाद 'साधन पाद' कहलाता है। इसमें योग के साधनों का निरूपण है। तीसरा पाद 'विभूति पाद' कहलाता है। इसमें योग-प्रक्रिया में प्राप्त होने वाली अद्भुत शक्तियों का वर्णन है। चौथा पाद 'कैवल्य पाद' कहलाता है। इसमें कैवल्य अथवा मोक्ष के स्वरूप का वर्णन है। योग सूत्र पर व्यास (४थी शताब्दी) विरचित प्रसिद्ध **भाष्य** है। व्यास-भाष्य पर वाचस्पति मिश्र (९वीं शताब्दी) की **तत्त्व-वैशारदी** नामक विख्यात टीका है। विज्ञान भिक्षु (१६वीं शताब्दी) कृत **योग-वार्तिक** योग दर्शन का एक महान् और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। उनका **योग-सार-संग्रह सांख्य-सार** की भांति ही योग दर्शन का एक सरल और संक्षिप्त ग्रन्थ है।

प्रकृति, पुरुष और मोक्ष—इन तीन शब्दों में सांख्य-योग दर्शन का संकेत किया जा सकता है। सांख्य-योग के अनुसार प्रकृति और पुरुष दो चरम और स्वतन्त्र सत्तायें हैं। प्रकृति जड़ है और सृष्टि का मूल कारण है। पुरुष चेतन है और स्वरूपतः निर्लिप्त है। अज्ञानवश वह कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव से अभिभूत हो कर देह-बन्धन और जन्म-परम्परा के पाश में आबद्ध होता है। प्रकृति तथा देहादि भौतिक उपकरणों से अपने स्वरूप का विवेक कर पुरुष कैवल्य रूप मोक्ष की प्राप्ति करता है। इस विवेकपूर्वक मोक्ष का साधन ज्ञान है। योग में इस ज्ञान प्राप्ति के विविध व्यावहारिक साधनों का निरूपण किया गया है।

अध्याय २

सांख्य दर्शन

१—ज्ञान मीमांसा

सांख्य दर्शन मुख्यतः एक आध्यात्मिक दर्शन है। इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष दो चरम सत्ताएँ हैं। अज्ञान के कारण जन्म-परम्परा के चक्र में आबद्ध पुरुष अथवा आत्मा का मोक्ष ही परमार्थ है। किन्तु प्रकृति और पुरुष इन दो मूल तत्वों को सिद्ध करने के लिए सांख्य दर्शन में प्रमाणों का अवलम्बन किया गया है। बुद्धि और विचार की दृष्टि से एक दर्शन सम्प्रदाय को स्वीकार्य और मान्य रूप देने के लिए तर्क और प्रमाण का आश्रय आवश्यक है। सांख्य ज्ञान-शास्त्र में तीन प्रमाण माने गये हैं—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम।

(१) *प्रत्यक्ष*—विषयों के साथ इन्द्रियों के साक्षात् सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—निर्विकल्पक और सविकल्पक। विषय के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष के प्रथम क्षण में जो वस्तु की सत्ता मात्र का अवभास होता है उसे 'निर्विकल्पक' ज्ञान कहते हैं। गुणादि से सम्पन्न वस्तु के निरूपण से युक्त ज्ञान 'सविकल्पक' ज्ञान कहलाता है। प्रत्येक ज्ञान के प्रसंग में सविकल्पक ज्ञान के पूर्व निर्विकल्पक ज्ञान होता है।

(२) *अनुमान*—ज्ञात विषय के आधार पर अज्ञात विषय संबन्धी निष्कर्ष 'अनुमान' कहलाता है। अनेक बार 'धूम' के साथ अग्नि का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर फिर कभी केवल धूम-दर्शन से जब हम अग्नि की उपस्थिति का निश्चय करते हैं तो हमारा यह ज्ञान 'अनुमान' है। अनुमान दो प्रकार का होता है—वीत और अवीत।

विधेयात्मक अनुमान को 'वीत' कहते हैं और निषेधात्मक अनुमान को 'अवीत'। वीत अनुमान के भी दो भेद हैं—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्टि। पूर्व अनुभव में धूम के साथ अग्नि की व्याप्ति के प्रत्यक्ष के आधार पर दृष्ट धूम से अदृष्ट अग्नि का अनुमान 'पूर्ववत्' अनुमान है। साधारण साम्य के अनुभव पर आश्रित अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहलाता है। इसमें पूर्ववत् अनुमान के समान पूर्ण व्याप्ति का आधार नहीं होता। हम अपनी आंख को देख नहीं सकते। सभी कर्मों का एक करण होता है। इस साम्य के आधार पर दर्शन (देखना) का भी एक करण है जिसे चक्षु कहते हैं। यह अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान है। सांख्य का अवीत अनुमान नैयायिकों का 'शेषवत्' अनुमान है। इसमें निषेध के द्वारा किसी अज्ञात विषय की सिद्धि की जाती है। यथा—शब्द द्रव्य, कर्म आदि नहीं हैं, अतः शब्द गुण है।

(३) *आगम*—आप्त वचन को आगम कहते हैं। सत्य के ज्ञाता और वक्ता को 'आप्त' कहते हैं। सांख्य दर्शन का आगम प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान से नितान्त भिन्न एक स्वतन्त्र प्रमाण है। वह प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान का एक विश्वसनीय व्यक्ति द्वारा निर्वचन नहीं है वरन् वह एक अतीन्द्रिय ज्ञान का साधन है जो अन्य साधनों (प्रत्यक्ष और अनुमान) द्वारा प्राप्य नहीं। इस दृष्टि से सांख्य का आगम प्रमाण न्याय के शब्द प्रमाण से भिन्न है, जिसमें प्रत्यक्ष आदि द्वारा प्राप्य ज्ञान का आप्त पुरुष के द्वारा निर्वचन भी सम्मिलित है।

२—तत्व-मीमांसा

जिस प्रकार सांख्य का ज्ञान-शास्त्र चार्वाक मत के ज्ञान-शास्त्र से विकसित है—(इसमें प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान और आगम को भी प्रमाण माना गया है) उसी प्रकार सांख्य का तत्व-शास्त्र भी

चार्वाक तत्व-शास्त्र से विकसित है। चार्वाक तत्व-शास्त्र एक जड़ एकत्ववाद है। उसमें केवल भूत पदार्थ को सत्य माना गया है। सांख्य तत्व-शास्त्र एक द्वैत-वाद है। इसके अनुसार एक नहीं वरन् दो चरम और स्वतन्त्र तत्व हैं। इन दो चरम तत्वों को सांख्य दर्शन में 'प्रकृति' और 'पुरुष' कहा जाता है। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। प्रकृति सत्व, रजस् और तमस् तीन गुणों से युक्त है, तथा पुरुष त्रिगुणातीत है। प्रकृति अविवेकिनी है, चेतना के अभाव के कारण उसमें विवेक की शक्ति नहीं है। पुरुष चेतन होने के कारण विवेक में समर्थ है। जड़ होने के कारण प्रकृति विषय-भूत है। पुरुष चेतन होने के कारण ज्ञान का विषयी हो सकता है। प्रकृति एक और सामान्य है, पुरुष अनेक हैं। प्रकृति प्रसवधर्मिणी है, उसमे विश्व के अखिल भूत-पदार्थों की उत्पत्ति होती है। पुरुष न किसी का कार्य है, न किसी का कारण। निष्क्रियता प्रकृति और पुरुष दोनों का समान लक्षण है। चैतन्य क्रिया का दिग्दर्शक है और भावना उसकी प्रेरणा। प्रकृति जड़ है। चैतन्य का अभाव होने के कारण वह गति में अक्षम है। पुरुष केवल दृक्शक्ति है। वह साक्षी मात्र है। उसकी चेतना भावना से रहित है अतः वह प्रेरणा के अभाव से पंगु और क्रिया में असमर्थ है। सृष्टि-क्रिया का आरम्भ इन दो निष्क्रिय तत्वों के संयोग से होता है। यह सांख्य दर्शन का एक विचित्र सिद्धान्त है।

(१) पुरुष की सिद्धि, स्वरूप और संख्या—

सांख्य का पुरुष अन्य दर्शनों की आत्मा का समानार्थक है। आत्मा की भांति वह चैतन्य तत्व है। उसका प्रत्यक्-दर्शन ही सम्भव है, फिर भी बुद्धिवादियों के संतोष के लिए उसे प्रमेय मान कर प्रमाणों द्वारा उसकी सिद्धि की गई है। पुरुष एक प्रकार से अतीन्द्रिय तत्व है, अतः उसकी सिद्धि का सबसे प्रबल प्रमाण आगम है। श्रुति में पुरुष के अस्तित्व का निर्देश है अतः उसकी सत्ता असन्दिग्ध है।

पुरुष के आगम-सिद्ध होने पर भी तार्किकों के संतोष के लिए सांख्य मत में उसकी सिद्धि के लिए कुशल युक्तियाँ दी गई हैं। ये पाँच युक्तियां इस प्रकार हैं—

पहली युक्ति—संसार के सभी पदार्थ गुणों के संघात मात्र है और उनका अस्तित्व परार्थ है अर्थात् किसी अन्य के उपयोग के लिए इन संघात रूप जड़ पदार्थों का उपयोक्ता चेतन पुरुष है।

दूसरी युक्ति—सभी ज्ञेय पदार्थ तीन गुणों के संघात से निर्मित हैं किन्तु इनसे भिन्न किसी ज्ञाता के बिना इनकी सत्ता, स्वरूप और निर्माण का ज्ञान सम्भव नहीं है। पुरुष इन त्रिगुणात्मक पदार्थों से भिन्न और त्रिगुण से अतीत उनका ज्ञाता है।

तीसरी युक्ति—विश्व की व्यवस्था और जीवन की प्रक्रिया किसी चैतन्य तत्व के अधिष्ठान के बिना सम्भव नहीं। गुण होने के कारण सुख, दुःख आदि का अनुभव भी बिना किसी अधिष्ठान के असम्भव है। अतः विश्व-व्यवस्था, जीवन-प्रक्रिया और सुख-दुःख के अनुभव का अधिष्ठाता पुरुष है।

चौथी युक्ति—संसार के सभी पदार्थ सुख-दुःख के कारण हैं। अनुभव रूप होने के कारण इन सुख-दुःख का कोई चेतन उपभोक्ता होना चाहिये। जन्म-जन्मान्तर में सुख-दुःख का उपभोग करने वाला चेतन पुरुष है।

पांचवी युक्ति—शास्त्रों द्वारा प्रमाणित तथा कभी-कभी साक्षात् अनुभव में प्रकट होने वाली कैवल्य की प्रवृत्ति भी पुरुष की सत्ता को सूचित करती है। कैवल्य की कामना और उसकी सफलता पुरुष की सत्ता के बिना निराधार है। यह चेतन पुरुष ही है जो मुक्ति की इच्छा और उसकी प्राप्ति का प्रयास करता है।

यह विचारणीय है कि उक्त पांच युक्तियों से जिस पुरुष की सिद्धि होती है वह शुद्ध, लभू और मुक्त पुरुष नहीं वरन् अज्ञानाविल, उपाधिग्रस्त और बद्ध पुरुष है। मूल पुरुष विशुद्ध चैतन्य मात्र है।

उसमें भावना की प्रेरणा के अभाव के कारण क्रिया की सम्भावना नहीं है। वह केवल साक्षी है, संघात पदार्थों का उपयोक्ता, सुख-दुःख का अधिष्ठाता और उपभोक्ता नहीं हैं। वस्तुतः वह विशुद्ध चैतन्य तत्व मात्र है। त्रिगुणादि पदार्थों का ज्ञाता तथा प्रमाता भी नहीं है। कैवल्य की कामना और मुक्ति का प्रयास करने वाला पुरुष भी अज्ञानोपाधिक है। मूल पुरुष निष्क्रिया, नित्य, सर्वज्ञ और सदामुक्त है।

सांख्य मत के अनुसार ये पुरुष संख्या में अनेक हैं। विषय भूत प्रकृति एक है किन्तु उसके विषयी द्रष्टा अनेक होते हैं। पुरुष के बहुत्व की सिद्धि के लिए सांख्य मत में निम्नलिखित युक्तियां दी गई हैं—

पहली युक्ति—विभिन्न पुरुषों के जन्म-मरण पृथक् पृथक् होते हैं। यदि जन्म-मरण पृथक् पृथक् न हों तो सब का जन्म-मरण एक साथ मानना होगा जो लोक के प्रत्यक्ष तथ्य के विपरीत है। अतः पुरुषों का अनेकत्व मानना पड़ेगा।

दूसरी युक्ति—विभिन्न पुरुषों की इन्द्रियों की गति भी पृथक् पृथक् होती है। यदि एक ही पुरुष हो तो सबकी इन्द्रिय-गति समान होगी। यह प्रत्यक्ष अनुभव के विपरीत है। अतः पुरुष अनेक हैं।

तीसरी युक्ति—विभिन्न पुरुषों में विभिन्न गुणों का प्राधान्य होता है। इसके अतिरिक्त देव, मनुष्य और पशु योनियों का विभाजन भी क्रमशः सत्व, रजस् और तमस् गुणों की प्रधानता के अनुसार है। एक ही पुरुष होने पर पुरुषों के स्वभावों का भेद और योनियों का विभाजन असम्भव होगा। अतः पुरुष अनेक हैं।

चौथी युक्ति—अतीत काल में कुछ पुरुषों द्वारा कैवल्य की प्राप्ति और वर्तमान में कुछ पुरुषों द्वारा मोक्ष का प्रयत्न तथा भविष्य में उनकी मुक्ति की सम्भावना भी पुरुषों के अनेकत्व को प्रमाणित करती है। एक पुरुष होने पर एक बार ही उसका मोक्ष सम्भव है। अतः पुरुष अनेक हैं।

(२) प्रकृति की सिद्धि, स्वरूप और संख्या—

प्रकृति पुरुष से भिन्न जड़ तत्व है। वस्तुतः जड़ तत्व की मूल कारणावस्था को प्रकृति कहते हैं। भूत तत्व की जिस मूल अवस्था से जगत के समस्त पदार्थों का आविर्भाव होता है उसी का नाम 'प्रकृति' है। सांख्य मत के अनुसार सृष्टि कोई नवीन सृजन नहीं है वरन् कारण-तत्व में अव्यक्त रूप से अन्तर्निहित पदार्थों का ही व्यक्तीकरण है। अतः प्रकृति की 'अव्यक्त' संज्ञा भी है। प्रकृति महान् सृष्टि का मूल स्रोत भी है अतः उसे 'प्रधान' भी कहते हैं। यह प्रकृति समस्त भूत पदार्थों का मूल कारण है। यह सत्व, रजस् और तमस् तीन गुणों से निर्मित है। प्रलय के पश्चात् तथा सर्ग के पूर्व की अवस्था में ये तीनों गुण साम्यावस्था में स्थित होते हैं। वस्तुतः सृष्टि के पूर्व इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। प्रकृति की सिद्धि के लिए सांख्य मत में निम्नलिखित युक्तियां दी गई हैं—

पहली युक्ति—जगत् के पदार्थ भिन्न भिन्न और परिमित हैं। उनके भेद से बहुत्व और बहुत्व से परिमितता उत्पन्न होती है। परिमित पदार्थ 'कार्य' होते हैं, वे स्वयं अपने अथवा समस्त पदार्थ जगत् के 'कारण' नहीं हो सकते। अतः उनका एक चरम और अपरिमित कारण होना चाहिये उस कारण का ही नाम 'प्रकृति' है।

दूसरी युक्ति—संसार के समस्त पदार्थों में एक समानता है कि वे समान रूप से प्रीति, अप्रीति और विषाद उत्पन्न करने में समर्थ हैं। इन तीन भावनाओं का मूल सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों में है। पदार्थों की यह समानता उनके एक त्रिगुणात्मक मूल कारण की ओर संकेत करती है। यह कारण 'प्रकृति' है।

तीसरी युक्ति—कार्य-कारण का सिद्धान्त जगत में सर्वत्र व्याप्त है। प्रत्येक कार्य का उद्गम एक कारण से होता है जिसमें उसे उत्पन्न करने की शक्ति निहित है। अतः समस्त विश्व का एक चरम कारण

होना चाहिये जिसमें अखिल पदार्थ-जात की सम्भावना निहित है। वह कारण 'प्रकृति' है।

चौथी युक्ति—जगत् में कार्य और कारण का विभाग स्पष्ट दिखाई देता है। कार्य और कारण में भेद । कार्य स्वयं अपना कारण नहीं हो सकता। प्रत्येक कार्य एक कारण की ओर संकेत करता है और वह कारण फिर एक अन्य कारण की ओर। इस प्रकार इस कार्य कारण परम्परा में अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होता है जिसका एक मात्र समाधान एक चरम कारण की कल्पना है। वह चरम कारण 'प्रकृति' है।

पांचवीं युक्ति—जगत् में एक प्रकार का एकत्व है जो एक सामान्य मूल कारण की ओर संकेत करता है। यह एकत्व कदाचित् कार्य के कारण में लय होने में प्रकट होता है। प्रलय काल में इस विश्व व्यापी एकत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, जब भूत पदार्थ तन्मात्राओं में, तन्मात्रादि अहंकार में और अहंकार महत् तत्व में विलय होने लगता है; अन्ततः अखिल जगत् एक मूल कारण में विलय हो जाता है। यह मूल कारण 'प्रकृति' है।

अस्तु, जगत् के भूत पदार्थों के अपरिमित, सामान्य और चरम कारण का नाम 'प्रकृति' है। किन्तु प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अर्थात् सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से निर्मित है। सांख्य के ये गुण द्रव्याश्रित 'लक्षण' मात्र नहीं है वरन् प्रकृति के अंगभूम तीन 'तत्व' हैं। अतएव न्याय गुण की परिभाषा के विपरीत इन गुणों के भी गुण अथवा लक्षण हैं। सत्व गुण शुक्ल वर्ण, लघु, प्रकाशक और सुखकर है तथा ज्ञानवर्धक है। रजोगुण रक्त वर्ण, चल, दुःखकर और क्रिया-प्रेरक है। तमोगुण कृष्ण वर्ण, गुरु, विषादोत्पादक, आवरणक तथा अज्ञान-कारक है। प्रकृति में भिन्न होते हुए भी इन गुणों में परस्पर संवर्ष के साथ साथ सहयोग भी है। जगत् के समस्त पदार्थ प्रकृति के इन्हीं तीन तत्वों से निर्मित हैं। इन गुणों में से किसी एक की प्रधानता के अनुसार

पदार्थों के सात्त्विक, राजस और तामस रूप का निर्णय होता है। गुणों का यह निरन्तर संघर्ष और सहयोग ही सृष्टि की प्रक्रिया है। प्रलय काल में साम्यावस्था में ही इस संघर्ष का समाधान होता है।

जगत् की मूल कारण-भूत यह अचेतन प्रकृति पुरुषों की भांति अनेक नहीं है, किन्तु एक है। पुरुष द्रष्टा है और प्रकृति उसके दर्शन का विषय है। सामान्य अनुभव में भी विषय पदार्थ एक और सामान्य होता है, यद्यपि उसके द्रष्टा अनेक हो सकते हैं। सांख्य दर्शन में पुरुष के संसर्ग से प्रकृति का परिणाम होता है। यह परिणाम ही सृष्टि की प्रक्रिया है। अनेक पुरुषों के संयोग से एक सामान्य सृष्टि कैसे होती है अथवा प्रत्येक पुरुष की सृष्टि भिन्न है, यह सांख्य दर्शन का एक विचारणीय प्रश्न है।

(३) सर्ग का कारण, प्रयोजन और क्रम

जगत् के चरम कारण-भूत प्रकृति तत्व से सृष्टि के समस्त पदार्थों का आविर्भाव होता है। सांख्य मत के अनुसार सर्ग पदार्थो का नूतन उत्पादन नहीं वरन् अव्यक्त रूप से प्रकृति तत्व में अन्तर्निहित पदार्थों का उद्भावन मात्र है। प्रकृति में अखिल विश्व के समस्त पदार्थ-जात की सम्भावना निहित है। सर्ग उस सम्भावना का व्यक्त अनुभवन मात्र है। यह प्रकृति जड़ और अचेतन है, सर्ग एक क्रिया है और चेतना के निर्देश के बिना क्रिया सम्भव नहीं है; अतः यह प्रश्न उठता है कि अचेतन प्रकृति की परिणाम-क्रिया—रूप सर्ग का प्रारम्भ कैसे होता है? सांख्य मत के अनुसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सर्ग का आरम्भ होता है। स्वरूप से मुक्त और राग-रहित चैतन्य-मय पुरुष कैसे प्रकृति के संयोग में आकर सृष्टि-क्रम के बन्धन में आबद्ध हो जाता है, इस प्रश्न के उत्तर में सांख्य दर्शन मौन है। किसी प्रकार अविद्या के वश होकर वह प्रकृति की ओर अभिमुख होता है और सर्ग का निमित्त कारण बनता है। चेतन पुरुष के संयोग से जड़ प्रकृति सचेतन-

सी होकर क्रिया-शील बन जाती है और इस क्रिया से जगत के पदार्थों की उत्पत्ति होती है। पुरुष के संयोग और दृष्टि से गुणों की साम्यावस्था भंग हो जाती है। इस वैषम्य का संघर्ष सर्ग-क्रम को गति देता है। भिन्न भिन्न गुणों के प्राधान्य से भिन्न भिन्न प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अस्तु प्रकृति और पुरुष का संयोग ही सर्ग के आरम्भ का कारण है।

यद्यपि प्रकृति और पुरुष के इस संयोग की घटना की व्याख्या सांख्य दर्शन में स्पष्ट नहीं की गई है, सर्ग के प्रयोजन के विषय में सांख्य का मत नितान्त निश्चित है। प्रकृति के परिणाम और सृष्टि का मुख्य प्रयोजन पुरुष का मोक्ष है। स्वरूप से मुक्त पुरुष के मोक्ष की अपेक्षा का प्रसंग कैसे उपस्थित होता है यह एक विचारणीय प्रश्न है। वस्तुतः प्रकृति के परिणाम और सर्ग का क्रम पुरुष का बन्धन है। कदाचित् बन्धन की वेदना और जन्म-चक्र की यातना के प्रति पुरुष को सचेतन कर उसे मोक्ष के हित प्रेरित करने के कारण इस सृष्टि-बन्धन का अंतिम प्रयोजन पुरुष का मोक्ष ही माना गया है।

प्रकृति के परिणाम और सृष्टि की प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार है—प्रकृति से प्रथम 'बुद्धि' की उत्पत्ति होती है। जड़ प्रकृति में उज्ज्वल सत्व गुण के प्राधान्य के कारण प्रकृति में पुरुष के चैतन्य का आभास होने के कारण प्रकृति के इस चैतन्य-कल्प परिणाम को बुद्धि कहते हैं। अचेतन प्रकृति का चेतनवदवभास सर्ग-क्रिया की महत्तम घटना है। अतः प्रकृति के प्रथम परिणाम बुद्धि को 'महत्' भी कहा गया है। इस महत्तत्व से 'अहंकार' की उत्पत्ति होती है। चेतन का द्वितीय चरण आत्म-चेतना है। इस अहंकार से १६ पदार्थों की उत्पत्ति होती है—१ मन, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियाँ और ५ तन्मात्रायें। इन ५ तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों का विकास होता है। तन्मात्रायें महाभूतों के सूक्ष्म और अतीन्द्रिय तत्व हैं। इन पञ्चभूतों से जगत् के समस्त स्थूल पदार्थ बनते हैं। प्रकृति और उसके परिणाम-भूत इन

तत्वों में पुरुष को मिलाकर सांख्य शास्त्र के तत्वों की संख्या २५ हो जाती है।

(४) सत्कार्य-वाद—

सांख्य मत में सृष्टि का मूल कारण प्रकृति है। सृष्टि कोई नवीन उत्पादन नहीं वरन् कारण में अन्तर्निहित सम्भावनाओं का कार्य रूप में उद्भावन मात्र है। सांख्य मत के अनुसार कारण-तत्व में कार्य पदार्थ अव्यक्त रूप से निहित रहता है। कारण-प्रक्रिया उस अव्यक्त पदार्थ की अभिव्यक्ति मात्र है। प्रकृति में जगत् के समस्त पदार्थों की अव्यक्तरूप से सत्ता रहने के कारण ही प्रकृति का नाम 'अव्यक्त' है। कारण में कार्य की अव्यक्तसत्ता का सिद्धांत सांख्य मत में 'सत्कार्य-वाद' कहलाता है। सत्कार्य-वाद के अनुसार कार्य 'सत्' है अर्थात् अव्यक्त रूप से कारण में उसकी सत्ता है। कारण-प्रक्रिया इस अव्यक्त सत्ता का व्यक्त रूप में उद्भावन मात्र है, किसी नवीन असत् पदार्थ की सृष्टि नहीं। सत्कार्य-वाद की सिद्धि के लिए सांख्य मत में निम्नलिखित युक्तियां दी गई हैं—

(१) जो असत् है अर्थात् सत्तावान् नहीं है उसकी उत्पत्ति असम्भव है। यदि कार्य असत् होता तो उसको उत्पत्ति न हो सकती। अतः कार्य 'सत्' है।

(२) कारण-प्रक्रिया में उपादान का ग्रहण आवश्यक है। कोई विशेष कार्य किसी विशेष उपादान (कारण पदार्थ) से ही उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि उसमें वह सत् अर्थात् वर्तमान् है।

(३) यदि असत् की उत्पत्ति सम्भव होती तथा उपादान का ग्रहण आवश्यक न होता तो सर्वत्र सब कार्यों की सम्भावना हो सकती जो प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है।

(४) शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। अर्थात् जिस कारण में कार्य की अव्यक्त सत्ता होती है उसी से उसकी अभिव्यक्ति सम्भव है।

(५) कार्य का रूप कारण के अनुरूप होता है, क्योंकि कारण में कार्य अव्यक्त रूप से वर्तमान (सत्) रहता है ।

परम्परा के अनुसार पञ्चशिखाचार्य ने सांख्य तन्त्र का प्रपञ्चीकरण किया था। पांच शिखाएं धारण करने के कारण कदाचित् इन आचार्य का नाम पञ्चशिखाचार्य पड़ा होगा। पाँच संख्या प्रिय होने के कारण कदाचित् ये पांच शिखायें धारण करते होंगे और पांच संख्या प्रिय होने के कारण ही इन्होंने पुरुष, प्रकृति और सत्कार्य-वाद तीनों की सिद्धि के लिये समान रूप से पांच पांच युक्तियां दी हैं।

३—आचार मीमांसा

सांख्य का आचार-शास्त्र भी बौद्ध आचार-शास्त्र की भांति एक एक प्रकार का दुःख-वाद है। बौद्ध मत की भांति सांख्य शास्त्र में भी जीवन और जगत् को दुःखमय माना गया है। संसार में जो सुख दिखाई देता है वह एक मिथ्या प्रतीति और मृग-तृष्णा है। अंत में उसका परिणाम दुःख ही होता है। इस दुःख की आत्यन्ति की निवृत्ति ही सांख्य आचार शास्त्र का चरम लक्ष्य है। यह आत्यन्ति की दुःख-निवृत्ति ही सांख्य का निःश्रेयस है। इसी का नाम कैवल्य अथवा मोक्ष है।

सांख्य मत के अनुसार दुःख तीन प्रकार के होते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। रोग, शोकादि जिन दुःखों का कारण हमारे भीतर होता है उन्हें 'आध्यात्मिक' दुःख कहते हैं। कण्टक, वन्य-जीव आदि के जिन दुःखों का कारण बाह्य और प्राकृतिक होता है उन्हें 'आधिभौतिक' दुःख कहते हैं। भूत, प्रेत, पिशाचादि के जिन दुःखों का कारण बाह्य और अतिप्राकृत होता है उन्हें 'आधिदैविक' दुःख कहते हैं।

इन तीनों प्रकार के दुःखों का कुछ काल के लिए निवारण चिकित्सा, यज्ञचर्या आदि के द्वारा सम्भव है, किन्तु समस्त दुःखों का

सर्वकाल के लिए आत्यन्तिक उच्छेद सहज सम्भव नहीं। इसके लिए दुःख के मर्म और उसके मूल कारण को समझना होगा। कारण के उच्छेद से ही कार्य का उच्छेद सम्भव है। सांख्य मत के अनुसार अविद्या अथवा अज्ञान दुःख का मूल कारण है। यद्यपि पुरुष अपने मूल रूप में शुद्ध चैतन्य मात्र है; वह निर्गुण, चेता, जगत् का निरपेक्ष साक्षी मात्र है; उसके शुद्ध चैतन्य में भावना के अभाव के कारण क्रिया का भी अभाव है; किन्तु किसी प्रकार यह शुद्ध और पूर्ण पुरुष अविद्या के वश होकर भावना से अभिभूत हो जाता है। प्रकृति के संयोग में वह अपने स्वरूप को भूल जाता है। भावना से अहंकार का उदय होता है। अहंकार की अभिव्यक्ति कर्तृत्व और भोक्तृत्व के रूप में होती है। साक्षी-चेता मात्र पुरुष अपने को कर्म का कर्ता मानने लगता है। कर्तृत्व का परिणाम भोक्तृत्व होता है। अपने को कर्ता मानने पर कर्म-फल के उत्तरदायित्व के कारण पुरुष को जन्म-जन्मांतर में दुःख-रूप कर्म-फल भोगना पड़ता है। इस जन्म-कर्म-परम्परा का निरन्तर चक्र ही पुरुष का बन्धन है। इस बन्धन से मुक्ति ही उसका मोक्ष अथवा कैवल्य है।

बन्धन और दुःख का कारण अविद्या है। अतः विद्या अथवा ज्ञान द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। ज्ञान का अर्थ स्वरूप का अनुभव है। पुरुष का अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना ही ज्ञान है। पुरुष का वास्तविक स्वरूप विशुद्ध राग-क्रिया-हीन चैतन्य है। शुद्ध पुरुष साक्षी मात्र है, कर्ता तथा भोक्ता नहीं। अपने इस शुद्ध साक्षी स्वरूप को पहचानने पर पुरुष का अहंकार नष्ट हो जाता है और वह अपने को कर्ता नहीं मानता। कर्तृत्व के नष्ट होने पर भोक्तृत्व भी नष्ट हो जाता है। जो अपने को कर्ता नहीं मानता वह जन्म-जन्मांतर में कर्म-फल का भागी नहीं है। इस प्रकार अपने शुद्ध साक्षी चैतन्य स्वरूप का अभिज्ञान होने पर पुरुष जन्म-कर्म-परम्परा के चक्र से मुक्त हो जाता है। जन्म-चक्र ही दुःख का कारण है। अतः उससे मुक्त होकर

वह दुःख से भी मुक्त हो जाता है। अपने शुद्ध केवल स्वरूप में स्थित होने के कारण यह मोक्ष की अवस्था कैवल्य कहलाती है। कैवल्य का यह कारण-भूत यह ज्ञान पुरुष का प्रकृति के स्वरूप से अपने स्वरूप का विवेक है। अतएव इस ज्ञान को 'विवेकख्याति' भी कहते हैं। प्रकृति से अपने स्वरूप का विवेक कर पुरुष अपने स्वरूप को पहचानता है। पुरुष को अपने स्वरूप का परिज्ञान कराके प्रकृति भी उसी प्रकार विलीन हो जाती है जिस प्रकार एक नर्तकी दर्शकों को अपनी कला का चमत्कार दिखाकर निवर्तित हो जाती है। प्रकृति के निवर्तित होने पर पुरुष अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में संस्थित हो जाता है। यही उसका कैवल्य है। यह कैवल्य जीवन काल में भी सम्भव है। जीवन काल में प्राप्य कैवल्य को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। प्रारब्ध कर्मों के क्षय के बाद देहपातान्तर जो मोक्ष होता है उसे 'विदेह मुक्ति' कहते हैं।

४—सांख्य और ईश्वर—

सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी कहा जाता है। यह सत्य है कि सांख्य शास्त्रों में कहीं भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की गई है। यद्यपि **सांख्य-कारिका** के प्रणेता का नाम ईश्वर कृष्ण है, उसमें कहीं भी ईश्वर के नाम का उल्लेख अथवा उसके अस्तित्व और स्वरूप का विवेचन नहीं किया गया है। ईश्वरवादी दर्शनों में ईश्वर को जगत् का स्रष्टा और विश्व का नियन्ता माना जाता है। सृष्टि के विषय में तो सांख्य का मत स्पष्ट है। अचेतन प्रकृति पुरुष के संयोग से स्वतः ही परिणमित होती है जैसे बछड़े के पोषण के लिए अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति होती है। अस्तु सृष्टि की योजना के लिए सांख्य को सर्वज्ञ ईश्वर की अपेक्षा नहीं है। अन्तिम कारिकाओं में प्रारब्ध कर्म के भोग के प्रसंग में चक्र का उपमान यही संकेत करता है कि मीमांसा के 'अदृष्ट' की भाँति सांख्य के कर्म की

गति भी ईश्वर-निरपेक्ष है। इस प्रकार सांख्यकारिका में ईश्वर के निर्देश का नितान्त अभाव होने के कारण ही यह परम्परा प्रचलित हुई कि सांख्य एक स्पष्ट रूप से निरीश्वरवादी दर्शन है। किन्तु १६वीं शताब्दी में सांख्य के विख्यात आचार्य विज्ञान भिक्षु ने सांख्य-योग के समन्वय के प्रसंग में यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि सांख्य निरीश्वरवादी नहीं है वरन् ईश्वर की सत्ता के विषय में केवल मौन है। **सांख्य-प्रवचन-सूत्र** के 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र के आधार पर उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया कि सांख्य शास्त्र में तर्क द्वारा ईश्वर की सिद्धि की सम्भावना को स्वीकृत नहीं किया गया है (असिद्धेः), किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर का अभाव है (न तु अभावात्)। तात्पर्य यह है कि सांख्य शास्त्र में ईश्वर की सत्ता का खण्डन और उसके अभाव का समर्थन नहीं किया गया है। अतः उसे निरीश्वर-वादी कहना उचित नहीं।

अध्याय ३

योग दर्शन

- सांख्य और योग

योग दर्शन एक प्रकार से सांख्य का व्यावहारिक पूरक है। यह व्यावहारिकता ही योग शास्त्र की विशेषता है। **योग सूत्र** का आरम्भ अन्य सूत्रों की भाँति 'जिज्ञासा' से नहीं वरन् 'अनुशासन' से होता है। एक ईश्वर के तत्व को छोड़ कर सांख्य और योग के अन्य दार्शनिक सिद्धान्त समान हैं। व्यावहारिक पक्ष की प्रधानता के कारण तथा समान-तन्त्र सांख्य में कृत उनके विवेचन की आवृत्ति अनावश्यक होने के कारण योग शास्त्र में ज्ञान-मीमांसा और तत्व-विवेचन को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। सांख्य-मत में स्वीकृत प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण योग में भी मान्य हैं। सांख्य के प्रकृति और पुरुष रूप दो चरम तत्व योग-तत्व-शास्त्र के भी आधार हैं। केवल तात्विक दृष्टि से समान पद वाले अनन्त पुरुषों के प्रजातन्त्र में एक 'पुरुष विशेष' को ईश्वर की संज्ञा दे दी गई है। ईश्वर के ही एक मात्र विशेषक तत्व होने के कारण दर्शन-परम्परा में प्रायः योग को 'सेश्वर सांख्य' कहा जाता है।

योग शास्त्र में जीवन का चरम लक्ष्य भी सांख्य के ही समान है। सांख्य में पुरुष के कैवल्य को परमार्थ माना गया है। यह कैवल्य-सिद्धि विवेक-ज्ञान द्वारा साध्य है और विवेक-ज्ञान का साधन तत्त्वाभ्यास है; परमार्थ प्राप्ति की व्यावहारिक प्रक्रिया का इतना भर संकेत सांख्यकारिका में मिलता है। कैवल्य-सिद्धि की कोई विस्तृत व्यावहारिक प्रणाली सांख्य शास्त्र में नहीं पाई जाती। योग दर्शन सांख्य के इस अभाव की पूर्ति करता है। उसका उद्देश्य

कैवल्य प्राप्ति की व्यावहारिक प्रणाली के विविध अंगों का विस्तृत निरूपण है। इस व्यावहारिक उपयोगिता के कारण योग दर्शन देश में बड़ा लोकप्रिय रहा है। प्रायः सभी दर्शन सम्प्रदायों ने अपेक्षानुसार योग को अपनी साधना का अंग बना लिया है।

२—योग का स्वरूप

'योग' पद का प्रयोग साध्य और साधन दोनों के अर्थ में होता है। साध्य के अर्थ में योग कैवल्य अथवा मोक्ष का समानार्थक है। साधन के अर्थ में योग का अभिप्राय साधना की उन विविध प्रक्रियाओं से है जिनके द्वारा कैवल्य रूप लक्ष्य की प्राप्ति होती है। इस उभय प्रयोग का कारण यह है कि भारतीय दर्शन में साध्य की प्राप्ति का एक मात्र उपाय उसका क्रमिक अभ्यास ही माना गया है। योग का साध्य-भूत कैवल्य जिस अवस्था में प्राप्त होता है उसे 'योग' अथवा 'समाधि' कहते हैं। **योग सूत्र** की परिभाषा के अनुसार समस्त चित्त-वृत्तियों के निरोध का नाम 'योग' है। चित्त प्रकृति का ही एक परिणाम है और सृष्टि-क्रम में सदा चञ्चल रहता है। लौकिक जीवन और अनुभव के प्रसंग में वह सदा नव नव पदार्थों का आकार ग्रहण करता रहता है। चित्त के इस विषयाकार रूप ग्रहण को ही 'वृत्ति' कहते हैं। वृत्तियों का निरन्तर क्रम ही हमारा जीवन है। कैवल्य अथवा योग की अवस्था में समस्त चित्त-वृत्तियों का पूर्ण समाधान हो जाता है इसीलिए उसे 'समाधि' भी कहते हैं। इस योग की अवस्था में चित्त वृत्तियों का पूर्ण निरोध अथवा समाधान होने पर द्रष्टा पुरुष समस्त विषय जगत् से पृथक् होकर तथा समस्त संसर्गों से मुक्त होकर अपने 'केवल चैतन्य स्वरूप' में स्थित हो जाता है इसीलिए इसे 'कैवल्य' कहते हैं। कैवल्यावस्था में पुरुष के शुद्ध साक्षी चैतन्य स्वरूप का किसी राग, क्रिया अथवा विषय-वृत्ति से विक्षेप नहीं होता। योग की अवस्था से भिन्न अन्य अवस्थाओं में

चित्त का वृत्तियों के साथ सारूप्य होता है अर्थात् वह विषयाकार वृत्तियों के समान रूप ग्रहण करता रहता है। ये चित्त वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। इन प्रमाणों की कल्पना योग शास्त्र में सांख्य के ही समान है। विपर्यय एक प्रकार का मिथ्या ज्ञान है जिसमें अतद्रूप अर्थात् अपने स्वरूप से विपरीत रूप से वस्तु या विषय का बोध होता है। यह अन्य दर्शनों के भ्रम या भ्रान्त ज्ञान के समान है जिसमें हम शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प देखते हैं। विकल्प एक प्रकार की वास्तविक आधार से शून्य कल्पना है। शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी ज्ञेय पदार्थ की सत्ता विकल्प ज्ञान में नहीं होता। वैषयिक ज्ञान के अभाव का प्रत्यय (ज्ञान) ही जिसका आलम्बन हो उस वृत्ति का नाम 'निद्रा' है। निद्रा में किसी विषय का ज्ञान नहीं होता किन्तु इस ज्ञानाभाव के ज्ञान की वृत्ति अवश्य रहती है. पूर्वानुभूत विषय का परकालिक ज्ञान 'स्मृति' है।

३—योग के भेद

योग की अवस्था में उक्त पांचों प्रकार की वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है और पुरुष अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इस कैवल्यावस्था की प्राप्ति के पूर्व चित्त की एकाग्रता आवश्यक है। साधारणतः चित्त विविध विषयों की वृत्तियों के क्रम में निरन्तर चञ्चल रहता है। चित्त की यह चञ्चल अवस्था समाधि के बिलकुल विपरीत है। चित्त की यह एकाग्रता विषय-संगत ही होती है अर्थात् किसी विषय पर केन्द्रीभूत होकर ही चित्त एकाग्र होता है। विविध विषयों के साथ निरन्तर तदाकार वृत्ति ग्रहण करने की चञ्चल प्रगति के स्थान पर किसी एक विषय की वृत्ति में चित्त की स्थिरता अपेक्षित होती है। स्थूल-सूक्ष्म-क्रम से विषय अनेक प्रकार के होते हैं। सूक्ष्मतम विषय की वृत्ति में स्थिति चित्त की उच्चतम एकाग्रता है।

इस एकाग्रता की अवस्था को भी 'समाधि' कहते हैं। विषय की वृत्ति रूप ज्ञान के शेष रह जाने के कारण इसे 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। परम समाधि में चित्त और उसकी वृत्ति का पूर्ण निरोध अथवा निलय हो जाता है, अतः वह पूर्णतः निर्विषय होती है। विषय और वृत्ति के ज्ञान से रहित होने के कारण इसे 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। अस्तु सामान्य अर्थ में समाधि दो प्रकार की होती है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात सविषय समाधि है और विषयों के स्थूल-सूक्ष्म-क्रम से वह चार प्रकार की होती है—सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित। महाभूतादि स्थूल विषय पर चित्त की एकाग्रता का नाम 'सवितर्क' समाधि है। तन्मात्रादि सूक्ष्म-विषयानुगत समाधि 'सविचार' कहलाती है। तन्मात्राओं से भी परे केवल इन्द्रियों के विषय रूप आलम्बन से युक्त समाधि को 'सानन्द' कहते हैं। कदाचित् स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकार के भूत विषयों के भार से मुक्त हो जाने के कारण इसमें आनन्द का उद्रेक होने लगता है इसीलिए इनका नाम 'सानन्द' है। एकात्मिका-संविद्-रूप अहंकार-विषयक समाधि 'सास्मित' कहलाती है। विषय रूप से इन्द्रियों के भी विलय हो जाने के कारण अहंकार की एकात्मिका संविद् में चित्त के लय होने पर समाधि का अनुभव केवल अस्मिता रूप में शेष रह जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि के विषयों का यह क्रम सांख्य के (तथा योग) के सर्ग-क्रम के विपरीत है। सर्ग के प्रतिलोम क्रम से समाधि का विकास होता है। इस क्रम के अनुकूल अहंकार के बाद 'महत्' तत्व में और उसके बाद 'प्रकृति' में चित्त-का लय होना चाहिये। यह स्पष्ट है कि अहंकार की अवस्था के बाद की इन दो अवस्थाओं की एकात्मिका रूप संविद् सम्भव नहीं होगी। फिर भी इन अवस्थाओं को नितान्त निर्विषय नहीं कहा जा सकता। महदाकार और प्रकृत्याकार वृत्ति भी सविषय ही है, यद्यपि यह विषयाकार वृत्ति आत्म-संविद्-रूप नहीं होती। यदि सम्प्रज्ञान का अर्थ आत्म-

चेतना है तो बुद्धि-लय और प्रकृति-लय की अवस्थाएं भी असम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत माननी होंगी। अतः असम्प्रज्ञान का अर्थ विषय-वृत्तिहीनता करना अधिक उचित है। अस्तु, नितान्त निर्विषय और आलंबन रहित समाधि का नाम 'असम्प्रज्ञात' समाधि है। इसमें समस्त वृत्तियों का पूर्ण विराम हो जाता है।

४—योग के साधन—

योग शास्त्र का मुख्य विषय योग अथवा समाधि के साधनों का निरूपण है। स्वभाव और क्षमता के भेद के कारण सभी साधकों के लिए समान साधन उपयुक्त नहीं हो सकते। साधक व्यक्ति की विशेषता को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति का साधन क्रम और साधना शैली भिन्न होगी। योग-सूत्र-कार ने समस्त साधन-निरूपण के बाद अपने अभिमत किसी भी विषय के ध्यान द्वारा समाधि साधन को स्वतन्त्रता देकर इस वैचिनय की संभावना को स्वीकार किया है। किन्तु शास्त्र में अनन्त साधन शैलियों का निरूपण सम्भव नहीं है। अतः योग-सूत्र में कुछ समान साधनों का ही निर्देश किया गया है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार योग सूत्र की साधन व्यवस्था अधिकारी भेद के अनुरूप है। क्षमता भेद से अधिकारियों के तीन प्रकार हैं—उत्तमाधिकारी, मध्यमाधिकारी और मन्दाधिकारी। अधिकारियों का यह विभाजन कदाचित् साधकों के गुणानुसार किया गया है। सत्वगुण के उत्कर्ष से युक्त प्रकृति वाला साधक 'उत्तमाधिकारी' है। सत्व के प्रकर्ष और सत्व के द्वारा रजस के अभिभूत रहने के कारण उत्तमाधिकारी के चित्त में सहज स्थिरता होती है और उसके लिए एकाग्रता तथा समाधि की सिद्धि सहज सम्भव होती है। उनके लिए चित्त-वृत्ति-निरोध-रूप योग की प्राप्ति के लिए केवल अभ्यास और वैराग्य ही अपेक्षित है। एक प्रकार से ये अभ्यास और वैराग्य सभी अधिकारियों के लिए सामान्य साधन हैं। किन्तु रजस् और तमस्

के विक्षेप के कारण अन्य अधिकारियों के लिए इनकी प्राप्ति के लिए भी अन्य साधन अपेक्षित हैं। रजोगुण रागात्मक है और राग क्रिया-प्रेरक है। किन्तु उत्तमाधिकारी के लिए रजस् के सत्व द्वारा अभिभूत रहने के कारण एकतत्वाभ्यास की स्थिरता और वैराग्य का वीतराग सहज सम्भव है। योग-सूत्र की परिभाषा के अनुसार चित्त की प्रशान्त-वाहिता स्थिति के लिए प्रयत्न 'अभ्यास' है। यह अभ्यास दीर्घ काल तक निरन्तर सेवन करने से दृढ़ होता है। स्त्री, वित्त, वैभव आदि दृष्ट (लौकिक) तथा स्वर्गादि आनुश्रविक (श्रुति-विहित और पारलौकिक) विषयों में तृष्णा-रहित वशीकार-भाव 'वैराग्य' है। उत्तमाधिकारियों के लिए अभ्यास-वैराग्य के साथ-साथ ईश्वर-प्रणिधान का भी विकल्प दिया गया है। किसी अन्य तत्व के अभ्यास तथा विषयों के वैराग्य द्वारा योग साधन न करके वे ईश्वर-प्रणिधान द्वारा भी समाधि की सिद्धि कर सकते हैं। यह ईश्वर-प्रणिधान ईश्वर की राजसी भक्ति नहीं वरन् सात्विकी भक्ति है।

मध्यमाधिकारियों के लिए अभ्यास-वैराग्य सहज साध्य नहीं है। उनकी प्रकृति में रजोगुण की प्रधानता के कारण राग से उनका चित्त चंचल रहता है। अतः उनके लिए तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान पूर्वक क्रिया योग का निर्देश किया गया है। तप से मन और शरीर की शुद्धि होती है और चित्त स्थिर होता है। स्वाध्याय से योग और भक्ति के अनुकूल वातावरण की सृष्टि होती है। इस क्रिया योग के द्वारा ईश्वर-प्रणिधान की योग्यता प्राप्त कर वे समाधि को प्राप्त होते हैं। रजो-गुण-प्रधान मध्यम वर्ग के लिए ईश्वर का मार्ग ही सबसे सुगम पथ है। वह साधना का राजमार्ग है। तप और स्वाध्याय द्वारा विषयानुराग को ईश्वर की सात्विकी भक्ति में परिणत कर वे परमार्थ को प्राप्त कर सकते हैं।

मन्दाधिकारियों के लिए दीर्घ शारीरिक, मानसिक और नैतिक प्रक्रिया बताई गई है जो योग-परम्परा में 'अष्टाङ्ग योग' के नाम से

प्रसिद्ध है। मन्दाधिकारियों में तमोगुण की प्रधानता के कारण शरीरिक और मानसिक शिथिलता होती है। उनके ज्ञान और कर्म अशुद्धि अथवा मल से आच्छादित रहते हैं। योग के विविध अंगों के अनुष्ठान से चित्त की अशुद्धि का क्षय होता है; अशुद्धि-क्षय से अज्ञान का आवरण दूर होकर ज्ञान का प्रकाश होता है और अन्ततः विवेक-ख्याति प्राप्त होती है। सर्वोपयोगी होने के कारण 'अष्टाङ्ग योग' इतना प्रख्यात और लोक-प्रिय हो गया कि प्रायः लोग इसे योग का समानार्थक समझते हैं।

अष्टाङ्ग योग के अंग भूत योग के आठ चरण इस प्रकार हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच 'यम' कहलाते हैं। ये देश, काल और नियम से अनवच्छिन्न सार्व-भौम महाव्रत हैं। सर्वदा सब भूतों के प्रति अद्रोह भाव 'अहिंसा' है। मन, वाणी और कर्म की यथार्थता 'सत्य' है। पर-द्रव्य के प्रति अस्पृहा 'अस्तेय' है। इन्द्रियों का संयमन 'ब्रह्मचर्य' है। अर्जन, रक्षण, क्षय आदि दोष-दर्शन पूर्वक विषयों का अस्वीकरण 'अपरिग्रह' है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं। इन यम नियमों के अनुष्ठान से विविध-प्रकार की दिव्य शक्तियाँ और योगा-नुकूल भूमियाँ प्राप्त होती हैं। अष्टाङ्ग योग का तीसरा और अत्यन्त लोकप्रिय अंग 'आसन' है। स्थिर और सुख-मय शारीरिक स्थिति का नाम 'आसन' है। शारीरिक अंगों की आयास-रहित अविचल स्थिति आसन की सिद्धि का लक्षण है। आसन की सिद्धि होने पर श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छेद 'प्राणायाम' कहलाता है। प्राणायाम से प्रकाश (ज्ञान) का अज्ञान-रूपी आवरण क्षीण होता है और चित्त में एकाग्रता की क्षमता बढ़ती है। इसलिए प्राणायाम योग का अत्यन्त उपयोगी अंग माना गया है। विषयों से इन्द्रियों का आहरण (खींचना, हटाना) 'प्रत्याहार' कहलाता है। विषयों की

ओर से विमुख होकर इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं और प्रत्याहार की अवस्था में वे विषयानुकारिणी न बन कर चित्त की स्वरूपानुकारिणी बन जाती हैं। एक देश विशेष में चित्त की स्थिति का नाम 'धारणा' है। उस देश विशेष में धारणा-रूप प्रत्यय की तैलधारावत निरन्तर प्रवाह-शीलता 'ध्यान' कहलाती है। वही ध्यान ध्येयाकार रूप से निर्भासित तथा स्वरूप (ध्यान रूप) से शून्य होने पर 'समाधि' कहलाता है। धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों को एक साथ मिला कर संयम की संज्ञा दी गई है। संयम के सिद्ध होने पर प्रज्ञा (ज्ञान) का आलोक प्राप्त होता है। योग के उक्त आठ अंगों के क्रमिक अनुष्ठान द्वारा सबीज अथवा सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है। अन्त में परम वैराग्य द्वारा दोष-बीज-क्षय होने पर निर्बीज अथवा असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा कैवल्य प्राप्त होता है।

५—योग में ईश्वर—

योग दर्शन में ईश्वर का एक विशेष स्थान है। योग साधना में तीनों श्रेणियों के अधिकारियों के लिए ईश्वर-प्रणिधान का समान रूप से विधान किया गया है। ईश्वर के मन्दिर का द्वार सब के लिए समान रूप से मुक्त है। अधिकारियों में क्षमता भेद से उनकी उपासना प्रणाली में भले ही भेद हो, किन्तु अधिकार में भेद नहीं है। उत्तम साधकों के लिये अन्य साधनों के व्यवधान के बिना ही ईश्वर प्रणिधान सम्भव है। जिनका हृदय इतना शुद्ध और मन इतना एकाग्र नहीं हो पाया है वे मध्यमाधिकारी तप और स्वाध्याय द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करके ईश्वर की उपासना कर सकते हैं। जिनके लिए केवल तप और स्वाध्याय द्वारा हृदय-संस्कार सम्भव नहीं है वे मन्दाधिकारी अन्य बाह्य और आभ्यन्तर साधन-प्रक्रिया द्वारा ईश्वर प्रणिधान की सिद्धि कर सकते हैं।

योग सूत्र में ईश्वर का उल्लेख स्पष्ट रूप से मिलता है किन्तु

योग का ईश्वर अन्य दर्शनों के ईश्वर से भिन्न है। अन्य दर्शनों में जगत् के स्रष्टा और विश्व के नियन्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना की गई है। ईश्वरवादी दर्शनों में प्रायः ईश्वर की भक्ति तथा ईश्वर प्राप्ति को जीवन का परमार्थ माना गया है। किन्तु योग का ईश्वर जगत् का स्रष्टा अथवा विश्व का नियन्ता नहीं है, और न वह हमारी साधना का चरम लक्ष्य है। सांख्य की भाँति योग मत में भी सृष्टि प्रकृति का परिणाम है। प्रकृति नित्य और स्वतन्त्र है। सांख्य का पुरुष और योग का ईश्वर सृष्टि का निरपेक्ष द्रष्टा है, स्रष्टा और नियन्ता नहीं। उसके सान्निध्य मात्र से प्रकृति सृष्टि रूप में परिणत होती है। योग सूत्र में 'सर्वज्ञता' को ही ईश्वर का लक्षण माना गया है, यद्यपि टीकाकारों ने उसमें 'सर्व-शक्ति-मत्व' के समावेश की भी चेष्टा की है। ईश्वर-भक्ति अथवा ईश्वर-प्राप्ति हमारे जीवन का चरम साध्य नहीं। योग के अनुसार ईश्वर-प्रणिधान भी मन को एकाग्र करने तथा समाधि प्राप्त करने का एक मार्ग है। अस्तु योग का ईश्वर जगत् का स्रष्टा, विश्व का नियन्ता और जीवन का साध्य नहीं, वरन् सृष्टि का द्रष्टा और समाधि का साधन मात्र है।

योग सूत्र की परिभाषा के अनुसार ईश्वर एक 'पुरुष विशेष' है, जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से मुक्त है। साधारण 'पुरुषों' से उसकी यही 'विशेषता' है। साधारण पुरुष जिन क्लेशों से व्याप्त रहते और ईश्वर जिनसे मुक्त हैं वे क्लेश पांच प्रकार के हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अविद्या उत्तर क्लेशों का मूल है। अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि, दुःख को सुख और अनात्म वस्तु को आत्मा समझना ही 'अविद्या' है। दृक् शक्ति ('पुरुष') और दर्शन शक्ति ('प्रकृति') की एकात्मिता ही 'अस्मिता' अथवा 'अहंकार' है। शुद्ध पुरुष केवल चैतन्य है। प्रकृति के स्वरूप में अपने स्वरूप की भ्रान्ति होने से पुरुष में अस्मिता-संविद् अथवा अहंकार-चेतना होती है। सुखकर प्रतीत होने वाले अनुभव के पश्चात् उसकी

स्मृतिपूर्वक उसकी पुनः प्राप्ति के लिए जो तृष्णा है उसी का नाम 'राग' है। दुःख के अनुभव के बाद उसकी स्मृति-पूर्वक उसके प्रति जो क्रोध का भाव है वही 'द्वेष' है। अपने संस्कार से ही वहनशील और तुच्छ कृमि से लेकर विद्वान् तक व्याप्त रहने वाला मृत्यु का स्वाभाविक भय 'अभिनिवेश' कहलाता है। अस्तु, आदि क्लेश अविद्या से अहंकार उत्पन्न होता है। उस अहंकार की अभिव्यक्ति राग-द्वेष में होती है। राग-द्वेष कर्म के प्रेरक बनकर मनुष्य को जन्म मरण के चक्र में प्रवर्तित करते हैं। कर्म का फल होता है जिसे 'विपाक' कहते हैं। कर्तृत्व की भावना के कारण मनुष्य कर्म-फल का भोक्ता बनता है और उस फल के भोग के लिए जन्म-जन्मान्तर में संसरित होता है। जन्म का जन्मान्तर से सम्बन्ध स्थापित करने वाले जीव-गत वासना-संस्कार को 'आशय' कहते हैं। ईश्वर इन पांच क्लेशों के सदा मुक्त है। किन्तु ईश्वर केवल मुक्त पुरुष नहीं है। मुक्त पुरुष वे हैं जो स्वभाव से मुक्त होते हुए भी अविद्यावश क्लेशों के बन्धन में पड़ते हैं और ज्ञान तथा साधना द्वारा बन्धन का नाश कर मुक्त होते हैं। ईश्वर अविद्या से अत्यन्त अस्पृष्ट है। वह नित्य निर्बन्धन और नित्य मुक्त है। वह ईश्वर सर्वज्ञ है। नित्य तथा कालावच्छेद से रहित होने के कारण वह प्राचीनों का भी गुरु है। ईश्वर का वाचक प्रणव अथवा ओंकार हैं। उस प्रणव के जप तथा उसके अर्थ की निरन्तर भावना से चित्त एकाग्र होता है और एकाग्रता के अभ्यास के अन्ततः समाधि सिद्ध होती है।

भाग ७

विचार और विश्वास का पुनर्विधान

(*पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त*)

अध्याय १

प्रस्तावना

भारतीय धर्म और दर्शन का मूलाधार वैदिक साहित्य और परम्परा में है। वैदिक परम्परा के चार मुख्य चरण संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद हैं। संहिताएं मूल मन्त्रों और काव्य-गीतियों के संग्रह हैं। ब्राह्मणों का विषय कर्म-कांड और यज्ञ-विधान हैं। आरण्यकों में यज्ञ-कर्म के प्रतीकात्मक रहस्यवाद का विकास हुआ है। उपनिषदों में वैदिक चिन्तन का पर्यवसान एक उत्कृष्ट अध्यात्मवाद में हुआ है। यद्यपि वैदिक साहित्य का आरम्भ स्वतन्त्र काव्य-गीतों के रूप में हुआ था जो आदि कवियों के आन्तरिक उल्लास और सहजोद्रेक के प्रतीक हैं, आगे चलकर ब्राह्मणों के युग में उपासना और कर्म-काण्ड के लिए उनका उपयोग होने लगा। इसलिए संहिताओं और ब्राह्मणों का सम्बन्ध मुख्यतः यज्ञ, उपासना और कर्म-काण्ड से है। आरण्यक एक संक्रान्ति काल की रचनाएं हैं और वे वैदिक परम्परा की परिवर्तन-मुखी प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। उनमें आकर चिन्तन की वृत्ति अंतर्मुखी हो गई है तथा बाह्य उपासना और कर्म का स्थान उनके रहस्यात्मक प्रतीकों के ध्यान ने ले लिया है। इस अन्तर्मुखी वृत्ति का पूर्ण विकास और पर्यवसान उपनिषदों के अध्यात्मवाद में हुआ। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति और प्रतीकों के ध्यान की प्रधानता के कारण आरण्यक ब्राह्मणों की बाह्य अनुष्ठान वृत्ति से विच्छेद के सूचक हैं। अतः उपनिषदों की सूक्ष्म-चिन्तन-वृत्ति के पूर्वाभास होने के कारण आरण्यकों को उपनिषदों के साथ ही गिना जाता है। दोनों एक ही अन्तर्मुखी और चिन्तनात्मक परम्परा के अंग हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी कई प्रधान उपनिषद आरण्यकों के ही अन्तिम भाग हैं। अस्तु यज्ञ, उपासना और कर्म-

काण्ड की सामान्य प्रवृत्ति के आधार होने के कारण संहिताओं
ब्राह्मणों को वैदिक साहित्य के एक वर्ग के अन्तर्गत माना जा सक
तथा अन्तर्मुखी धारा और चिन्तन की सामान्य प्रवृत्ति के पोषक
के कारण आरण्यकों और उपनिषदों को वैदिक साहित्य के दूसरे
के अन्तर्गत माना जा सकता है। वैदिक साहित्य के इन दो वर्गो
वेद के पूर्व तथा उत्तर भाग कहते हैं। पूर्व भाग की मुख्य धारा
काण्ड-मय है तथा उत्तर भाग की प्रवृत्ति ज्ञान-प्रधान है। कर्म-क
ब्राह्मणों का मुख्य विषय है तथा ज्ञान उपनिषदों का मुख्य विषय
अतः ब्राह्मण पूर्व भाग में प्रमुख और उपनिषद उत्तर भाग के
माने जाते हैं। आगे चल कर वैदिक साहित्य और परम्परा का वि
और पुनरुत्थान वेद के पूर्व और उत्तर भाग के इन्हीं दो मुख्य अ
के ऊपर हुआ और इसीलिए वैदिक परम्परा के पुनर्विधान क
प्रवृत्तियों को क्रमशः पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा कहा जाता

भगवान बुद्ध का अविर्भाव भारतीय दर्शन के इतिहास में
अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी। बौद्ध विचारधारा से भारतीय चि
के क्षेत्र में एक युगान्तर उपस्थित हो गया। बाह्य कर्म और उप
तथा लौकिक श्रेय की कामना से प्रेरित यज्ञ, अनुष्ठान आदि मनुष
आत्मा के लिए पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं है। आत्मा की इसी
मुखी प्रवृत्ति की पुकार के कारण वैदिक परम्परा के अन्तर्गत ही ब्र
के कर्म-काण्ड के विरुद्ध एक अलक्षित प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई
आरण्यकों में इसका पूर्वाभास हमें मिलता है और उपनिषद
आकर वह प्रतिक्रिया स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि उपनिषद वेदों
अन्तिम भाग हैं और उनमें वैदिक परम्परा का पर्यवसान माना
है, उनकी प्रकृति वेदों के पूर्व-भाग-भूत ब्राह्मणों से अत्यन्त भिन्न
जहाँ ब्राह्मणों में कर्म-काण्ड की प्रमुखता है, उपनिषदों में ज्ञा
प्राधान्य है। किन्तु प्रकृति में विपरीत होते हुए भी उपनिषद
परम्परा के ही अन्तर्गत हैं। उनका ज्ञान-मुख अध्यात्मवाद ब्राह्म

कर्म-काण्ड के विपरीत क्रमशः विकसित होती हुई एक मृदुल प्रतिक्रिया का ही पर्यवसान है। उपनिषद वेदों के ही अन्तिम भाग हैं और प्रकृति में विपरीत होते हुए भी वे वैदिक परम्परा की मान्यता के ही प्रतीक हैं। किन्तु बौद्ध धर्म के उदय में इस मृदुल और आन्तरिक प्रतिक्रिया ने स्पष्ट विरोध और उन्मुक्त क्रान्ति का रूप ग्रहण कर लिया। जैन और बौद्ध धर्मों के उत्थान से भारतीय विचार और विश्वास के क्षेत्र में एक अपूर्व आन्दोलन आरम्भ हो गया। इस क्रान्ति ने वैदिक परम्परा ने पोषकों को सचेत कर दिया और वे उसके संरक्षण के प्रति अपने कर्तव्य में सचेष्ट हो गये। वैदिक परम्परा के बढ़ते हुए विरोध ने उन्हें उसके सरक्षण और पुनर्विधान के प्रति सचेत कर दिया। अस्तु बुद्ध के आविर्भाव के अनन्तर भारतीय चिन्तन का विकास वैदिक और अवैदिक दो भिन्न धाराओं में हुआ।

जैन और बौद्ध सम्प्रदायों का आरम्भ एक धार्मिक, नैतिक और सामाजिक आन्दोलन के रूप में हुआ था। महावीर और बुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचक नहीं धर्म के प्रवर्तक थे। अहिंसा और त्याग के आदर्श से अनुप्राणित उनकी करुणामयी वाणी का सामान्य जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। लोक भाषा और सुगम शैली में दिये गये उनके उपदेशों के आधार पर देश में जैन और बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ने लगा। वैदिक परम्परा से विमुख होती हुई जनता के विश्वास और आकर्षण के लिए वैदिक परम्परा के अन्तर्गत एक ऐसे साहित्य की सृष्टि हुई जो एक सुगम और सुन्दर रूप में वैदिक धर्म और संस्कृति को जनता के सामने रख सके। इतिहास, पुराण आदि के रूप में प्राप्त यह लोक साहित्य हमारी अक्षय निधि है। जैन और बौद्ध धर्मों के आक्रमण से वैदिक परम्परा और संस्कृति के संरक्षण का यह प्रथम चरण है। विचार और विश्वास में क्रान्ति उपस्थित होने पर उसे लोक जीवन के स्तर पर ही सीमित रखना कठिन है। प्रत्येक क्रांति के आधार में गम्भीर मूल सिद्धांत निहित रहते हैं। क्रांति के विकास के

साथ परम्पराओं के संघर्ष के तीव्र होने पर सिद्धांतों के बौद्धिक प्रतिष्ठापन का प्रश्न मनीषियों का उत्तरदायित्व बन जाता है। सिद्धान्तों के संरक्षण के लिए न्याय और तर्क के अस्त्रों का आविष्कार होता है। इनके आधार पर धार्मिक परम्पराओं में दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास होता है। बौद्ध और वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों के उदय और विकास की यही व्याख्या है। ये वैदिक दर्शन सम्प्रदाय वैदिक परम्परा के संरक्षण के द्वितीय चरण हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन वैदिक परम्परा में तर्क-मुखी प्रवृत्ति के प्रधान प्रतीक हैं। किन्तु वैदिक परम्परा के संरक्षण के ये दोनों ही चरण अपूर्ण और अनिश्चित हैं। लोक साहित्य का प्रथम चरण बौद्धिक आधार की दृढ़ता से हीन है और दार्शनिक सम्प्रदायों का द्वितीय चरण बुद्धि-प्रधान होने के कारण लोक-जीवन की प्रेरणा और संस्कृति का आधार बनने में असमर्थ है। पहला केवल 'विश्वास का समाधान' है और दूसरा केवल 'विचार का समाधान' है। सांख्य-योग का 'विचार और विश्वास का समाधान, रूप तृतीय चरण भी कई दृष्टि से अपूर्ण है। इसके अतिरिक्त वैदिक परम्परा के पोषक तथा उसके प्रति विरोध के निवर्तक होते हुए भी ये तीनों ही चरण वैदिक परम्परा के मूल प्रतिनिधि नहीं हैं। यद्यपि पुराण, इतिहास आदि में प्राप्त लोक-साहित्य में वैदिक, धार्मिक और सांस्कृतिक तत्व पर्याप्त मात्रा में है किन्तु उनमें कथा और कल्पना तथा अनेक अवांतर विषयों के सम्मिश्रण के कारण वह अव्यवस्थित बहुत हो गया है। उसके आकार की विशालता लोक-रुचि के वैचित्र्य और उनकी व्यापकता के अनुकूल भावना के सन्तोष के लिए आवश्यक और उपयोगी है। किन्तु कथा और कल्पना के प्राधान्य तथा अव्यवस्थित सिद्धान्तों के बिखरे रहने के कारण वह गम्भीर विचार-वृत्ति के लिए संतोषजनक नहीं। द्वितीय और तृतीय चरण के दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का मूल उपनिषदों में अवश्य मिलता है किन्तु वस्तुतः वे न वेद के पूर्व भाग की कर्म काण्ड-मय प्रवृत्ति के

प्रवर्धक हैं और न उत्तर भाग के ज्ञान-काण्ड के प्रतिनिधि। उपनिषदों में उनका अत्यन्त अल्प आधार मिलता है। उपनिषदों के सिद्धान्तों से उनके सिद्धान्तों का बहुत कम साम्य है। सांख्य-योग का निष्क्रिय और निरानन्द पुरुष तथा न्याय-वैशेषिक की चैतन्यहीन आत्मा और सृष्टिकर्ता ईश्वर उपनिषदों के सच्चिदानन्द ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न है। सांख्य-योग की स्वतन्त्र प्रकृति तथा न्याय-वैशेषिक के पृथक परमाणु-तत्व, जो दोनों सृष्टि के उपादान कारण हैं, उपनिषदों के ब्रह्म-कारण-वाद के नितान्त विपरीत है। अस्तु, स्वल्प और अनिश्चित वैदिक आधार में कथा और कल्पना के सम्मिश्रण तथा विचार-सिद्धान्तों के अभाव के कारण लोक-विश्वास के समाधान का साधन होते हुए भी प्रथम चरण का लोक साहित्य विचार और भावना के एक समन्वित तथा सांस्कृतिक धर्म का आधार न बन सका। स्वल्प वैदिक आधार, वैदिक सिद्धान्तों से भेद तथा विचार प्राधान्य के कारण द्वितीय और तृतीय चरण के दार्शनिक सम्प्रदाय भी वैदिक परम्परा के पुनर्विधान के आधार न बन सके।

वैदिक परम्परा के संरक्षण के इन तीनों चरणों की अपूर्णता और अनिश्चय की पूर्ति का प्रयास एक चतुर्थ धारा के रूप में प्रकट हुआ। यह धारा वास्तविक अर्थ में वैदिक है। इसके विचार-तत्वों और सिद्धान्तों का आधार निश्चित रूप से वैदिक साहित्य में है। इस धारा का उद्गम पूर्णतः वैदिक परम्परा में है। एक दृष्टि से यह वैदिक परम्परा के सर्वाङ्गीण पुनर्विधान का प्रयास है। इसमें वैदिक परम्परा के संरक्षण का प्रयास किन्हीं अवान्तर सिद्धान्त-सम्प्रदायों के प्रतिष्ठापन द्वारा नहीं किया गया है वरन् वैदिक विचार-तत्त्वों और सिद्धान्तों के समन्वय तथा व्यवस्थापन द्वारा उसे एक दृढ़ आधार देने की चेष्टा की गई है। यह पूर्णतः वेद-मूलक प्रयास वैदिक परम्परा के संरक्षण और विकास का चतुर्थ चरण है। भारतीय दर्शन परम्परा में यह 'मीमांसा' के नाम से विख्यात है।

मीमांसा का अभिधार्थ 'विवेचन' है, किन्तु लक्ष्यार्थ में मीमांसा का अभिप्राय 'वेदों के तात्पर्य-विवेचन' से है। वैदिक परम्परा में दो प्रधान धाराएं हैं। एक में कर्म की प्रमुखता है, दूसरी में ज्ञान का प्राधान्य है। एक के प्रतिनिधि ब्राह्मण ग्रन्थ हैं और दूसरी के आधार उपनिषद् हैं। वैदिक परम्परा की इन दो धाराओं के अनुकूल वैदिक मीमांसा की भी दो धारायें हो गईं। पूर्व भाग (ब्राह्मणों) पर आश्रित होने के कारण पहली 'पूर्व मीमांसा' कहलाती है और उत्तर भाग (उपनिषद) पर आधारित होने के कारण दूसरी का नाम 'उत्तर मीमांसा' है। वेदों के अंतिम भाग होने के कारण उपनिषद 'वेदान्त' कहलाते हैं। अतः उत्तर मीमांसा का अपर नाम 'वेदांत' भी है। सामान्य अर्थ में 'मीमांसा' पूर्व और उत्तर मीमांसाओं का वाचक है। विशेष अर्थ में मीमांसा का अर्थ पूर्व मीमांसा ही लिया जाता है जबकि उत्तर मीमांसा के लिए प्रायः 'वेदान्त' पद का प्रयोग होता है। ब्राह्मणों का मुख्य विषय कर्म-काण्ड है। अतः उन पर आश्रित होने के कारण पूर्व मीमांसा 'कर्म मीमांसा' भी कहलाती है ; तथा उपनिषदों में ज्ञान की प्रधानता है अतः उन पर आधारित होने के कारण उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त को 'ज्ञान मीमांसा' भी कहते हैं। ये दोनों मीमांसाएं वैदिक परम्परा के संरक्षण के प्रथम चरण की भांति न केवल भावना और विश्वास का समाधान हैं; और न द्वितीय चरण की भांति केवल विचार और बुद्धि का समाधान। इनमें भावना, कर्म और विचार तीनों का समन्वय है। अतः इन्हें वैदिक विचार और विश्वास का परिपूर्ण पुनर्विधान कहा जा सकता है। यद्यपि पूर्व मीमांसा का मुख्य विषय कर्म-काण्ड है किन्तु उस कर्म-काण्ड के सिद्धान्तों को व्यवस्थित करने के लिए एक प्रबल बौद्धिक आधार की सृष्टि हुई। यद्यपि उपनिषद में ज्ञान का प्राधान्य है किन्तु उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेक आध्यात्मिक साधनाओं का विधान किया गया। वेदान्त के अन्य सम्प्रदायों में दार्शनिक और नैतिक आधार पर भक्ति की प्रतिष्ठा होने

कारण उनमें उपनिषदों के ज्ञान का भावना और कर्म से और भी सुन्दर सामंजस्य हुआ है। अस्तु भावना, कर्म और विचार के पूर्ण समन्वय होने के कारण तथा पूर्णतः वैदिक परम्परा में आश्रित होने के कारण उभय मीमांसाओं का यह चतुर्थ चरण वैदिक परम्परा के पुनर्विधान तथा वैदिक धर्म और संस्कृति के पुनः प्रतिष्ठापन का सबसे महत्त्वपूर्ण चरण है।

इन दोनों मीमांसाओं का मूल उद्गम वेद में है। पूर्व मीमांसा के आधार ब्राह्मण ग्रन्थ हैं तथा उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त के आश्रय उपनिषद है। व्यवस्थित सम्प्रदायों के रूप में इनका आरम्भ 'सूत्रों' से होता है। **पूर्व मीमांसा** सूत्र के प्रणेता महर्षि जैमिनि माने जाते हैं जो पूर्व मीमांसा के दार्शनिक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं। उत्तर मीमांसा का सूत्र प्रायः **वेदान्त सूत्र** अथवा **ब्रह्म सूत्र** कहलाता है। इसके रचयिता महर्षि बादरायण हैं जो वेदान्त सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापकों में अन्यतम माने जाते हैं। विद्वानों ने इन सूत्रों का काल अन्य दार्शनिक सूत्रों के समान विक्रम युग की आरम्भिक शताब्दियां माना है। इनके पूर्व भी कर्म और ज्ञान की दोनों वैदिक परम्पराओं के व्यवस्थापन के अनेक प्रयास हुए हों। किन्तु आज उनका कोई इतिहास उपलब्ध नहीं। इतना स्पष्ट है कि इन दोनों धाराओं का आरम्भ बुद्ध के निर्वाण के बाद ही हो गया था और विक्रम युग के आरम्भ में उनका पूर्ण व्यवस्थित रूप प्रकट हो गया था। बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के साथ संघर्ष के प्रसंग में अन्य वैदिक दर्शनों की भाँति पूर्व-मीमांसा और वेदान्त के दार्शनिक सम्प्रदायों का भी विकास होता रहा। किन्तु बौद्धधर्म के प्रबल प्रचार और उसकी लोकप्रियता के कारण उस विकास की गति मन्द और उसकी सफलता सन्दिग्ध रही। बुद्ध के निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष के उपरान्त भारतीय दर्शन के क्षेत्र में फिर एक महान क्रान्ति हुई। प्रगति-वादी विचारक इसे प्रति-क्रान्ति कहेंगे। ईसा के ६०० वर्ष पूर्व बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ था। बौद्ध संघ की आन्त-

रिक विकृतियों तथा अन्य ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण ईसा की छठी शताब्दी में बौद्धधर्म का ह्रास होने लगा। यह एक ऐतिहासिक संयोग की बात थी कि उसी समय वैदिक धर्म के दो महान उद्धारकों का जन्म हुआ। कुमारिल और शंकराचार्य ने यथाक्रम वेद की कर्म और ज्ञान परम्पराओं का पुनर्विधान किया। कुमारिल शंकराचार्य के कुछ पूर्वगामी थे। उन्होंने जैमिनि के पूर्व-मीमांसा-सूत्र के आधार पर कर्म-काण्ड को दार्शनिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया। शंकराचार्य ने बादरायण के ब्रह्म-सूत्र के आधार पर वेदान्त के अध्यात्म दर्शन को प्रतिष्ठित किया। कुमारिल और शंकराचार्य उत्तर कालीन भारतीय चिन्ताकाश के अरुण और आदित्य हैं। एक ने बौद्ध-धर्म के पतन-काल और वैदिक धर्म के अनिश्चय काल की अन्धकारमयी विभावरी की अवसान-वेला में अपनी प्रतिभा के प्रशान्त और पूत आलोक से वैदिक धर्म के प्रति लोक का चक्षुरुन्मीलन किया। दूसरे ने अपने प्रबल तेज से भ्रान्ति और अविश्वास के मेघों को छिन्न कर, बौद्धधर्म का निष्कासन कर वेदान्त के अमल आलोक का विस्तार किया। आलोकमय अरुण की भाँति कुमारिल ने वैदिक धर्म के नवीन प्रभात की भूमिका के पावन वातावरण का निर्माण किया। तेजस्वी प्रभात सूर्य की भाँति शंकराचार्य ने लोक को एक नवीन जगरण का सन्देश दिया।

अध्याय २

पूर्व मीमांसा दर्शन

१—परिचय, साहित्य और परम्परा—

ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्व मीमांसा का सम्प्रदाय वेदों के पूर्व-भाग अर्थात् ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड का दार्शनिक विकास है। धार्मिक दृष्टि से पूर्व मीमांसा एक कर्म-काण्ड का सम्प्रदाय है। दार्शनिक दृष्टि से वह एक निरीश्वरवादी किन्तु नैतिक यथार्थवाद है। सांख्य दर्शन की भाँति पूर्व मीमांसा सम्प्रदाय में भी ईश्वर के अस्तित्व को स्पष्ट रूप से अस्वीकार नहीं किया गया है। यद्यपि प्राचीन सांख्य की भाँति प्राचीन मीमांसा भी ईश्वर की सत्ता के प्रतिषेध के विषय में मौन है, अर्वाचीन मीमांसकों ने स्पष्ट रूप से ईश्वर के अस्तित्त्व का निषेध और खण्डन किया है। किन्तु निरीश्वरवादी होने के कारण मीमांसा मत नास्तिक नहीं है। नास्तिकता का अर्थ ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास नहीं वरन् वेद की अमान्यता है। वेद को स्वतन्त्र, सनातन और सर्वोपरि मानने के कारण मीमांसा आस्तिकता की दृष्टि से वैदिक दर्शनों में अग्रगण्य है। मीमांसा के अनुसार वेद ईश्वर की रचना नहीं वरन् नित्य शब्द का कल्प कल्प में अविकल और अविकृत आविर्भाव है। वैदिक मन्त्रों के ऋषि उनके रचयिता नहीं वरन् द्रष्टा मात्र हैं। मीमांसा में वेद सर्वोपरि प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि के सहित मीमांसा दर्शन में छः प्रमाण माने गये हैं। मीमांसा का ज्ञान-शास्त्र एक यथार्थवाद है। इसके अनुसार ज्ञेय विषय अर्थात् भौतिक जगत् की स्वतन्त्र सत्ता है। भौतिक जगत् के अतिरिक्त स्वर्ग, नरक और आत्मा का अस्तित्व मीमांसा तत्व-दर्शन के अंग हैं। आत्मा की कल्पना न्याय-वैशेषिक के समान है। चैतन्य-

आत्मा का नित्य स्वरूप नहीं आगन्तुक गुण है जो मोक्षावस्था में विलय हो जाता है। प्राचीन मीमांसा में तो स्वर्ग तथा लौकिक अभ्युदय को ही परमार्थ माना गया है। किन्तु अर्वाचीन मीमांसकों ने मीमांसा दर्शन को अन्य दर्शनों के समकक्ष लाने के लिए आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति-रूप निःश्रेयस अथवा मोक्ष की कल्पना का विकास किया है।

मीमांसा का मूल उद्गम ब्राह्मण ग्रन्थों के उन प्रसंगों में है जिनमें यज्ञ-कर्म की प्रणाली, प्रयोजन, रहस्य आदि की मीमांसा की गई है। किन्तु मीमांसा के दार्शनिक सम्प्रदाय का आरम्भ महर्षि जैमिनि के **मीमांसा सूत्र** से होता है। **मीमांसा सूत्र** दार्शनिक सूत्रों में सबसे प्राचीन और सबसे बड़ा है। मीमांसा दर्शन के पूर्ण रूप से वैदिक होने के कारण इसका महत्व भी कम नहीं है। **मीमांसा सूत्र** में २६३१ सूत्र और १२ अध्याय हैं। इन १२ अध्यायों प्रथम अध्याय दार्शनिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रथम अध्याय में विधि, अर्थ-वाद आदि रूप प्रमाण का निरूपण किया गया है। शेष अध्यायों में (२) यागदान आदि कर्म का भेद, (३) प्रयाज आदि का शेष-शेषी सम्बन्ध, (४) गोदोहनादि का पुरुषार्थत्व, (५) अनुष्ठान-क्रम निरूपण, (६) यज्ञ-कर्म के अधिकारियों का निरूपण, (७) प्रकृति में उपदिष्ट यागों का विकृति में सामान्यतः अतिदेश, (८) देवता निर्देश, एक-देवतात्व आदि का विशेषतः अतिदेश, (९) प्रकृति में पठित मन्त्रों की विकृति आदि में ऊहा, (१०) प्राप्त विधि के निरवकाश होने के कारण विकृति में बाध, (११) प्रधान विधियों के प्रयाजादि अंगों से उपकार आदि का तन्त्र और (१२) प्रधान विधि के उपकारक प्रयाज आदि के पुरोडाश आदि में उपकारत्व का प्रसंग आदि विषय हैं। मीमांसा सूत्र का आरम्भ धर्म-जिज्ञासा से होता है। मीमांसा की परिभाषा के अनुसार वेद-विहित कर्म का अनुष्ठान ही धर्म है। इस कर्म-रूप धर्म का सर्वाङ्ग निरूपण ही **मीमांसा सूत्र** का मुख्य प्रयोजन है।

जैमिनि कृत **मीमांसा सूत्र** ही मीमांसा दर्शन का मूल ग्रन्थ है।

मीमांसा सूत्र पर सब से प्राचीन और प्रामाणिक भाष्य शबर स्वामी का भाष्य है। शाबर भाष्य में भर्तृमित्र, भवदास, हरि और उपवर्ष चार प्राचीन भाष्यकारों का निर्देश मिलता है। किन्तु इनके रचित भाष्य उपलब्ध नहीं होते। अस्तु शाबर भाष्य ही मीमांसा दर्शन के समस्त उत्तर कालीन अध्ययन और विकास का आधार है। शबर स्वामी का समय अनिश्चित है, अनुमान से वह ईसा की दूसरी शताब्दी माना जाता है। शाबर भाष्य के आधार पर मीमांसा के दो सम्प्रदाय विकसित हुए। पहले सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रभाकर और दूसरे के प्रवर्तक कुमारिल भट्ट थे। कुमारिल का समय ईसा की सातवीं शताब्दी है। प्रभाकर इनके पूर्वगामी थे। कुछ लोग प्रभाकर को कुमारिल का गुरु भी मानते हैं, किन्तु इस विषय में विद्वानों में मत-भेद है। प्रभाकर-मीमांसा का मुख्य ग्रन्थ शाबर भाष्य पर प्रभाकर रचित **बृहती** नाम की टीका है। **बृहती** पर शालिनाथ की **ऋजु-विमला** नामक प्रसिद्ध टीका है। भवनाथ कृत **न्याय विवेक** में प्रभाकर मत का विस्तृत विवेचन किया गया है। **प्रकरणपञ्चिका** में उसका सरल संक्षेप है। अतः वह प्रभाकर मीमांसा का प्रसिद्ध और प्रचलित पाठ्य ग्रन्थ है। भट्ट मीमांसा मत का मूल आधार शाबर भाष्य पर कुमारिल द्वारा रचित **श्लोक वार्तिक**, **तन्त्र वार्तिक** तथा **टुप्टीका** नामक तीन टीकाएं हैं। **श्लोक वार्तिक** प्रथम अध्याय के प्रथम पाद मात्र का व्याख्यान है। **तन्त्र वार्तिक** का विषय तृतीय अध्याय पर्यन्त है। **टुप्टीका** शेष ६ अध्यायों पर संक्षिप्त टिप्पणी है। श्लोक वार्तिक पर सुचरित मिश्र की **काशिका** नामक उप टीका है, **तन्त्र वार्तिक** पर सोमेश्वर भट्ट की **न्याय सुधा** नामक टीका है। और **टुप्टीका** पर वेंकट दीक्षित का **वार्तिकाभरण** है। पार्थ सारथि मिश्र (१४वीं शताब्दी) की **शास्त्र-दीपिका** मीमांसा दर्शन का एक स्वतन्त्र और सुविख्यात ग्रन्थ है। माधवाचार्य (१४ वीं शताब्दी) का **जैमिनीय न्याय-माला-विस्तर** एक विशाल और प्रामाणिक ग्रन्थ है। आपदेव का **मीमांसा-न्याय-प्रकाश** और

लौगाक्षिभास्कर का **अर्थ संग्रह** न्याय वैशेषिक के **न्याय मुक्तावली** और **तर्क संग्रह** की भांति मीमांसा सिद्धान्त के प्रसिद्ध, प्रामाणिक और लघु-काय पाठ्य ग्रन्थ हैं।

२—ज्ञान-मीमांसा

मीमांसा मत मुख्य रूप से एक कर्म-काण्ड का सम्प्रदाय है अतः कर्म-काण्ड-मय आचार-दर्शन इसका प्रधान विषय है। किन्तु एक दर्शन सम्प्रदाय का रूप ग्रहण कर लेने पर इसमें ज्ञान-शास्त्र और तर्क-शास्त्र का भी विकास हुआ। मीमांसा के ज्ञान-शास्त्र में न्याय मत में स्वीकृत चार प्रमाणों के अतिरिक्त दो प्रमाण—अर्थापत्ति और अनुपलब्धि अधिक माने गये हैं। इस प्रकार मीमांसा ज्ञान-शास्त्र का आधार छः प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। इन छः प्रमाणों से प्रथम दो अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में पृथक विवेचन की अपेक्षा नहीं हैं, क्योंकि मीमांसा में उनकी कल्पना उनके न्याय-गत निरूपण के समान ही है। ज्ञान-सिद्धान्त की दृष्टि से मीमांसा और न्याय में मौलिक समानता है। दोनों का ज्ञान-सिद्धान्त यथार्थ-वाद है जिसके अनुसार ज्ञेय विषय की ज्ञाता विषयी से पृथक और स्वतन्त्र सत्ता है।

मीमांसा का उपमान-निरूपण न्याय से नितान्त भिन्न है। दोनों के अनुसार उपमिति का आधार सादृश्य ज्ञान है, किन्तु उपमिति के विषय और प्रणाली के सम्बन्ध में दोनों मतों में भेद है। न्याय मत के अनुसार उपमिति ज्ञान का विषय प्रत्यक्ष उपस्थित गवय है किन्तु उसका आधार किसी आप्त पुरुष के द्वारा निर्दिष्ट गवय का गो के साथ सादृश्य है। मीमांसा के अनुसार इसमें प्रत्यक्ष और शब्द दोनों का प्रसंग उपस्थित होता है और अनुमान की भी आशंका रहती है। इसके विपरीत मीमांसा के अनुसार उपमिति का विषय पूर्व दृष्ट गो और गवय के साथ उसका सादृश्य है। मीमांसाभिमत उपमिति में प्रत्यक्ष और

शब्द दोनों का ही अनवकाश है। एक पुरुष जो गो से परिचित है वन में जाने पर गवय को देखता है तो उसे दोनों में सादृश्य प्रतीत होता है। इस सादृश्य के आधार पर उसे यह ज्ञात होता है कि पूर्वदृष्ट गो गवय के समान है। मीमांसा के अनुसार यह पूर्वदृष्ट गो का गवय के साथ सादृश्य का ज्ञान 'उपमिति' ज्ञान है। गो के प्रत्यक्ष उपस्थित न होने के कारण यहां प्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं है। व्याप्ति के आधार के अभाव के कारण यह अनुमान भी नहीं है। शब्द का यहां स्पष्ट रूप से अनवकाश है। स्मृति पूर्वानुभूत विषय की परकाल में आवृत्ति है तथा यहाँ गो का गवय के साथ सादृश्य पूर्वानुभूत न होने के कारण आवृत्त नहीं हो सकता, अतः यह स्मृति भी नहीं है।

शब्द प्रमाण का मीमांसा दर्शन में सर्वाधिक महत्व है। मीमांसा पूर्णतः एक वेद-मूलक सम्प्रदाय है। वेद नित्य और सर्वोपरि सत्य है। वेद शब्द-रूप है। अतः शब्द-प्रमाण का मीमांसा में विशेष स्थान है। किन्तु मीमांसा की शब्द-विषयक कल्पना अन्य दर्शनों से भिन्न है। मीमांसा के अनुसार श्रुति-गोचर मुखर शब्द वास्तविक शब्द नहीं वरन् मूल शब्द की अभिव्यक्ति मात्र है। मूल शब्द मुखर अथवा ध्वनि रूप नहीं है। वह एक नित्य और ध्वनि-हीन सत्ता है। मुखरित ध्वनि के रूप में उसकी वाह्य अभिव्यक्ति होती है जिसका वह आधार है। इस अभिव्यक्ति को 'स्फोट' कहते हैं। वास्तविक वेद इसी नित्य और ध्वनिहीन शब्द के रूप में है। उसकी नित्य और स्वतन्त्र सत्ता है। इस नित्य वेद का कल्प-कल्प में सृष्टि के साथ आविर्भाव होता है। वैदिक ऋषि इस अभिव्यक्ति के माध्यम मात्र हैं। वे वेद मन्त्रों के रचयिता नहीं केवल उनके द्रष्टा हैं। इस नित्य शब्द का अर्थ के साथ नित्य और अपृथक् सम्बन्ध है। वैदिक मन्त्रों के शब्दार्थ का क्रम नियत और नित्य है। अतएव कल्प-कल्प में उसी शब्दार्थ-क्रम से वेदों का आविर्भाव होता है। ये वेद स्वतः प्रमाण हैं क्योंकि ये किसी लौकिक अथवा दिव्य पुरुष (ईश्वर) की रचना नहीं हैं। अरचित

तथा स्वतः-सत्तावान् होने के कारण वे स्वतः और नित्य प्रमाण है।

मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति को उक्त चार प्रमाणों से पृथक् एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। मीमांसकों के दोनों ही सम्प्रदाय इसे समान रूप से मानते हैं। परिभाषा के अनुसार दो प्रत्यक्ष अनुभवों में विरोध अथवा असामंजस्य होने पर उनके समाधान के लिए जो कल्पना आवश्यक है उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। उदाहरण के लिए देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता किन्तु मोटा होता जा रहा है, इन दो प्रत्यक्ष अनुभवों के विरोध का समाधान केवल उसके रात्रि में भोजन करने की कल्पना में हो सकता है। यह आवश्यक और अनिवार्य कल्पना ही 'अर्थापत्ति' है। देवदत्त को हम रात्रि में भोजन करते नहीं देखते, अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। अनुमान का आधार प्रत्यक्ष और व्याप्ति का अनुभव है। व्याप्ति-ज्ञान का अभाव होने के कारण यह अनुमान के अन्तर्गत नहीं है। उपमान और शब्द का यहां स्पष्ट अनवकाश है। अतः उक्त चारों प्रमाणों में से किसी के अन्तर्गत इसका अन्तर्भाव सम्भव न होने के कारण यह एक स्वतन्त्र कोटि का ज्ञान है जिसका साधन मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति नामक पृथक् प्रमाण माना गया है।

उक्त पांच प्रमाणों के अतिरिक्त मीमांसा दर्शन में एक छठा प्रमाण माना गया है जिसे 'अनुपलब्धि' कहते हैं। यह प्रमाण दोनों मत के मीमांसकों को समान रूप से मान्य नहीं है। प्रभाकर के अनुयायी इसे पृथक् प्रमाण नहीं मानते, किन्तु कुमारिल के मत में यह पृथक् प्रमाण है। इस दृष्टि से कुमारिल का मत वेदान्त के व्यवहार मत के समान है। अनुपलब्धि का अर्थ 'अभाव का ज्ञान' है। न्याय-वैशेषिक में भी अभाव पदार्थ माना गया है किन्तु उसके ज्ञान का कोई पृथक् प्रमाण नहीं स्वीकृत किया गया है। न्याय मत के अनुसार जिस इन्द्रिय से जिस विषय के भाव का प्रत्यक्ष होता है उसी इन्द्रिय से अलौकिक-सन्निकर्ष द्वारा उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है।

किन्तु मीमांसा मत में अभाव ज्ञान के लिए एक पृथक् प्रमाण की कल्पना की गई है जिसे 'अनुपलब्धि' प्रमाण कहते हैं। कमरे में जाने पर जब हमें इसका अनुभव होता है कि 'यहाँ घट नहीं है,' इस 'घटाभाव' के ज्ञान का साधन क्या है? घट के साक्षात् उपस्थित न होने के कारण उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। अभाव और अनुपलब्धि की व्याप्ति के ज्ञान का साक्षात् प्रयोजन न होने के कारण यह अनुमान के भी अन्तर्गत नहीं है। उपमान, शब्द और अर्थापत्ति का यहां स्पष्ट अनवकाश है। अतः अभाव-ज्ञान का साधन कोई पञ्चेतर पृथक् प्रमाण है जिसे ज्ञानाभाव-विषयक होने के कारण 'अनुपलब्धि कहा गया है। अनुपलब्धि के विषय में एक विशेष बात स्मरणीय है। 'योग्य' विषय के ही अभाव का ज्ञान सम्भव है। जो पदार्थ साक्षात् उपस्थित नहीं है उसकी मानसिक उपस्थिति आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अन्य सब परिस्थितियाँ उसकी उपलब्धि अर्थात् ग्रहण की योग्यता को प्रमाणित करें यह भी अपेक्षित है। मीमांसा मत में योग्य की ही अनुपलब्धि मान्य है। अन्धकार में घट और प्रकाश में शशशृंग की अनुपलब्धि योग्य की अनुपलब्धि नहीं क्योंकि अन्धकार की परिस्थिति सामान्य उपलब्धि की योग्यता में बाधक है और शशशृंग की किसी भी परिस्थिति में उपलब्धि नहीं होती अतः वह भी अयोग्य है। अनुपलब्धि के विषय की मानसी उपस्थिति इसलिए आवश्यक है कि घट के अतिरिक्त कमरे में अन्य अनेक वस्तुओं का अभाव हो सकता है और उन सबके अभाव का ज्ञान अर्थात् अनुपलब्धि सम्भव है। किन्तु जिस वस्तु की मानसी उपस्थिति है उसी को अनुपलब्धि का प्रसंग संगत और समीचीन है।

३—तत्त्व-मीमांसा

ज्ञान-सिद्धान्त की दृष्टि से मीमांसा एक प्रकार का यथार्थवाद है। इसके अनुसार ज्ञेय विषय की ज्ञाता से पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता है।

इन विषय-पदार्थों का निरूपण ही मीमांसा तत्व-शास्त्र का ध्येय है। मीमांसा एक निरीश्वरवादी सम्प्रदाय है। वेद-मूलक होते हुए भी इसमें ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। अस्तु, न्याय-वैशेषिक मत में स्वीकृत जीव, जगत् और ईश्वर तीन तत्व-सत्ताओं में से दो का ही अस्तित्व मीमांसा में स्वीकार किया गया है। जीव और जगत को ही दो चरम सत्ताएं मानने के कारण मीमांसा मत सांख्य सिद्धान्त के कुछ समान प्रतीत होता है। किन्तु दोनों सिद्धान्तों में कुछ मौलिक भेद है। सांख्य का पुरुष चैतन्य-लक्षण है। चैतन्य उसका नित्य स्वरूप है। मीमांसा का जीव न्याय-वैशेषिक की आत्मा के समान अपने मूल रूप में चैतन्य-रहित है। मीमांसा के अनुसार चैतन्य आत्मा का नित्य गुण नहीं है। आगन्तुक गुण होने के कारण सुषुप्ति और मोक्ष की अवस्था में आत्मा के चैतन्य का विलय हो जाता है। मीमांसा की ये आत्माएं सांख्य के पुरुषों की भांति अनन्त हैं। प्रत्येक देह में एक आत्मा है यद्यपि देह के साथ उसका सम्बन्ध नित्य और अनिवार्य नहीं है। मोक्षावस्था में यह सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है।

इन अनन्त आत्माओं के अतिरिक्त जगत् की सत्ता भी मीमांसा मत में मानी गई है। जगत् का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है अतः उसका अस्तित्व माननीय है। किन्तु इस दृश्य जगत् के अतिरिक्त अन्य अतीन्द्रिय लोकों की सत्ता भी मीमांसा में स्वीकार की गई है। इस लोक के अतिरिक्त स्वर्ग और नरक की भी सत्ता है जो क्रमशः पुण्य और पाप से प्राप्त होते हैं। इनकी सत्ता का आधार भी देवताओं की सत्ता की भाँति श्रुति-प्रमाण ही है। आत्मा की कल्पना की भांति जगत् की कल्पना भी मीमांसा दर्शन में बहुत कुछ न्याय-वैशेषिक के समान ही है। जगत् एक नित्य और भौतिक सत्ता है। पञ्चमहाभूतों के परमाणुओं से जगत् और उसके समस्त भौतिक पदार्थों का निर्माण होता है। यह परमाणु रूप जगत् नित्य तथा स्वतः-

सत्तावान् है। सृष्टि की प्रक्रिया का अर्थ केवल परमाणुओं के संयोग-वियोग की प्रक्रिया है। एक प्रकार से परमाणुओं का यह संयोग और वियोग विश्व का एक निरन्तर क्रम है और इस अर्थ में सृष्टि और प्रलय प्रतिपल होते रहते हैं। समष्टि अर्थ में सृष्टि और प्रलय कल्पान्तर में होते हैं। किन्तु इस सृष्टि और प्रलय का कोई सचेतन कर्ता नहीं है। मीमांसा और न्याय-वैशेषिक के सृष्टि-सिद्धान्त में अन्यथा समानता होते हुए भी एक मौलिक अन्तर है कि न्याय-वैशेषिक का सृष्टिवाद एक आरम्भवाद है। इसके अनुसार प्रलय के उपरान्त और सर्ग के आदि में परमाणुओं की अवस्था अक्रिय और अविचल होती है, अतएव इन गति-हीन परमाणुओं में आरम्भिक गति और क्रिया का संचार कर उनके संयोग से सृष्टि क्रम का आरम्भ करने वाले सर्वशक्तिमान् ईश्वर की कल्पना की गई है। किन्तु मीमांसा में सर्ग के लिए ईश्वर की कल्पना आवश्यक नहीं समझी गई है। इस दृष्टि से मीमांसा एक निरीश्वरवादी दर्शन है, यद्यपि यह बड़े विस्मय की बात है कि पूर्ण रूप से वैदिक दर्शन होते हुए भी मीमांसा में ईश्वर के लिए स्थान नहीं है। प्राचीन मीमांसक तो वैदिक कर्म को प्राधान्य देते हुए ईश्वर की सत्ता के विषय में मौन हैं। किन्तु उत्तर-कालीन मीमांसकों ने स्पष्ट रूप से ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन किया है। अस्तु, सृष्टि-कर्त्ता तथा विश्व-नियन्ता दोनों ही अर्थों में मीमांसा को ईश्वर की अपेक्षा नहीं है। सृजन और विश्व-नियमन दोनों की मीमांसा दर्शन में एक सामान्य सिद्धान्त के आधार पर व्याख्या की गई है जिसे 'अपूर्व' कहते हैं। जीवों के कर्म से एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है जो स्वतः कर्म-फल का नियमन करती है। इस प्रकार यह 'अपूर्व' सामान्य कर्म सिद्धान्त ही है किन्तु नैतिक सिद्धान्त होने के साथ साथ यह एक तात्विक सिद्धान्त भी है। इस अर्थ में यह 'अपूर्व' की कल्पना वेद के 'ऋत' की कल्पना के समान है। तात्विक सिद्धान्त होने के कारण 'अपूर्व' एक स्वतः प्रवर्तमान नियम है, इसके

प्रयोजन के लिए अन्य नियन्ता (ईश्वर) की अपेक्षा नहीं है। जीवों के व्यक्तिगत 'अपूर्व' से उनके जन्म-जन्मान्तर के रूप का नियमन होता है और जगत के समस्त जीवों के 'अपूर्व' की समष्टि से कल्प-कल्प में सृष्टि का आविर्भाव होता है। 'अपूर्व' की शक्ति से आविर्भूत होने पर भी सृष्टि का रूप 'यथा-पूर्व' ही रहता है अर्थात् जिस प्रकार नित्य वेदों का उसी अविकल रूप में कल्प-कल्प में आविर्भाव होता है उसी प्रकार नित्य जगत् का यथा-पूर्व रूप में ही कल्प-कल्प में नवीन सर्ग होता है। अस्तु, सृजन और प्रलय कोई कालगत घटनाएं नहीं हैं वरन् अनादि और अनन्त विश्व के निरन्तर प्रवर्तमान क्रम हैं। इस क्रम के अनादि होने के कारण इसके आदि संचालक के रूप में ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है।

४—आचार और मोक्ष मीमांसा—

मीमांसा सम्प्रदाय ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड का ही एक शास्त्रीय व्यवस्थित रूप है। अतः उसमें कर्म-काण्ड की ही प्रधानता है। यह कर्म-काण्ड ही मीमांसा दर्शन के आचार-शास्त्र का सर्वस्व है। मीमांसा के ज्ञान-शास्त्र में वेद को सर्वोपरि प्रमाण माना गया है। मीमांसा के अनुसार वेद का मुख्य तात्पर्य कर्म-काण्ड में ही है। वेद में कर्म-विधियों का ही प्राचुर्य है, यद्यपि इनके अतिरिक्त वेदों में कुछ ऐसे वाक्य भी हैं जो विधि-रूप नहीं हैं वरन् एक तथ्य के निर्वचन मात्र हैं। उदाहरण के लिये 'ब्राह्मणो यजेत' अर्थात् 'ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिये,' यह एक विधि-वाक्य है। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् 'वायु एक क्षिप्रगतिवान् अथवा वेगगामी देवता है,' यह केवल एक तथ्य का निर्वचन है; इसमें किसी कर्म का आदेश न होने के कारण यह विधि-वाक्य नहीं है। वेदों में उक्त दोनों ही प्रकार के वाक्य पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। प्रश्न यह उठता है कि वेद का मुख्य तात्पर्य किसमें है। दोनों में से किसी एक प्रकार के वाक्यों में वेद का मुख्य तात्पर्य मानने

पर दूसरे प्रकार के वाक्यों को गौण मान कर ही उनकी व्याख्या की जा सकती है। पूर्व और उत्तर मीमांसाओं में क्रमशः पहले और दूसरे प्रकार के वाक्यों में वेद का मुख्य तात्पर्य माना गया है तथा अन्य प्रकार के वाक्यों की गौण रूप से व्याख्या की गई है। पूर्व-मीमांसा के अनुसार वेद का मुख्य तात्पर्य विधि-वाक्यों में है जो मनुष्य को किसी कर्म विशेष के अनुष्ठान का आदेश देते हैं। किन्तु विधि-वाक्यों में वेद का मुख्य तात्पर्य मानने पर अन्य वाक्यों के, जो विधि-परक नहीं हैं, आनर्थक्य का प्रसंग उपस्थित होता है। इसका समाधान पूर्व-मीमांसा में इन वाक्यों को 'अर्थवाद' मान कर किया गया है। तथ्य मात्र का निर्वचन करने वाले ये विधि-रहित वाक्य अर्थवाद हैं। अर्थवाद का अर्थ व्याख्या, स्तुति, प्ररोचना अथवा उपचार मात्र है। वेद का मुख्य तात्पर्य 'विधि' में है। विधि-वाक्यों के अतिरिक्त अन्य वाक्य गौण तथा विधि के सहकारी हैं। वे अर्थवाद मात्र हैं अर्थात् किसी वस्तु या पदार्थ की स्तुति अथवा प्ररोचना-पूर्वक विधि के सहकारी हैं। अभिप्राय यह है कि इन वाक्यों में प्रायः विधि के आश्रय-भूत देवताओं अथवा पदार्थों की प्रशंसा की गई है। इस प्रशंसा का उद्देश्य यज्ञ-कर्ता की कर्म के प्रति प्रेरणा को जागरित और प्रवेगशील करना है। उदाहरण के लिए 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' में वायु के वेगवान होने का निर्वचन वायु देवता की प्रशंसा के लिये किया गया है और इस प्रशंसा का अभिप्राय वेगगामी देवता की शीघ्र-फलदायक वृत्ति का निर्देश कर यजमान को वायु की उपासना के लिये प्रेरित करना है।

अस्तु, वेद-विहित यज्ञ-कर्मों का अनुष्ठान ही मीमांसा के आचार दर्शन का सर्वस्व है। मीमांसा के अनुसार वेद ईश्वर की रचना नहीं वरन् नित्य और स्वतः सत्तावान् हैं। अतः इन कर्मानुष्ठानों का उद्देश्य ईश्वर को प्रसन्न करना नहीं वरन् विधि के आश्रय-भूत देवता को प्रसन्न कर अभीप्सित फल की प्राप्ति करना है। ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकृत करने पर भी मीमांसा में विविध देवताओं की सत्ता मानी गई है। ये

देवता विविध यज्ञ-कर्मों के आश्रय हैं। इन्हीं की प्रीति अथवा शान्ति के लिये यज्ञ-कर्मों का विधान किया गया है। यज्ञ-कर्म द्वारा देवताओं के प्रसन्न होने पर अभीप्सित फल का लाभ होता होता है। प्राचीन मीमांसा सम्प्रदाय में लौकिक और पारलौकिक पदार्थों को इष्ट फल माना गया है। अधिकांश यज्ञ-कर्म और अनुष्ठानों का उद्देश्य देवता को प्रसन्न कर पुत्र, वित्त आदि लौकिक तथा स्वर्गादि पारलौकिक फल प्राप्त करना है। इस दृष्टि से प्राचीन मीमांसा के आचार दर्शन में बाह्याचार का ही अधिक महत्व है; आन्तरिक नैतिक गुणों के विकास की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। विधि-पूर्वक वेद-विदित कर्म का अनुष्ठान ही सदाचार का मुख्य तात्पर्य है।

प्राचीन मीमांसा सम्प्रदाय में बाह्याचार की प्रधानता के कारण वेद-विहित कर्मों के विधिवत् अनुष्ठान का महत्व बढ़ता गया। कर्म की अपेक्षा उसके अनुष्ठान की प्रक्रिया के अंग प्रत्यंग का अनुशीलन अधिक महत्वपूर्ण हो गया। इन यज्ञ प्रक्रियाओं की जटिलता के कारण ही ब्राह्मण युग में पुरोहितों के एक पृथक् वर्ग का आविर्भाव होने लगा था। यज्ञ-विधि की प्रक्रियाओं के एकाधिकार ने इस वर्ग को उत्तरोत्तर शक्ति-सम्पन्न बनाया। पुरोहितों का महत्व देवताओं से अधिक हो गया। ब्राह्मण 'भूसुर' अर्थात् पृथ्वी के देवता कहलाने लगे। इस प्रकार देवताओं की अपेक्षा पुरोहित और यज्ञ के महत्व की वृद्धि मीमांसा के उत्तरकालीन सम्प्रदाय के विकास की मुख्य विशेषता है। उत्तरकालीन मीमांसकों के अनुसार कर्म का फल देवता की प्रसन्नता पर निर्भर नहीं वरन् यज्ञ प्रक्रिया की यथार्थता पर निर्भर है। शक्ति का आश्रय देवता नहीं, यज्ञ है। यज्ञ का विधिवत् अनुष्ठान यज्ञ-फल के लिये पर्याप्त है। पुरोहित यज्ञ के विधिवत् अनुष्ठान द्वारा यजमान को इष्ट फल प्रदान करने के लिये देवता को बाध्य कर सकता है। अस्तु देवताओं की प्रीति के स्थान पर यज्ञ का विधिवत् अनुष्ठान मीमांसा आचार दर्शन का सर्वस्व बन गया।

इन यज्ञ-विधियों का मूल वेदों में है। यज्ञों की अनुष्ठेयता के पीछे वेदों का अनिवार्य आदेश है। देवताओं के गौण होने के बाद तथा यज्ञ की विधिमात्र के पर्याप्त और प्रमुख हो जाने के बाद मीमांसा आचार-दर्शन का अगला विकास फल की गौणता के रूप में हुआ। यज्ञ-विधियों का आश्रय वेद के विधानों में है। वेद नित्य और स्वतः प्रमाण होने के कारण निरपेक्ष रूप से मान्य है। वेद-विधियों का पालन अर्थात् वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किसी लौकिक अथवा पारलौकिक फल की अपेक्षा से सम्बद्ध नहीं है वरन् वेदों में विहित मात्र होने के कारण उनका पालन आवश्यक है। वेद का आदेश अनिवार्य है। वैदिक कर्मों के अनुष्ठान न करने से पाप होता है जिसे 'प्रत्य-वाय' कहते हैं। वेद में तीन प्रकार के कर्मों का विधान किया गया है—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। 'नित्य' कर्म वे हैं जिनका प्रतिदिन अनुष्ठान आवश्यक है, जैसे—सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि। 'नैमित्तिक' कर्म वे हैं जिनका अनुष्ठान नित्य आवश्यक नहीं किन्तु उनका निमित्त-भूत अवसर उपस्थित होने पर यथासमय उनका अनुष्ठान आवश्यक है, यथा—उपनयन, चातुर्मास्य आदि। इन नित्य और नैमितिक कर्मों का कोई भौतिक फल नहीं होता। इनके अनुष्ठान से केवल वेद-विधि के अतिक्रमण-रूप प्रत्यवाय का अनव-काश मात्र होता है। प्रत्यवाय से बचने के लिए इनका करना आवश्यक है। उत्तरकालीन मीमांसा में ये नित्य और नैमित्तिक कार्य ही मुख्य माने गये हैं; यद्यपि इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के कार्य भी हैं जो किसी लौकिक अथवा पारलौकिक फल की कामना से प्रेरित होने के कारण 'काम्य' कर्म कहलाते हैं। नित्य और नैमित्तिक कर्मों का आधार वेद की विधियों में होने के कारण और इन विधियों के अनिवार्य होने के कारण मीमांसा का आचार शास्त्र एक प्रकार के नियमवाद का रूप ग्रहण कर रहा था।

किन्तु आगे चल कर मीमांसा को अन्य दर्शनों के समकक्ष बनाने की दृष्टि से उसमें एक प्रकार के मोक्षवाद का भी समावेश होने लगा। प्राचीन मीमांसा में यज्ञ-कर्मों के द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर अभीप्सित फल की प्राप्ति ही परमार्थ मानी गई थी। आगे चल कर प्रत्यवाय मात्र का निवारण कर्म का प्रमुख उद्देश्य बन गया। अन्त में मोक्ष की प्राप्ति को जीवन का परमार्थ माना जाने लगा। आत्मा की कल्पना के न्याय-वैशेषिक के समान होने के कारण मीमांसा की मोक्ष की कल्पना भी न्याय-वैशेषिक के समान ही है। मोक्ष आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति है। वह आत्मा की एक ऐसी अवस्था है जिसमें चेतना का विलय हो जाने के कारण सुख-दुःख का भी अवसान हो जाता है। इस मोक्ष की प्राप्ति का साधन आत्म-संस्कार और निष्काम कर्म है। नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से पूर्व दुरितों का क्षय होता है तथा कर्तृत्व-भावना और फल-कामना के त्यागपूर्वक कर्म करने से आत्म-संस्कार होता है, साथ ही कर्म-फल के क्षय-पूर्वक मोक्ष प्राप्त होता है। यह मोक्ष वेदों का आनन्दमय स्वर्ग नहीं वरन् चैतन्य-विहीन आत्मा की दुःख-विहीन तथा निरानन्द अवस्था है।

अध्याय ३

उत्तर-मीमांसा अथवा वेदान्त

१—परिचय, साहित्य और परम्परा

ईसा की छुटी शताब्दी के बाद बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ साथ वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के लक्षण प्रतीत होने लगे। कुमारिल भट्ट ने जिस धार्मिक और दार्शनिक क्रान्ति का सूत्रपात किया उसका पर्यवसान शंकराचार्य के वेदान्त मत में हुआ। कुमारिल की क्रान्ति का आधार ब्राह्मण ग्रन्थों पर आश्रित महर्षि जैमिनि का **पूर्व मीमांसा सूत्र** तथा उसमें अभिप्रेत वैदिक कर्म-काण्ड था। शंकराचार्य की क्रान्ति का आधार उपनिषदों पर आश्रित महर्षि बादरायण का **ब्रह्म सूत्र** और उसमें अभिप्रेत औपनिषद अध्यात्मवाद था। अस्तु, कुमारिल और शंकराचार्य की क्रान्ति प्राचीन वैदिक धर्म के पुनरुत्थान और पुनर्विधान की चेष्टा मात्र थी। एक प्रकार से इस क्रान्ति का आरम्भ बौद्ध धर्म के उदय के बाद ही हो गया था। जैमिनि और बादरायण के 'सूत्रों' में हमें उस क्रान्ति का आरम्भिक रूप मिलता है। किन्तु बौद्ध धर्म के प्रबल प्रचार के कारण कई शताब्दियों तक इस क्रान्ति की गति मन्द रही। बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ उक्त दो आचार्यों ने उस क्रान्ति की पताका का उन्नयन किया। इन्होंने प्राचीन परम्परा के आधार पर वैदिक धर्म और दर्शन के कर्म-काण्ड और अध्यात्म दोनों पक्षों का क्रमशः पुनर्विधान किया। जिस प्रकार ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड का पर्यवसान उपनिषदों के अध्यात्मवाद में हुआ उसी प्रकार कुमारिल की क्रान्ति का पर्यवसान शंकराचार्य के वेदान्त मत में हुआ। केवल बाह्य आचार-कर्म से मनुष्य की आत्मा का सन्तोष नहीं हो सकता, इसी कारण वैदिक कर्म-काण्ड का विकास उपनिषदों के

अध्यात्मवाद में हुआ था। इसी कारण कुमारिल द्वारा पूर्वमीमांसा दर्शन के पुनर्विधान के पश्चात् शंकराचार्य द्वारा वेदान्त के अध्यात्म-दर्शन का प्रचार उस युग के दार्शनिक पुनर्जागरण की आवश्यक पूर्ति थी। अपेक्षित अध्यात्म-दर्शन की विशद और व्यवस्थित व्याख्या करने के कारण ही शंकराचार्य भारतवर्ष के सबसे बड़े दार्शनिक विचारक माने जाते हैं। वेदान्त को भारतीय दर्शनों का चूड़ामणि बनाने का बहुत कुछ श्रेय शंकराचार्य को है।

अस्तु, वेदान्त-दर्शन का मूल वेदों में है। जिस प्रकार पूर्व-मीमांसा वेदों के पूर्व-भाग-भूत ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड का दार्शनिक विकास है उसी प्रकार वेदान्त वेदों के उत्तर-भाग उपनिषदों के अध्यात्मवाद का विकास है। ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिषद वेद के उत्तर भाग हैं, अतः उपनिषदों के तत्व की मीमांसा होने के कारण वेदान्त को 'उत्तर मीमांसा' भी कहते हैं। उपनिषद वेद के अन्तिम भाग भी हैं, अतः उत्तर मीमांसा को 'वेदान्त' भी कहते हैं। वेदान्त-दर्शन भारतीय दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिषद वेदों के अन्तिम भाग भी हैं, साथ ही साथ दार्शनिक दृष्टि से वेदान्त वैदिक विचारधारा का चरम विकास-बिन्दु भी है।

मूल रूप में केवल उपनिषद ही वेदान्त हैं किन्तु आगे चल कर उपनिषदों के आधार पर जिस धार्मिक और दार्शनिक परम्परा का विस्तार हुआ वह सम्पूर्ण परम्परा वेदान्त के नाम से विख्यात है। इस प्रकार वेदान्त-परम्परा के विकास के तीन चरण हैं जो 'प्रस्थान त्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वेदों का अंग होने के कारण उपनिषद 'श्रुति प्रस्थान' कहलाते हैं। वेदान्त का श्रौत स्वरूप उपनिषदों में पाया जाता है। यही वेदान्त का मौलिक रूप और प्रथम प्रस्थान है। वेदान्त का द्वितीय प्रस्थान भगवद्गीता है जो 'स्मृति प्रस्थान' कहलाती है। उपनिषदों में निहित तत्व के दिव्य अनुभव साधारण जन के लिए दुर्लभ हैं। श्रौत होने के कारण वैदिक वर्णाश्रम-नियम के अनुसार

द्विजेतर जनों के लिए उपनिषदों का अध्ययन निषिद्ध भी है। एक सुन्दर, सुगम और सार्वजनिक रूप में वेदान्त के तत्व और परम्परा का परिचय कराने का अद्भुत कार्य भगवद्‌गीता की सफलता और लोक-प्रियता का कारण है। सरल और मनोहर कविता-शैली में आध्यात्मिक तत्वों का निदर्शन करने के कारण भगवद्‌गीता भारतीय जनता का कण्ठहार बन गई है। श्रद्धावान जनों के लिए तो वह सत्य का अन्तिम शब्द है। किन्तु भावुक जनों की भाँति मनीषियों के लिए वह पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं। मनुष्य की भावना को सत्य का संकेत चाहिए। विरोधी प्रतीत होने वाले तत्वों का भी भावना के औदार्य में समन्वय हो जाता है। किन्तु मनुष्य की बुद्धि भावना के लाक्षणिक समन्वय से सन्तुष्ट नहीं होती। वह कठोर तर्क-संगति चाहती है। यह कठोर तर्क-संगति विरोधियों को सन्तुष्ट करने के लिए और भी आवश्यक है। इसी द्विविध बौद्धिक आवश्यकता की पूर्ति बादरायण के ब्रह्म-सूत्रों में हुई है। तर्क-संगति की दृष्टि से वेदान्त-तत्वों की व्यवस्था के प्रयास होने के कारण ब्रह्म-सूत्र वेदान्त के 'तर्क-प्रस्थान' कहलाते है। उनमें तर्क-संगति के आधार पर उपनिषदों के वेदान्त-तत्वों का समन्वय करने की चेष्टा की गई है।

सूत्र एक संक्षेप शैली की रचना है। अतः विषय में पर्याप्त होते हुए भी बादरायण के ब्रह्म-सूत्र अर्थ में अत्यन्त कूट हैं। स्वतन्त्र रूप से सूत्रों का आशय समझना अत्यन्त कठिन है। सूक्ष्मता और सन्देह के कारण ब्रह्मसूत्रों के व्याख्यान में मतभेद की सम्भावना स्वाभाविक है। सूक्ष्मता के कारण ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या की अपेक्षा हुई। अनेक आचार्यों ने अपने भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से संक्षिप्त ब्रह्मसूत्रों पर विशाल 'भाष्य' रचे। अस्तु, इन भाष्यों के रूप में वेदान्त मत की परम्परा का विस्तार हुआ। प्रत्येक आचार्य ने अपने भाष्य में एक भिन्न रूप से वेदान्त की व्याख्या की और एक भिन्न मत के प्रतिपादन का प्रयास किया। इस प्रकार एक ही ब्रह्मसूत्र के आधार पर अनेक

वेदान्त-सम्प्रदायों का विस्तार हुआ। इनमें शंकराचार्य का अद्वैत मत तथा रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत मत सब से अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं। शंकर और रामानुज उत्तरकालीन भारतीय चिन्ताकाश के सूर्य-चन्द्र हैं। शंकराचार्य ने तेजस्वी प्रभात सूर्य की भाँति भ्रान्ति और अविश्वास के मेघों को छिन्न कर वेदान्त के अभूत आलोक का विस्तार किया। रामानुज ने शंकराचार्य के अद्वैत के उज्ज्वल आलोक से चकित तथा तीव्र तेज से विस्मित लोक को भक्ति की मधुर-राका की दिव्य शान्ति और मधुर आनन्द का आस्वादन कराया।

ब्रह्म-सूत्रों पर रचित **शारीरक भाष्य** शंकराचार्य का मुख्य ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य ने दस प्राचीन उपनिषदों तथा गीता पर भी भाष्य रचे हैं। किन्तु उनके बाद अद्वैत वेदान्त का विकास ब्रह्मसूत्र भाष्य के आधार पर ही हुआ है। शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य पर वाचस्पति मिश्र (नवीं शताब्दी) की **भामती** नामक टीका सबसे प्रसिद्ध और महत्व-पूर्ण है। सर्व-शास्त्र-टीका-कृत वाचस्पति की रचनाओं में **भामती** अपर रत्न है। भामती अद्वैत वेदान्त का एक अत्यन्त प्रौढ़ और कठिन ग्रन्थ है। भामती पर अमलानन्द (१३वीं शताब्दी) की **कल्प-तरु** नामक उप-टीका है। अप्पय दीक्षित (१६वीं शताब्दी) ने **कल्पतरु-परिमल** नाम से **कल्प-तरु** का व्याख्यान किया है। श्रीहर्ष (१२वीं शताब्दी) का **खण्डन-खण्ड-खाद्य** तथा चित्सुखाचार्य की **तत्त्व-दीपिका** अद्वैत न्याय के प्रसिद्ध, प्रामाणिक और प्रौढ़ ग्रन्थ हैं। धर्मराज अध्वरीन्द्र (१६वीं शताब्दी) की **वेदान्त परिभाषा** और सदानन्द का **वेदान्त-सार**, न्याय-वैशेषिक के **न्याय-सिद्धान्त मुक्तावली** तथा **तर्क-संग्रह** की भांति आधुनिक अद्वैत-वेदान्त के प्रसिद्ध पाठ्य ग्रन्थ हैं।

ब्रह्मसूत्रों पर रामानुजाचार्य द्वारा रचित भाष्य **श्री भाष्य** के नाम से विख्यात है। श्री भाष्य पर सुदर्शन सूरि की **श्रुति प्रकाशिका** नामक प्रसिद्ध टीका है। श्री भाष्य के अतिरिक्त **गद्यत्रय, वेदान्त-दीप, वेदार्थ संग्रह,** और **वेदान्त-सार** रामानुज की प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

रामानुज के बाद वेंकटनाथ जो वेदान्त-देशिक के नाम से विख्यात हैं विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के सबसे प्रमुख आचार्य थे। इनकी अनेक रचनाओं में **शतदूषणी** अधिक प्रसिद्ध और उल्लेखनीय है। इसमें विशिष्टाद्वैत मत की दृष्टि से अद्वैतवाद के विरुद्ध सौ आक्षेप किये गये हैं।

२—शंकर और रामानुज

शंकर और रामानुज वेदान्त परम्परा के दो मुख्य प्रतिनिधि हैं। उपनिषदों में प्राप्त होने वाली दो मुख्य विचार-धाराओं का विकास शंकराचार्य के अद्वैत-वाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैत-वाद में हुआ है। यद्यपि ये दोनों ही आचार्य प्राचीन वेदान्त के प्रतिनिधि हैं, उनके सिद्धान्तों में मौलिक भेद है। दोनों ने ब्रह्मसूत्रों की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की हैं और उपनिषदों के आधार पर भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है। सामान्यतः विद्वानों का मत है कि शंकराचार्य कृत वेदान्त की व्याख्या उपनिषदों की प्रधान विचार-धारा के अधिक अनुकूल है।। अतः शंकराचार्य का अद्वैतवाद ही वेदान्त का सबसे अधिक मान्य रूप है। उत्तर कालीन विचार परम्परा में तो वेदान्त शांकर-वेदान्त का समानार्थक हो गया है। रामानुज ने अपनी वेदान्त विषयक व्याख्या में कुछ अर्वाचीन उपनिषद, पुराण, पाञ्चरात्र आदि का अवलंब भी लिया है और कुछ उपनिषदों के सगुण-समर्थक अंशों के आधार पर सगुण परमेश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया है। इन्हीं आधारों पर उन्होंने जीव के व्यक्तिगत अस्तित्व और जगत् की सत्ता की सिद्धि करने की चेष्टा की है। इन अवान्तर आधारों के उपयोग और प्रभाव के कारण रामानुज का मत मूल वेदान्त से कुछ भिन्न हो गया है, ऐसा विश्वास किया जाता है। ईश्वर के सगुण रूप और उसकी भक्ति का प्राचीन उपनिषदों में कुछ स्थलों पर निर्देश होते हुए भी निर्गुण परब्रह्म और ज्ञान का ही प्राधान्य हैं, अतः शंकराचार्य को अद्वैत

परक व्याख्या ही उपनिषदों के मूल मन्तव्य के अधिक निकट मानी जाती है।

सिद्धान्त की दृष्टि से शंकराचार्य का अद्वैतवाद विशुद्ध ब्रह्मवाद है। अद्वैतवाद के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही चरम सत्य है। ब्रह्म के अतिरिक्त जीव और जगत् की सत्ता मिथ्या है। माया अथवा अविद्या के कारण जीव और जगत् का अस्तित्व 'प्रतीत' होता है किन्तु वह रज्जु में सर्प की प्रतीति के समान ही मिथ्या है। ज्ञान के आलोक के उदय होने पर यह आभास विलीन हो जाता है और केवल ब्रह्म शेष रह जाता है। अद्वैतवाद के अनुसार यह ब्रह्म निर्गुण है। सगुण रूप में ब्रह्म की कल्पना अनन्त ब्रह्म को सीमित करना है। यह सगुण ब्रह्म पर-ब्रह्म नहीं किन्तु अपर-ब्रह्म है। माया से उपहित यह अपर-ब्रह्म जीव का उपास्य और जगत् का स्रष्टा है। वस्तुतः जीव ब्रह्म-स्वरूप ही है, अतः जीव और ब्रह्म में उपास्य तथा उपासक का भेद सम्भव नहीं। अद्वैतवाद के अनुसार जीवन का लक्ष्य जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करना है। यह तादात्म्य का अनुभव ही आत्मानुभव अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुभव है। यही मोक्ष अथवा परमार्थ है। इस मोक्ष का मुख्य साधन ज्ञान है, क्योंकि यह किसी बाह्य लक्ष्य की प्राप्ति नहीं वरन् अपने अन्तर्तम सत्य का साक्षात्कार है। भक्ति में उपास्य और उपासक का भेद सदा रहता है और कर्म एक काल-गत प्रक्रिया है तथा उसका लक्ष्य सदा बाह्य होता है। अतः आत्मतत्व के साक्षात्कार अथवा ब्रह्मानुभव के लिए भक्ति और कर्म दोनों ही अनुपयुक्त हैं। यद्यपि भक्ति और कर्म मोक्ष के साक्षात् कारण नहीं हैं किन्तु वे ज्ञान के आरात् उपकारक हो सकते हैं। भक्ति और नैतिक कर्म के द्वारा आत्म-संस्कार-पूर्वक ही मनुष्य ज्ञान का अधिकारी बनता है। अस्तु अद्वैतवाद के अनुसार ज्ञान मोक्ष का मुख्य साधन है और भक्ति तथा कर्म उसके सहायक हैं। ज्ञान द्वारा तत्व का साक्षात्कार होने पर मनुष्य को जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का अनुभव होता

है। यह अनुभव ही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष की अवस्था में जीव का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। जीवत्व की पृथक् सत्ता ब्रह्म की अनन्तता में विलीन हो जाती है अथवा परिच्छिन्न जीव अनन्त ब्रह्म-रूप हो जाता है। साथ ही मोक्ष की अवस्था में जगत् का अस्तित्व भी विलीन हो जाता है। जीव और जगत् दोनों की सत्ता केवल व्यावहारिक है अर्थात् जीव के बन्धन की अवस्था में जीवन के व्यवहार काल में उनकी प्रतीति होती है। पारमार्थिक दृष्टि से वे दोनों मिथ्या तथा माया-मूलक हैं। तात्विक दृष्टि से जो माया है वही लौकिक दृष्टि में व्यवहार है। मोक्ष प्राप्त होने तक यह व्यावहारिक दृष्टिकोण माननीय है, किन्तु मोक्ष प्राप्त होने पर पारमार्थिक दृष्टि से इनका बोध हो जाता है। अस्तु, मोक्ष-पर्यन्त जीव और जगत् सत्य हैं; तथा समस्त लोक-व्यवहार पालनीय है। मोक्षावस्था में अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म में सबका विलय हो जाता है। अद्वैतवाद के अनुसार यही हमारी आध्यात्मिक आकांक्षा और नैतिक साधना का पर्यवसान है।

रामानुज को शंकराचार्य का यह द्विविध दृष्टि-कोण मान्य नहीं। उनके अनसार सत्य का केवल एक ही दृष्टि-कोण है और ज्ञान का समस्त विषय-जात सत्य है। विषय और विषयी का भेद ज्ञान का एक मौलिक और नित्य भेद है, अतः किसी भी अवस्था में इस भेद का निराकरण नहीं किया जा सकता। यह भेद केवल व्यवहारिक नहीं किन्तु पारमार्थिक भेद है। जिस प्रकार विषय और विषयी का भेद नित्य है उसी प्रकार उपास्य और उपासक का भेद भी सनातन है। अस्तु, रामानुज के अनुसार ब्रह्म के साथ साथ जीव और जगत् भी चरम सत्य है। द्विविध दृष्टि-कोण की भाँति माया का सिद्धान्त भी रामानुज को मान्य नहीं। जीव और जगत् माया की व्यावहारिक सृष्टि नहीं वरन् नित्य और पारमार्थिक सत्ताएं हैं। किन्तु जीव और जगत् की पारमार्थिक सत्ता का अभिप्राय उनकी स्वतन्त्रता नहीं। सत्य और सनातन होते हुए भी जीव और जगत् परमेश्वर के आधीन हैं। जगत् पर-

मेश्वर की सृष्टि है और जीव परमेश्वर का अंश है। अस्तु एक परब्रह्म परमेश्वर ही पूर्ण स्वतन्त्र और परम सत्ता है। अतएव रामानुज का मत भी इस दृष्टि से अद्वैतवाद ही है। किन्तु रामानुज का पर-ब्रह्म शंकर के ब्रह्म की भांति निर्गुण, निर्विशेष चिन्मात्र नहीं है वरन् वह सविशेष और सगुण परमेश्वर है। इसी विशिष्टता के कारण यह मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। यह जीव और जगत् से विशिष्ट परमेश्वर अखिल सत्ता का अन्तर्यामी है। वह विश्व की आत्मा है। जीव और जगत् उसकी देह हैं। इसका अभिप्राय जीव की स्थूलता नहीं किन्तु परमात्मा के साथ जीव और जगत् के सम्बन्ध का निर्देश है। जिस प्रकार देह आत्मा के आधीन है उसी प्रकार जीव और जगत् भी परमेश्वर के आधीन हैं। जिस प्रकार आत्मा देह का अन्तर्यामी उसी प्रकार परमेश्वर भी जीव और जगत् का अन्तर्यामी है। यह परमेश्वर सगुण और उपास्य है, निर्गुण और विर्विशेष नहीं। सत्, चित और आनन्द उसके मुख्य गुण हैं; इसके अतिरिक्त वह अखिल-कल्याण-मय गुणों का अर्णव है। इस सगुण परमेश्वर की प्राप्ति ही जीवन का परम साध्य है। यही परमार्थ अथवा मोक्ष है। रामानुज के अनुसार यह मोक्ष जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य नहीं है। जीव और ब्रह्म का तादात्म्य असम्भव और अकल्पनीय है। जीव परमेश्वर का अंश है और उसके आधीन तथा उससे अविभक्त होते हुए भी उसकी एक विविक्त सत्ता है। मोक्ष की अवस्था में भी जीव का विविक्त अस्तित्व रहता है, यद्यपि उसका ज्ञान-परिच्छेद विलीन हो जाता है। जीव की सत्ता की भांति ही जगत् की सत्ता भी मोक्ष-काल में विलय नहीं होती। तादात्म्य-रूप न होने के कारण यह मोक्ष ज्ञान द्वारा नहीं वरन् भक्ति द्वारा साध्य है। रामानुज के अनुसार भक्ति ही मोक्ष का परम साधन है। ज्ञान और कर्म सहकारी साधनों के रूप में मोक्ष में सहायक हो सकते हैं।

३—ब्रह्म

शंकराचार्य और रामानुज के सम्प्रदायों में मुख्य भेद उनकी सत्य विषयक धारणा में है। शंकराचार्य के अनुसार केवल एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है। व्यवहार में सत्य प्रतीत होने वाला जगत् माया की सृष्टि है और उसकी सनातन सत्ता नहीं है। वह अनादि है, किन्तु अनन्त नहीं है। हम उसके आरम्भ की व्याख्या नहीं कर सकते, किन्तु मोक्षावस्था में उसका अन्त असन्दिग्ध है। जीव का पृथक् और परिच्छिन्न अस्तित्व भी मिथ्या है। इस पृथक्त्व और परिच्छेद का कारण अनादि अविद्या है। ज्ञान द्वारा अविद्या के नाश होने पर इस पृथक्त्व-भाव का नाश हो जाता है और जीव का परिच्छेद ब्रह्म की अनन्तता में विलय हो जाता है। ब्रह्म-भाव को प्राप्त होने पर जीव-रूप से जीव का अस्तित्व नहीं रहता क्योंकि ब्रह्म से उसका तादात्म्य हो जाता है। अस्तु जीव और जगत् के माया-मूलक तथा उच्छेद्य होने के कारण केवल एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही अद्वैतवाद के अनुसार परम सत्य है।

अद्वैतवाद का यह ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष है। निर्गुण होने के कारण किन्हीं भी गुणों के रूप में उसका निर्वचन सम्भव नहीं है। समस्त गुण परिच्छेद के व्यञ्जक , अतः अनन्त ब्रह्म की सगुण रूप में कल्पना सम्भव नहीं है। न्याय दृष्टि से किन्हीं विधेयक वचनों द्वारा ब्रह्म का निर्वचन सम्भव नहीं। केवल निषेधात्मक निर्वचनों से ही उसका निर्देश किया जा सकता है। 'नेति' 'नेति' उपनिषदों का ब्रह्म-वाचक मूल मन्त्र है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म समस्त वस्तुओं और कल्पनाओं से परे है। वह इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वाणी आदि सबसे परे है। अस्तु इस परात्पर ब्रह्म की न कल्पना सम्भव है और न निर्वचन। निर्विशेष होने के कारण वह समस्त भेदों से रहित है। बुद्धि का परिज्ञान और वाणी का निर्वचन सब भेद-मूलक है। अतः यह निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म बुद्धि और वचन का विषय नहीं है। किन्तु

निर्गुण और निर्विशेष होने के कारण ब्रह्म अभाव रूप नहीं है। 'नेति' 'नेति' का तात्पर्य केवल ब्रह्म की परात्परता तथा अनिर्वचनीयता है, ब्रह्म को सत्ता का अभाव नहीं। ब्रह्म के विषय में विधेयों की अयुक्तता का अभिप्राय ब्रह्म के अस्तित्व का निषेध नहीं। साक्षात् अनुभव की अवस्था में ब्रह्म के इस भाव-रूप का प्रत्यक्ष अनुभव सम्भव है।

अस्तु, परात्पर और अनिर्वचनीय होते हुए भी अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की 'सत्' रूप से कल्पना की गई है। ब्रह्म सनातन सत्तावान् है इसीलिए वह परम सत्य है। किन्तु ब्रह्म सन्मात्र नहीं है। 'सत्' होने के साथ साथ वह 'चित्' तथा 'आनन्द' रूप भी है। ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप की कल्पना का अद्वैत वेदान्त में प्रमुख स्थान है। ब्रह्म सनातन सत्ता, असीम ज्ञान और अनन्त आनन्द रूप है। सांख्य के पुरुष की भाँति वेदान्त का ब्रह्म केवल चिन्मात्र नहीं है, वह अनन्त आनन्द-मय भी है। इस रूप से ब्रह्म लोक के अखिल पदार्थ-जात से भिन्न और परे हैं। प्रत्येक लौकिक वस्तु की सत्ता क्षणिक है, नित्य नहीं। जगत् के पदार्थ परिवर्तन-शील हैं चिरस्थायी नहीं। इनके विपरीत ब्रह्म अपरिणामशील है तथा उसकी सत्ता नित्य है। नित्य सत्तावान तथा अपरिणामशील होने के कारण वह परम सत्य है। नित्यता सत्य का लक्षण है। यह नित्य ब्रह्म परिवर्तनशील जगत् का आधार और सार है। लोक का चैतन्य भी परिच्छिन्न है तथा उसका आनन्द भी सीमित और अल्पस्थायी है। ब्रह्म का चैतन्य असीम और आनन्द अनन्त है। इस प्रकार यह परात्पर सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म लोकातीत होते हुए भी लौकिक प्रत्ययों की पराकाष्ठा है।

लोकातीत और परात्पर होते हुये भी यह ब्रह्म विश्व का आधार और जीवन का सार है। समस्त संसार का मूल ब्रह्म में तथा जीवन की साधना का पर्यवसान उसके अनुभव में माना गया है। ब्रह्म-कारणवाद सभी वेदान्तों का प्रमुख सिद्धान्त है। उपनिषदों में ब्रह्म को जगत् का कारण माना गया है। ब्रह्म से अखिल सृष्टि-जात का उदय

होता है, ब्रह्म में ही विश्व की स्थिति है और अन्त में ब्रह्म में ही उसका विलय हो जाता है। ब्रह्म सृष्टि के उद्गम का मूल, उसकी स्थिति का आधार और विश्व के विलय का आश्रय है। ब्रह्म-सूत्रों का तो मुख्य विषय ही ब्रह्म कारण-वाद है। ब्रह्म-सूत्र का आरम्भ ब्रह्म-जिज्ञासा से होता है और दूसरे ही सूत्र में ब्रह्म के लक्षण का निर्देश कर उस जिज्ञासा का समाधान किया गया है। ब्रह्म का यह लक्षण उपनिषदों के कारण-ब्रह्म के स्वरूप के समान ही है। ब्रह्म-सूत्र के अनुसार भी ब्रह्म जगत् के जन्म का मूल, स्थिति का आधार और विलय का आश्रय है। शेष ब्रह्म-सूत्र में अन्य सृष्टि-वादों के खण्डन-पूर्वक इसी ब्रह्म-कारण-वाद का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म का वस्तुतः सृष्टि के रूप में परिणाम होता है अथवा नहीं यह तो वेदान्त का बड़ा विवादास्पद विषय है, फिर भी सच्चिदानन्द तथा जगत् कारण रूप से ब्रह्म के निर्देश द्वारा उसके स्वरूप का संकेत अवश्य मिलता है। ब्रह्म की परिभाषा नहीं हो सकती, क्योंकि समस्त परिभाषा परिच्छेद-मूलक है और ब्रह्म अनन्त है। इसीलिए बादरायण ने ब्रह्म विषयक निर्देशों को 'लक्षण' न कह कर 'लिङ्ग' कहा है। ब्रह्म के स्वरूप का पूर्ण परिज्ञान तो ब्रह्मानुभव में ही हो सकता है किन्तु इन लिङ्गों द्वारा उस स्वरूप का कुछ आरम्भिक संकेत अवश्य किया जा सकता है। यह संकेत ही ब्रह्म साधना के मार्ग में प्रकाश-स्तम्भ हैं। इन संकेतों से एक और भ्रान्ति दूर हो जाती है कि अद्वैत का 'ब्रह्म' बौद्धों के 'शून्य' से भिन्न है। वह 'शून्य' नहीं वरन् 'पूर्ण' है। जगत्-कारण रूप से वह विश्व का आधार और सच्चिदानन्द रूप से वह जीवन का परम साध्य है।

रामानुज के अनुसार ब्रह्म निर्विशेष और निर्गुण नहीं हैं। यद्यपि ब्रह्म ही परम सत्य है, किन्तु वह ब्रह्म शक्ति, ऐश्वर्य, करुणा आदि गुणों से सम्पन्न तथा जीव और जगत् के विशेषों के विशिष्ट है। इसीलिए ब्रह्म को परम सत्य मानने के कारण अद्वैत होते हुए भी जीव और जगत् के

विशेषों के स्वीकरण के कारण रामानुज का मत विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है। अस्तु, रामानुज का ब्रह्म सगुण और सविशेष है। सविशेष होने के कारण विश्व के विविध-रूप विशेषों का उसमें निषेध नहीं वरन् अन्तर्भाव है। जीव और जगत् से परे होते हुए भी वह उनकी आत्मा तथा अन्तर्यामी सत्य है। जीव और जगत् मिथ्या नहीं वरन् सत्य हैं, यद्यपि स्वतन्त्र नहीं। जिस प्रका देह आत्मा के पराधीन तथा उससे अपृथक् होती है उसी प्रकार जीव और जगत् भी ब्रह्म के आधीन तथा उससे अपृथक् हैं। उनका विविक्त स्वरूप है, यद्यपि उनकी विभक्त सत्ता नहीं है। सगुण होने के कारण रामानुज का ब्रह्म शंकर के निर्गुण ब्रह्म की भांति अनिर्वचनीय नहीं है। रामानुज ने ब्रह्म को अनेक बार 'अखिल-कल्याण-गुण-गण-महोदधि' की संज्ञा से अभिहित किया है। रामानुज का ब्रह्म सम्पूर्ण सद्‌गुणों का आगार है। सत्, चित्, आनन्द उसके परम गुण हैं। किन्तु वह सत्, चित्, आनन्द आदि अनन्त सद्‌गुणों से सम्पन्न 'परमेश्वर' है, शंकराचार्य के ब्रह्म की भाँति सच्चिदानन्द-स्वरूप 'परम तत्व' मात्र नहीं। तात्पर्य यह है कि वह दिव्य व्यक्तित्व से युक्त भक्त का उपास्य ईश्वर है, अद्वैतवादी ज्ञानियों की तादात्म्य-साधना का अवैयक्ति परम-तत्व मात्र नहीं। सत्, चित्, आनन्द आदि उस परम पुरुष परमेश्वर के गुण हैं, स्वरूप मात्र नहीं। परमेश्वर का उपासक जीव ब्रह्म-स्वरूप नहीं वरन् उसका एक अंश मात्र है। अंश और अंशी के भेद के कारण ही यह उपासना सम्भव है। इस जीव की आराधना का उद्देश्य परमेश्वर की प्राप्ति है। ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव नहीं। शंकर के ब्रह्म की भाँति रामानुज का ब्रह्म भी जगत् का कारण है, किन्तु वह सृष्टि के परिणाम का अविकार्य आधार मात्र नहीं वरन् विश्व का स्रष्टा है। यह सृष्टि माया का विक्षेप मात्र नहीं वरन् परमेश्वर की वास्तविक सृष्टि होने के कारण सत्य है।

४—ईश्वर और माया

अन्य भारतीय दर्शनों की भांति वेदान्त सम्प्रदाय में भी ईश्वर का स्थान महत्व-पूर्ण है। शंकराचार्य और रामानुज दोनों ने ईश्वर के स्वरूप का बहुत कुछ वर्णन किया है। सामान्यतः ईश्वर-वादी दर्शनों में ईश्वर को जगत् का स्रष्टा और विश्व का नियन्ता माना जाता है। है। अनन्त रहस्यों से पूर्ण जगत् के सृजन और अनन्त जीवों के अनन्त कर्म-फलों की व्यवस्था पूर्वक विश्व-नियमन के लिए अनन्त ज्ञान अपेक्षित है। इसीलिए ईश्वर को प्रायः सर्वज्ञ और सर्व-शक्ति-सम्पन्न माना जाता है। स्रष्टा और नियन्ता रूप में ईश्वर की यह कल्पना शंकराचार्य और रामानुज दोनों में ही पाई जाती है, यद्यपि दोनों के मत में ईश्वर के स्थान और महत्व के विषय में भेद है।

शंकराचार्य के अद्वैतमत में जगत् की चरम सत्ता स्वीकृत नहीं की गई है। विश्व एक व्यावहारिक सत्य है। पारमार्थिक ज्ञान की अवस्था में उसका विलय हो जाता है। अतएव जगत् की सृष्टि की समस्या अद्वैत मत में कोई पारमार्थिक प्रश्न नहीं है। अतः जगत् के स्रष्टा के रूप में ईश्वर की भी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। पारमार्थिक दृष्टि से केवल निर्गुण, निराकार और निर्विकल्प ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। उसके अतिरिक्त और सब सत्ताएं व्यावहारिक सत्य मात्र हैं। ईश्वर भी एक व्यावहारिक सत्य ही है। वह निर्गुण और निर्विकल्प पर-ब्रह्म से भिन्न है। माया की उपाधि से युक्त होने पर यह निर्गुण पर-ब्रह्म ही सगुण परमेश्वर बन जाता है। यह सगुण ब्रह्म अथवा परमेश्वर ही जगत् का स्रष्टा और विश्व का नियन्ता है। माया ईश्वर की अद्भुत शक्ति है। इस अद्भुत शक्ति से ही जगत् का सृजन होता है। उत्तर वेदान्त में माया की शक्ति के दो कार्य माने गये हैं—आवरण और विक्षेप। माया की विक्षेप-शक्ति संसार की. उत्पत्ति का कारण है। आवरण-शक्ति जीवों की ज्ञान दृष्टि पर अवगुण्ठन का कार्य करती है। वह सत्य को उनकी दृष्टि से तिरोहित करती है। माया की

आवरण-शक्ति के कारण ही जीव अविद्या-वश होकर सत्य को नहीं पहचानते। आत्म-तत्व विषयक अज्ञान इसी आवरण-शक्ति का फल है। किन्तु यह माया जीव को ही विमोहित करती है। ईश्वर के आधीन होने के कारण वह उसे विमोहित नहीं कर सकती। आवरण-शक्ति ईश्वर के ज्ञान को आच्छन्न नहीं कर सकती। ईश्वर सर्वदा सर्वज्ञ है। वह अनन्त आलोक से उज्ज्वल चिर-निर्मेघ आकाश की भाँति शाश्वत प्रभा से पूर्ण है।

किन्तु यह ईश्वर एक व्यावहारिक सत्य मात्र है। स्रष्टा और नियन्ता ईश्वर की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार करने पर अद्वैत सिद्धान्त की हानि होती है। स्रष्टा की कल्पना में ईश्वर और जगत् का भेद तथा नियन्ता की कल्पना में ईश्वर और जीव का भेद निहित है। अद्वैतवाद में भेद के लिए स्थान नहीं। अतएव अभेदात्मक अद्वैतमत में न जगत् और जीव की पारमार्थिक सत्ता है और न उनका स्रष्टा तथा नियन्ता परमेश्वर ही परमार्थ सत्य है। इसी कारण शंकराचार्य ने सगुण परमेश्वर को अपर-ब्रह्म माना है। अद्वैतवाद का पर-ब्रह्म नितान्त निर्गुण और निर्विकल्प है। आत्म-तत्व के साक्षात्कार में ही उसका ज्ञान सम्भव है। यह साक्षात्कार ज्ञानियों के लिए ही सम्भव है। अज्ञानियों को यह निर्गुण और निर्विकल्प पर-ब्रह्म अकल्पनीय होने के कारण असत्कल्प अथवा शून्यवत् प्रतीत होगा। अतः उनके समाधान और साधन के लिए सुग्राह्य सगुण ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है। ज्ञानियों के लिए ईश्वर-भक्ति की अपेक्षा नहीं है; किन्तु ज्ञान स्वयं सुलभ नहीं है और ज्ञानी होना कठिन है। अतएव अज्ञानियों के अज्ञान-निवारण तथा ज्ञान-सम्पादन के लिए ईश्वर-भक्ति एक परमोत्तम साधन है। इस लोक में ईश्वर की उपासना से आत्म-संस्कार अथवा सत्व-शुद्धि होती है। सत्व-शुद्धि ज्ञान में अत्यन्त सहायक है। सत्व-शुद्धि द्वारा अन्तःकरण का मलापनयन होने पर ही आत्मा का अमल आलोक प्रकाशित होता है। चतरंग भक्ति के चारवाय से

अज्ञान घनों के विच्छिन्न होने पर तथा योग साधन के शीत स्पर्श-जन्य आसार से धूमिल वातावरण के स्वच्छ होने पर ही आत्मा के सूर्य का आलोक प्रस्फुटित होता है। इस प्रकार ईश्वर-भक्ति ज्ञान की अत्यन्त उपकारिका है। ज्ञान के अतिरिक्त भक्ति से ब्रह्म-लोक की प्राप्ति सम्भव है। ब्रह्म-लोक की प्राप्ति के बाद मोक्ष निश्चित है। ब्रह्म-लोक से जीव का मर्त्य लोक में पुनरागमन नहीं होता, वह वहां से मुक्त हो जाता है।

अस्तु अद्वैत मत में ईश्वर की कल्पना पारमार्थिक नहीं वरन् व्यावहारिक अथवा प्रयोजनवादी है। ईश्वर माया से उपहित अपर-ब्रह्म है। माया ईश्वर की शक्ति और सृष्टि का कारण है। विश्व माया से युक्त ब्रह्म का लीला-विलास है। इस माया का स्वरूप क्या है और ब्रह्म अथवा ईश्वर से उसका क्या सम्बन्ध है, यह वेदान्त का एक बड़ा जटिल प्रश्न है। शंकराचार्य ने माया को तत्व अथवा अन्यत्व रूप से अनिर्वचनीय माना है। माया न ब्रह्म से तद्रूप है और न ब्रह्म से भिन्न है। तद्रूप मानने पर माया का अस्तित्व विलीन हो जाता है और भिन्न मानने पर अद्वैत सिद्धान्त की हानि होती है। इसलिए तत्व अथवा अन्यत्व रूप से अनिर्वचनीय मानते हुए भी उसे ब्रह्म से अभिन्न माना है। शक्ति और शक्तिमान का अभेद व्यवहार में भी दृष्टिगोचर होता है। किन्तु ब्रह्म से अभिन्न मानने पर भी माया की सत् अथवा असत् रूप से व्याख्या नहीं की जा सकती। सत् मानने पर वह ब्रह्म से तद्रूप अथवा स्वतन्त्र-सत्तावान् हो कर भेद की कारक सिद्ध होती है। असत् होने पर वह अभावात्मक होने के कारण भाव-रूप जगत् की उत्पादिका नहीं हो सकती है। सत् और असत् दोनों कोटियों का माया में समवाय होने पर विरोध की उत्पत्ति होती है और इन दोनों से अतिरिक्त किसी तृतीय कोटि की कल्पना असम्भव है। अतः इस माया का स्वरूप क्या है, यह कहना कठिन है। वह

माया ही है और माया से आवृत जीव के द्वारा अकल्पनीय तथा अनिर्वचनीय है।

रामानुज के मत में यह माया मान्य नहीं है। रामानुज और उनके अनुयायियों ने शंकराचार्य के मायावाद का कठोर खण्डन किया है। विशिष्टाद्वैत मत में जगत् वास्तविक, ईश्वर की वास्तविक सृष्टि है। ईश्वर माया से उपहित अपर-ब्रह्म नहीं वरन् साक्षात् पर-ब्रह्म है। रामानुज के मत में पर-ब्रह्म और परमेश्वर में कोई भेद नहीं है। दोनों वस्तुतः एक ही हैं, अथवा सगुण परमेश्वर ही साक्षात् पर-ब्रह्म है। यह परमेश्वर ही पारमार्थिक सत्य है। पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टियों का भेद रामानुज को मान्य नहीं; सत्य की एक ही कोटि और उसका एक ही दृष्टि-कोण है। इस दृष्टि से ईश्वर, जीव और जगत् तीनों ही सत्य हैं। ईश्वर की स्वतन्त्र और सर्वोपरि सत्ता है। वह जगत् का स्रष्टा और विश्व का नियन्ता है। वह विश्व और जीव दोनों का अन्तर्यामी है। वह सब का आत्मा है। जीव और जगत् उसके शरीर हैं। जीव और जगत् की स्वतन्त्र और पृथक् सत्ता नहीं हैं। वे ईश्वर के आधीन, किन्तु उससे अपृथक् हैं। उनका विविक्त अस्तित्व है यद्यपि उनकी विभक्त सत्ता नहीं है। यह सगुण सविशेष पर-ब्रह्म परमेश्वर अखिल-कल्याण-मय गुणों का आकर है। सत्य, ज्ञान, आनन्द आदि उसके धर्म हैं। वह अनन्त ज्ञान-शक्ति और करुणा का भाण्डार है। विशिष्टाद्वैत का यह परमेश्वर अद्वैत के के निर्गुण ब्रह्म की भाँति अवैयक्तिक परम-तत्व मात्र नहीं वरन् वह दिव्य व्यक्तित्ववान् परमपुरुष है। दिव्य वैकुण्ठ लोक उसका मुख्य निवास है, यद्यपि अन्तर्यामी रूप से वह प्रत्येक जीव के हृदय में वर्तमान है। इस करुणामय परमेश्वर की उपासना से मनुष्य वैकुण्ठ-लोक की प्राप्ति कर सकता है और वैकुण्ठ के अनन्त आनन्द का भागी बन सकता है। विशिष्टाद्वैत मत में ईश्वर के लोक की प्राप्ति ही मोक्ष है और भक्ति उसका परम साधन है।

५—जगत्

जगत की सत्ता और उसकी सत्यता के विषय में शङ्कराचार्य और रामानुज के मतों में बड़ा भेद है। जगत् विषयक दृष्टि-कोण का भेद अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मतों के विरोध की विशेषता है। यह विरोध जगत् की अनुभवगत सत्ता और उसकी व्यावहारिक सत्यता के विषय में नहीं है। यह विरोध जगत् की पारमार्थिक सत्ता और उसकी चरम सत्यता के विषय में है। जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और वह साधारण लौकिक ज्ञान का असंदिग्ध सामान्य सत्य है, इतना तो शङ्कराचार्य को भी मान्य है। किन्तु शङ्कराचार्य की सत्य की परिभाषा के अनुसार त्रिकालाबाधित वस्तु ही चरम सत्य है। नित्य वर्तमान रहने वाले पदार्थ को ही पारमार्थिक सत्य माना जा सकता है। सर्वदा वर्तमानशील होने के कारण केवल आत्मा ही पारमार्थिक सत्य है। जगत् अनादि और व्यवहार काल में वर्तमान अवश्य है, किन्तु वह अनन्त नहीं। तात्पर्य यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष में उपलब्ध होने पर भी आत्मानुभव की पारमार्थिक अवस्था में जगत् का बाध हो जाता है। अतः व्यवहारिक दृष्टि से सत्य होते हुये भी जगत् पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं है। पारमार्थिक दृष्टि से एक मात्र ब्रह्म ही परम सत्य है, अन्य सब मिथ्या अथवा माया है। जीव और जगत् दोनों की प्रतीति का कारण अविद्या है। अविद्या के नाश होने पर आत्मानुभव की अवस्था में जीव का ब्रह्म से तादात्म्य और जगत् का विलय हो जाता है।

किन्तु जगत् की व्यवहारिक सत्यता अद्वैत मत में स्पष्ट रूप से स्वीकृत की गई है। आत्मानुभव की अवस्था में जगत् का बाध होने के पूर्व उसको सत्य ही मानना चाहिए। आत्मानुभव और ब्रह्म-तादात्म्य की प्राप्ति के पूर्व प्रत्यक्ष उपलब्ध होने वाले जगत् का निराकरण साहस मात्र है। मोक्ष के पूर्व तक व्यावहारिक दृष्टि-कोण ही रखना उचित है, क्योंकि वही व्यावहारिक अवस्था के अनुकूल है। पारमार्थिक

दृष्टि-कोण तो परमार्थ-ज्ञान की अवस्था में ही सम्भव और उचित है। अतः मोक्ष-पर्यन्त व्यवहार की सत्यता के कारण जगत् की व्यावहारिक सत्ता अद्वैतवाद में मान्य है। आत्मानुभव की अवस्था में परमार्थ-दृष्टि प्राप्त होने पर ही जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान होता है।

अस्तु शंकराचार्य के मत में जगत् विज्ञान-वाद के समान केवल मानसिक कल्पना अथवा स्वप्न मात्र नहीं है और न वह शश-शृङ्ग अथवा आकाश-कुसुम की भाँति असत् अथवा शून्य है। विज्ञान-वाद का खण्डन करते हुए शंकराचार्य ने जगत् की व्यावहारिक सत्ता और स्वाप्निक सृष्टि से भेद का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। इस प्रसंग में उन्होंने व्यवहार कोटि से भिन्न एक तृतीय प्रातिभासिक सत्ता की कोटि का निर्देश किया है। जाग्रत और व्यावहारिक अनुभव के पदार्थों की बाह्य सत्ता अनुभव-सिद्ध है। व्यवहार में अर्थ और ज्ञान का भेद स्पष्ट है। अतः व्यावहारिक विषय विज्ञान मात्र नहीं है। स्वप्न के विषयों की भाँति जाग्रत व्यवहार के विषयों का सहसा बाध नहीं होता। शश-शृङ्ग और आकाश-कुसुम की तो स्वप्न में भी उपलब्धि नहीं होती। अतः प्रत्यक्ष व्यवहार में प्राप्त होने के कारण जगत् की सत्ता स्वप्न, विज्ञान, असत् अथवा शून्य से भिन्न है। जगत् असत् अथवा प्रातिभासिक सत्य से भिन्न एक व्यावहारिक सत्य है। किन्तु वह नितान्त निर्बाध नहीं। त्रिकालाबाधित नित्य सत्य के अर्थ में जगत् सत्य नहीं है। यद्यपि स्वप्न की भाँति उसका सहसा बाध नहीं होता, किन्तु अन्ततः परमार्थ ज्ञान अथवा मोक्ष की अवस्था में उसका बाध होता ही है। अस्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्रातिभासिक स्वप्न-सत्ता मिथ्या है और पारमार्थिक दृष्टि से व्यावहारिक जाग्रत जगत् की सत्ता मिथ्या है। अन्ततः तर्क-दृष्टि से दोनों के मिथ्यात्व की कोटि में क्या अन्तर है यह कहना कठिन है। कोई कठोर तार्किक जीवन और जगत् को एक जाग्रत तथा चिरस्थायी स्वप्न कह सकता है। अतः सत्य का यह कोटि-भेद लोक-जीवन की व्यावहारिक दृष्टि

से ही मान्य है। अधिक स्थायी तथा मोक्ष के पूर्व अनिवार्य रूप से अपेक्षित होने के कारण व्यवहार को सत्य के कोटि-विभाग का माप-दण्ड मानना उचित भी है।

अस्तु, व्यावहारिक दृष्टि से सत्य होते हुए भी पारमार्थिक दृष्टि से जगत् मिथ्या है। किन्तु इस मिथ्यात्व का अर्थ यह नहीं कि जगत् शून्य अथवा निराधार प्रतिभास मात्र है। स्वाप्निक अथवा जाग्रत प्रतिभास की अपेक्षा अधिक स्थायी और विलम्बित बाध होने के कारण ही जगत् प्रतिभास से भिन्न नहीं है। सिद्धान्त दृष्टि से दोनों का समान रूप से बाध होने पर भी दोनों के आधार में भेद है। शंकराचार्य के अनुसार रज्जु-सर्प, मृग-तृष्णा आदि के प्रतिभास भी निरास्पद नहीं है। स्वप्न का भी जाग्रत विषयों में आधार है। प्रतिभास के मिथ्या होने पर भी उसका आधार सत्य है। व्यवहार जगत् स्वप्न और जाग्रत प्रतिभास का आधार है। व्यवहार जगत् का आधार साक्षात् पर-ब्रह्म है जो नित्य निर्बाध सत्य है। जगत् के कारण रूप से ब्रह्म को जगत् का आधार माना गया है। ब्रह्म जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म अखिलसत्ता-स्वरूप है। उसके अतिरिक्त और उससे पृथक् किसी अन्य पदार्थ की सत्ता नहीं है जो जगत् का उपादान बन सके। उसके अतिरिक्त अन्य किसी सत्य की सत्ता नहीं है जो विश्व के निर्माण का निमित्त बन सके। अतः सच्चिदानन्द, निर्गुण, निर्विकार ब्रह्म ही जगत् का कारण है। किन्तु ब्रह्म जगत का 'परिणामी' कारण नहीं है, वह विश्व का 'विवर्त्त' कारण है। अविकार्य ब्रह्म का परिणाम सम्भव नहीं है। अतः वह रज्जु में सर्प के प्रतिभास के समान विश्व के विवर्त्त का अविकृत आधार है। जिस प्रकार कारण से भिन्न कार्य की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् जगत् की सत्ता भी सम्भव नहीं। अस्तु सत्ता के अर्थ में जगत् ब्रह्म का विवर्त्त-कार्य है। सृष्टि के अर्थ में जगत् ईश्वर की रचना है। माया से उपहित ब्रह्म ही ईश्वर है, वह अपनी अद्भुत

माया-शक्ति से इस अनन्त-रहस्य मय विश्व की सृष्टि करता है। ऐन्द्रजालिक के समान ईश्वर भी अपनी माया से स्वयं विमोहित नहीं होता। ईश्वर के लिए सृष्टि एक लीला मात्र है लीला की भाँति ही वह ईश्वर की विभूति की अनायास अभिव्यक्ति है।

रामानुज के मत में माया के लिए स्थान नहीं है। विशिष्टाद्वैत मत में सत्य की एक ही कोटि और सत्य का एक ही दृष्टि कोण माना गया है। रामानुज मत एक कठोर यथार्थवाद है। इसके अनुसार ज्ञान का सम्पूर्ण विषय-जात सत्य है। प्रत्यक्ष उपलब्ध होने के कारण जीव और जगत सत्य हैं। उनकी नित्य और पारमार्थिक सत्ता है यद्यपि वे स्वतन्त्र नहीं हैं। ब्रह्म के आधीन होने पर भी और ब्रह्म से सदा अविभक्त रहने पर भी उनकी विविक्त सत्ता है। रामानुज का ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष चिन्मात्र नहीं वरन् वह सगुण परमेश्वर हैं। यह परमेश्वर ही परमब्रह्म है, वह अपर-ब्रह्म नहीं। जगत् इसी वास्तविक ईश्वर की वास्तविक सृष्टि है; वह माया अथवा इन्द्रजाल नहीं। परमेश्वर जगत् की आत्मा और उसका अन्तर्यामी है। जगत् उसका शरीर है। ईश्वर और जगत् का प्रकार-प्रकारी अथवा शेष-शेषी भाव है। जगत् ईश्वर का प्रकार है और उसका ईश्वर से नित्य अपृथक् सम्बन्ध है, तादात्म्य भाव नहीं। अस्तु, विशिष्टाद्वैत मत में जगत् ईश्वर का अपृथक्-सिद्ध-विशेषण है। ईश्वर से अपृथक् रूप से जगत् की सनातन सत्ता है। उसका अस्तित्व स्वतन्त्र नहीं किन्तु उसकी सत्ता विविक्त है। किसी भी अवस्था में जगत की सत्ता का बाध नहीं होता। मोक्ष की अवस्था में न जीव का ब्रह्म से तादात्म्य होता है और न विश्व का स्वप्न के समान विलय। जगत् एक विलम्बित माया का स्वप्न नहीं है वरन् यह एक सनातन और अबाध सत्ता है। विश्व मिथ्या विक्षेप नहीं वरन् वास्तविक ईश्वर की वास्तविक सृष्टि है।

६—जीव और आत्मा—

जीव के स्वरूप और स्थान के विषय में शंकराचार्य और रामानुज में मौलिक मतभेद है। जीव एक चेतन तत्त्व है और हमारे अनुभव का आधार है। सामान्यतः जीव को ज्ञान का विषयी माना जाता है। चैतन्यमय जीव समस्त ज्ञान-विषयों का ज्ञाता है। रामानुज के अनुसार समस्त ज्ञान विषय और विषयी के सम्बन्ध पूर्वक होता है। इस सम्बन्ध के बिना ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती। अतएव जीव ज्ञान का विषयी है और चैतन्य उसका उसका गुण है। जीव और चैतन्य का सम्बन्ध द्रव्य-गुण के सम्बन्ध के समान ही अपृथक् सम्बन्ध है। शंकराचार्य के अनुसार विषय और विषयी का भेद व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से विषय और विषयी का भेद अद्वैत मत में मान्य नहीं है। अद्वैतवाद के अनुसार निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म ही सत्य है। यह ब्रह्म चिन्मात्र है। उपनिषदों में उसे 'प्रज्ञानघन' कहा है। चैतन्य उस ब्रह्म का स्वरूप और सार है, लक्षण अथवा गुण नहीं। ब्रह्म कोई द्रव्य नहीं है जिसका चैतन्य गुण अथवा धर्म हो। ब्रह्म चैतन्य-स्वरूप ही है। वह ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञाता नहीं, क्योंकि उसके अतिरिक्त कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है जो उसका विषय बन सके। अतएव ब्रह्म-ज्ञान को ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की त्रिविध कोटि से अतीत 'केवल ज्ञान' माना है। जीव वस्तुतः ब्रह्म-स्वरूप ही है। ब्रह्म जीव का अन्ततम सत्य है। अतः जीव भी चैतन्य स्वरूप ही है, ज्ञान का ज्ञाता अथवा विषयी नहीं। जीव के इस निर्विशेष चैतन्य स्वरूप का नाम आत्मा है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। इसके अतिरिक्त विषय और विषयी के सम्बन्ध-ज्ञान का भी आधार समस्त सम्बन्धों से परे एक सम्बन्ध-हीन निर्विशेष चैतन्य तत्व मानना होगा। अस्तु शंकराचार्य के अनुसार जीव का मूल स्वरूप निर्विषय और निर्विशेष चैतन्य है।

मनुष्य के देह में निहित यह चैतन्य सामान्य अनुभव में सीमित तीत होता है। मनुष्य की चेतना असीम और अनन्त नहीं है। वह

सब कुछ जानने में समर्थ नहीं है। उसके ज्ञान का क्षेत्र सीमित है और उसकी ज्ञान शक्ति भी सीमित है। किन्तु शंकराचार्य के अनुसार जीव का यह परिच्छिन्न रूप उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। वस्तुतः जीव ब्रह्म-स्वरूप है। जीव का अन्तर्गत आत्म-स्वरूप वस्तुतः ब्रह्म ही है। आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य है। ब्रह्म अनन्त और अनवच्छिन्न चैतन्य स्वरूप है। अतः अपने मूल रूप में जीव भी अनन्त चैतन्य स्वरूप है। जीव के परिच्छेद का कारण अविद्या-जनित उपाधियाँ हैं। उपाधि-परिच्छेद के कारण जीव का चैतन्य सीमित प्रतीत होता है। चैतन्य के अतिरिक्त आनन्द भी आत्मा का स्वरूप है। व्यवहार में चैतन्य की भांति जीव का आनन्द भी परिच्छिन्न प्रतीत होता है। किन्तु अद्वैत मत में अन्ततः न जीव परिच्छिन्न है और न उसका ज्ञान अथवा आनन्द ही सीमित है। पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञान की भांति जीव का आनन्द भी असीम है। ज्ञान और आनन्द दोनों में जीव अर्थात् उसका अन्तरात्मा ब्रह्म-वत् असीम और अपरिच्छिन्न है। वस्तुतः जीव सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप ही है। ब्रह्म के समान ही वह शाश्वत सत्ता, असीम ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वरूप है। ज्ञान और आनन्द उसके गुण अथवा धर्म नहीं वरन् स्वरूप अथवा सार हैं।

यह स्मरणीय है कि असीम ज्ञान और अनन्त आनन्द जीव (आत्मा) का शक्य अथवा सम्भाव्य स्वरूप नहीं वरन् उसका वास्तविक स्वरूप है। यह नहीं है कि जीव साधना द्वारा असीम ज्ञान और अनन्त आनन्द-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उसका यह वास्तविक स्वरूप उसका नित्य स्वरूप है; यद्यपि व्यवहार काल में वह अज्ञान तथा अविद्या के आवरण से आच्छन्न रहता है। सत्य-ज्ञान द्वारा अविद्या का आवरण दूर किया जा सकता है। आत्म-ज्ञान से जीव का अज्ञान निवारित होता है और आत्म-ज्ञान प्राप्त होने पर निर्मेघ नभ में सूर्य की भांति आत्मा का स्वरूप प्रभासित होता है। आत्मानुभव होने पर जीव को अपने असीम चैतन्य और अनन्त आनन्द स्वरूप का

साक्षात्कार होता है। अस्तु, शंकराचार्य के अनुसार जीव का पृथक् अस्तित्व और उसका परिच्छिन्न रूप चरम सत्य नहीं है। आत्म-ज्ञान की अवस्था में जीव का पृथक अस्तित्व और उसका परिच्छेद ब्रह्म की अनन्तता में विलीन हो जाता है अथवा उसका परिच्छिन्न व्यक्तित्व ब्रह्म की अनन्तता से तद्रूप हो जाता है।

अविद्या की जिस उपाधि के परिच्छेद से अनन्त ब्रह्म जीवत्व को प्राप्त होता है उसे 'अन्तःकरण' कहते हैं। प्रत्येक जीव के साथ एक अन्तःकरण की उपाधि रहती है जो उसके परिच्छेद का कारण है। अन्तःकरण से युक्त होकर ही आत्मा का निर्विशेष चैतन्य ज्ञाता का रूप ग्रहण करता है और विषय-ज्ञान का विषयी बनता है। अविद्या के अंशभूत रजोगुण के द्वारा जीव कर्त्ता तथा भोक्ता बनता है। अविद्या-मूलक अहंकार जीव के कर्तृत्व भाव का कारण है। अहंकार से विमूढ़ होकर ही जीव अपने को कर्त्ता मानता है। कर्तृत्व भावना के कारण वह अपने कृत कर्म के फल का भागी बन कर उसका भोक्ता बनता है। इस कर्म-फल के भोग के लिये ही वह जन्म परम्परा में संसरण करता है। यह संसरण क्रम ही जीव का बन्धन है। इस बन्धन का मूल अविद्या है। ज्ञान द्वारा उसका निवारण करके जीव इस बन्धन से मुक्त हो सकता है। आत्म-ज्ञान द्वारा वह अपने असीम ज्ञान और अनन्त आनन्दमय स्वरूप का लाभ कर सकता है। ज्ञान द्वारा जीव अपनी ब्रह्मात्मकता का अनुभव कर सकता है।

रामानुज के अनुसार जीव और ब्रह्म दो विविक्त सत्ताएं हैं। विविक्त होने के साथ साथ जीव और ब्रह्म दोनों ही चरम सत्य हैं यद्यपि दोनों समान रूप से स्वतन्त्र नहीं हैं। यद्यपि चैतन्य जीव और ब्रह्म दोनों का समान धर्म है, दोनों के चैतन्य की सीमा में भेद है। ब्रह्म अथवा ईश्वर का चैतन्य असीम है, जीव का चैतन्य सीमित है। जीव चेतन होते हुये भी अणु है। जीव का सीमित चैतन्य और परिच्छिन्न व्यक्तित्व अविद्या-जनित भ्रान्ति नहीं वरन् एक वास्तविक

तथ्य है। जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य नहीं है। वह ब्रह्म स्वरूप नहीं वरन् ईश्वर का एक ंश है। जीव ईश्वर के अनन्त आलोक की एक रश्मि मात्र है। वह परमेश्वर की चैतन्य ज्वाला का एक प्रदीप्त स्फुलिङ्ग मात्र है। किन्तु ईश्वर से विविक्त सत्तावान् होते हुये भी जीव का पृथक् अस्तित्व नहीं है। जीव और जगत दोनों ही ब्रह्म के अपृथक्-सिद्ध-विशेषण हैं। उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं हैं, वे ईश्वर के आधीन हैं। ईश्वर अन्तर्यामी है और वही जीव के कर्मों का प्रेरक तथा वास्तविक कर्ता है। अतएव अहंकार, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि के बन्धन से मुक्ति ईश्वरानुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है, ज्ञान से नहीं।

अस्तु, रामानुज के अनुसार जीव ईश्वर से भिन्न एक विविक्त-सत्तावान् तत्व है। ईश्वर से उसका भेद नित्य है। उनका न ईश्वर से तादात्म्य है और न अन्त में वह उस तादात्म्य की प्राप्ति कर सकता है। रामानुज के अनुसार मोक्ष ब्रह्म के साथ तादात्म्य नहीं वरन् ईश्वर की प्राप्ति है। रामानुज के इस मोक्ष में जीव के व्यक्तित्व और उसकी विविक्त सत्ता का विलय नहीं होता और न वे ब्रह्म के अनन्त स्वरूप से तद्रूप हो जाते हैं। ब्रह्म और जीव का भेद एक पारमार्थिक भेद है जो मोक्षावास्था में भी वर्तमान रहता है। इस भेद के आधार पर ही उपास्य और उपासक का भेद तथा भक्त और भगवान का सम्बंध सम्भव है, जो रामानुज मत का प्रमुख सिद्धान्त है।

७—मोक्ष और उसके साधन

भारतीय दर्शन में मोक्ष को जीव का परमार्थ माना गया है। मोक्ष के सिद्धान्त को सामान्य रूप से स्वीकार करते हुये भी प्रत्येक दर्शन की मोक्ष-विषयक कल्पना भिन्न है। अस्तु शङ्कराचार्य और रामानुज के अद्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत मतों में भी मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों का विधान भिन्न भिन्न रूप से किया गया है। अद्वैतवाद के अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्म ही

परम सत्य है। जीव और जगत् की प्रतीति का कारण अविद्या है। यह ब्रह्म ही जीव का वास्तविक स्वरूप है। अपने इस ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार ही मोक्ष कहलाता है। अविद्या के कारण ज्ञान और आनन्द में परिच्छिन्न जीव के असीम ज्ञान और अनन्त आनन्द-मय स्वरूप के अनुभव की ही मोक्ष संज्ञा है। जीव अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होने के कारण मोक्ष आत्मानुभव भी कहा जाता है। आत्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य होने के कारण यह ब्रह्मानुभव भी कहलाता है। ज्ञान और आनन्द के परिच्छेद की अवस्था में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की भावनाओं से परिबद्ध जन्म-चक्र की परम्परा में संसरण-शील जीव का व्यवहार-जीवन आत्मा का बन्धन कहलाता है। परिच्छेद का मूल होने के कारण अविद्या ही इस बन्धन का मूल कारण है; अतः विद्या अथवा ज्ञान द्वारा ही उसका उच्छेद हो सकता है। इसके अतिरिक्त आत्म-तत्व का अनुभव किसी बाह्य वस्तु की प्राप्ति नहीं है वरन् अपने अन्तर्निहित अन्तर्गत सत्य का साक्षात्कार है। अतः कोई बाह्य साधन उसमें उपादेय नहीं हो सकते। हम अपने अन्तर्निहित सत्य का साक्षात्कार ज्ञान द्वारा ही कर सकते हैं। आत्मा चैतन्य-स्वरूप है। वह समस्त ज्ञान और व्यवहार का आधार है। अतः जो सबका ज्ञाता है उसका ज्ञाता कौन हो सकता है। अस्तु आत्मानुभव का साधन स्वयं आत्मा ही है। आत्मा हमारा वास्तविक स्वरूप है; स्वरूपानुभव के लिए किसी साधनान्तर की अपेक्षा नहीं होती। अस्तु आत्मानुभव केवल आत्मा द्वारा ही सम्भव है और ज्ञान उसका एक मात्र साधन है।

मोक्ष के केवल ज्ञान द्वारा साध्य होने के कारण अन्य सब साधनों की व्यर्थता की आपत्ति होती है। यदि मोक्ष ज्ञान द्वारा ही साध्य है तो अन्य सब साधन व्यर्थ हैं। कर्म, योग, भक्ति आदि का अद्वैत वेदान्त में कोई उपयोग नहीं है और न उनका कोई स्थान है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। यद्यपि तार्किक कठिनाइयों के कारण शंकराचार्य

ने ज्ञान को ही मोक्ष का साक्षात् कारण माना है और अन्य साधनों को केवल सहकारी कारणों का स्थान दिया है, किन्तु अन्य साधनों के महत्व और उपयोग को उन्होंने स्वीकार किया है। यद्यपि ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है, किन्तु यह ज्ञान सुलभ नहीं है। वेदान्त के ज्ञान का अर्थ बौद्धिक बोध नहीं वरन् आत्मिक अनुभव है। बौद्धिक बोध विषय और विषयी के सम्बन्ध-जन्य है। आत्मिक अनुभव हमारे अन्तर्निहित चैतन्य तत्व का अपरोक्ष अन्तर्ज्ञान है। अतः यह आत्मा का स्वरूप-बोध है जो आत्मा द्वारा ही साध्य है। मोक्ष का साक्षात् कारण-भूत ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ होने के कारण उस ज्ञान को सम्भव बनाने के लिए अन्य साधन अपेक्षित हैं। ये साधन आत्म-संस्कार, सत्य-शुद्धि, कर्म-क्षय, चित्त-प्रसाद आदि के द्वारा आत्म ज्ञान के अनुकूल आध्यात्मिक परिस्थिति की सृष्टि करते हैं। अस्तु मोक्ष के साक्षात् कारण न होते हुए भी ज्ञान के आरात् उपकारक होने के कारण सभी साधन मोक्ष के लिये अपेक्षित हैं। इस अपेक्षा में ही उनका महत्व है।

मोक्ष एक नित्य सत्य का साक्षात्कार है। ब्रह्म जो हमारी आत्मा का सार और स्वरूप है एक नित्य तत्व है। अतः किसी कालावच्छिन्न प्रक्रिया के द्वारा उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं। कर्म एक कालावच्छिन्न प्रक्रिया है। नित्यता एक कालातीत तत्व है। कालावच्छिन्न प्रक्रिया का साध्य अनित्य होता है। अतः कालावच्छिन्न कर्म द्वारा नित्य ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव नहीं। अनित्य साधन नित्य साध्य का साधक नहीं बन सकता। किन्तु निष्काम भाव से कर्म करने से सञ्चित कर्म-फल का क्षय और सत्व-शुद्धि होती है। कर्म की भांति योग भी आत्म-शुद्धि का अत्यन्त उपयोगी साधन है। भक्ति में भक्त और भगवान का, उपास्य और उपासक का भेद अभिप्रेत है जिसके लिये अद्वैत मत में अन्ततः स्थान नहीं है। किन्तु सगुण परमेश्वर की उपासना से जो आत्म-संस्कार और चित्त-प्रसाद प्राप्त होता है वह अद्वैत साधना में

भी अत्यन्त उपयोगी है। परमेश्वर की उपासना के फल स्वरूप ब्रह्म-लोकादि की प्राप्ति भी मोक्ष में सहायक है। इसके अतिरिक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन की त्रिविध साधन-परम्परा वेदान्त मत में प्रख्यात है। ब्रह्म-निष्ठ गुरु के मुख से श्रुति-निहित आत्म-तत्व की दीक्षा वेदान्त-साधना का प्रथम चरण है। गुरु-मुख से श्रुत तत्व का मनन द्वारा बुद्धि में निधान होता है। निदिध्यासन द्वारा बुद्धि-निहित तत्व का विश्वास साक्षात् आत्मिक अनुभव के रूप में परिणत होता है। यही आत्मानुभव मोक्ष है। यह अनुभव जीवन काल में भी प्राप्य है। मोक्ष का जीवन से कोई विरोध नहीं है। जीवन काल में प्राप्त होने वाले मोक्ष को जीवन्मुक्ति कहते हैं। मोक्ष अनन्त आनन्द और अक्षय शान्ति की अवस्था है जिसका जीवन के व्यवहार कर्म से कोई असामञ्जस्य नहीं है। मरण एक प्राकृतिक घटना है जिसके प्राप्त होने पर जीवन्मुक्त विदेह-मुक्त हो जाता है।

रामानुज के अनुसार मोक्ष ब्रह्म के साथ आत्मा के तादात्म्य का अनुभव नहीं है। विशिष्टाद्वैत मत में जीव को ब्रह्म का अंश माना गया है। जीव की स्वतन्त्र सत्ता तथा पृथक् अस्तित्व नहीं है, किन्तु वह ब्रह्म अथवा परमेश्वर से भिन्न एक विविक्त तत्व है। अतः ब्रह्म-लोक अथवा परमेश्वर की प्राप्ति जीव का परम लक्ष्य है और यही उसका मोक्ष है। आत्मानुभव रूप न होने के कारण यह मोक्ष ज्ञान द्वारा साध्य नहीं है। परमेश्वर की प्राप्ति का साधन उसकी प्रीति-पूर्वक भक्ति तथा उपासना है। किन्तु ज्ञान इस भक्ति का सहकारी हो सकता है। परमेश्वर के दिव्य गुणों के ज्ञान से उसके प्रति भक्ति उत्पन्न हो सकती है। ज्ञान-मूलक भक्ति दृढ़ होती है। रामानुज मत में यह भक्ति ही मोक्ष का परम साधन है। इसके अतिक्ति प्रपत्ति और ईश्वरा-नुग्रह का भी विशिष्टाद्वैत मत में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रवण और निष्काम कर्म द्वारा सत्व-शुद्धि को रामानुज ने ईश्वरानुग्रह की योग्यता की प्राप्ति का साधन माना है, किन्तु प्रपत्ति इसका परम साधन

है। प्रपत्ति का अर्थ शरणागति है। सब कुछ छोड़कर एक मात्र ईश्वर का आश्रय ग्रहण करना पूर्ण प्रपत्ति है। प्रपत्ति से परमेश्वर का प्रसाद और उसकी भक्ति प्राप्त होती है और भक्ति से मोक्ष-लाभ होता है। मोक्ष में जीव को ईश्वर का सादृश्य प्राप्त होता है किन्तु तादात्म्य नहीं। उसे सच्चिदानन्द परमेश्वर के समान अनन्त ज्ञान और आनन्द प्राप्त हो जाता है। किन्तु उसकी शक्ति और सत्ता सीमित रहती है। जीव स्वरूप से अणु है। मोक्ष काल में भी वह यद्यपि ज्ञान में अनन्त किन्तु आकार में अणु रहता है। उसकी शक्ति का विकास होता है, किन्तु वह असीम नहीं होती। जगद्व्यापार अर्थात् विश्व का सृजन और शासन परमेश्वर का एकाधिकार है। जीव को मोक्ष में भी उसका अधिकार नहीं मिलता। यह मोक्ष जीवन काल में सम्भव नहीं। अतः रामानुज मत में केवल विदेह-मुक्ति ही मान्य है।

श्री शंकराचार्य का आचार-दर्शन

लेखक

डॉ० रामानन्द तिवारी शास्त्री,

एम० ए०; डी० फ़िल् (प्रयाग)

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल्० की उपाधि के लिये स्वीकृत निबन्ध का स्वयं लेखक द्वारा किया हुआ हिन्दी रूपान्तर है। इसमें उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर श्री शंकराचार्य द्वारा रचित भाष्यों के आधार पर वेदान्त के एक प्राय: उपेक्षित अंग आचार-दर्शन का सांगोपांग विवेचन किया गया है। जीवन और कर्म के साथ वेदान्त-तत्व के समन्वय की चेष्टा इस ग्रन्थ की विशेषता है। उपसंहार में विश्व-शांति की समस्या के प्रसंग में वेदान्तिक दिग्दर्शन का भी निर्देश किया गया है। डालमिया, उत्तर-प्रदेशीय सरकार आदि के प्रसिद्ध पुरस्कारों से तिरस्कृत यह अध्ययन और विचार पूर्ण ग्रन्थ वेदान्त के विद्वानों को रुचिकर तथा विद्यार्थियों को उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग